

# चौमासा

वर्ष-27 अंक-83  
जुलाई-अक्टूबर, 2010

सम्पादक  
कपिल तिवारी

सहायक सम्पादक  
अशोक मिश्र



आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी  
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल का प्रकाशन

© स्वत्वाधिकार सुरक्षित

### सम्पर्क

आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी,  
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्  
मुल्ला रमूजी संस्कृति भवन, आधार तल,  
बाणगंगा, भोपाल-462003  
फोन/ फैंक्स : 0755-2551878, 27060668  
E-mail : mplokkala@rediffmail.com



### मूल्य

एक प्रति बीस रूपये  
वार्षिक पचास रूपये  
आजीवन सदस्यता पन्द्रह सौ रूपये  
चौमासा का वार्षिक शुल्क अनुषंग पुस्तिका के साथ सौ रूपये

### प्रचार/प्रसार

श्रीमती उर्मिला पारखे, प्रवीण गावण्डे

### शब्दांकन

आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी  
मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्

### आवरण

कोरकू जनजातीय चित्रांकन, अकादमी के संकलन से

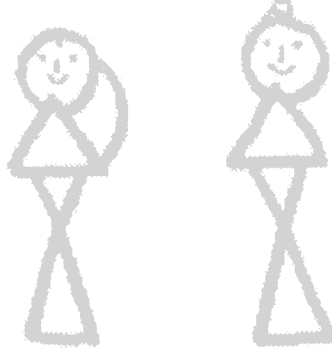
### मुद्रण

शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, भोपाल

- चौमासा में प्रकाशित सामग्री लेखकों के अपने कार्य और विचार हैं। आवश्यक नहीं कि अकादमी उससे सहमत हो।
- पत्रिका और प्रकाशन से संबंधित समस्त विवादों का न्यायालयीन कार्यक्षेत्र भोपाल रहेगा।

डॉ. कपिल तिवारी, निदेशक, आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, भोपाल सम्पादक, मुद्रक, प्रकाशक द्वारा शासकीय केन्द्रीय मुद्रणालय, मैदा मिल, भोपाल से मुद्रित कराकर आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी, मध्यप्रदेश संस्कृति परिषद्, मुल्ला रमूजी संस्कृति भवन, आधार तल, बाणगंगा, भोपाल से प्रकाशित।

सम्पादक-डॉ. कपिल तिवारी



## इस अंक में

- गोस्वामी तुलसीदास : जन्म एवं कर्मस्थली / आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी / 5
- ब्रज की लोक संस्कृति / डॉ. राजेन्द्ररंजन चतुर्वेदी / 13
- अभिकल्प और प्रदर्शन / हकु शाह / अनुवाद - पीयूष दर्ईया / 19
- जल संसाधन और लोक / गोमती प्रसाद विकल / 27
- सौर एवं कोंदर जनजाति में गोदना / डॉ. बहादुरसिंह परमार / 36
- गोंड गाथाओं का विश्लेषण / निरंजन महावर / 43
- भिलाली गीतों में प्रेम / गजेन्द्र आर्य / 64
- भीलों के विश्वास / डॉ. रामसिंह यादव / 68
- भिलाला जनजाति / गुलाबसिंह डावर / 71
- प्रकृति और जनजाति / श्रीमती संतोष धुर्वे / 75
- महाकवि ईसुरी / डॉ. नाथूराम चौरसिया / 77
- मालवी की विकासधारा / डॉ. पूरन सहगल / 92
- सुन्दरसी की महाकाल सवारी / मायापति मिश्र / 101
- कुमाउनी भाषा का मानकीकरण / डॉ. शेरसिंह बिष्ट / 106
- रतनपुरिहा गम्मत / डॉ. विनय कुमार पाठक / 113
- छत्तीसगढ़ी विवाह गीत / डॉ. पीसीलाल यादव / 118
- पूर्वांचल में झुलनी / डॉ. रामनारायण 'मधुर' / 123
- रामकथा : आर्य या आर्येतर / डॉ. प्रतापसिंह चन्देल / 126
- धार्मिक बुंदेली गाथाएँ / डॉ. सीमा तिवारी / 130
- लोक में कबीर / डॉ. हरप्रसाद शर्मा / 138



## गोस्वामी तुलसीदास : जन्म एवं कर्मस्थली

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

अन्तः साक्ष्य यद्यपि सभी के द्वारा प्रमाणिक माना गया है, तथापि पाठभेद की संभावना जीवनवृत्त बिन्दुओं पर कहीं-कहीं नया विकल्प खड़ा कर देती है। उदाहरण के लिए डॉ. उदयशंकर दुबे ने 'सूकरखेत' का पाठभेद अनेक प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रंथों और पाण्डुलिपियों के आधार पर 'कुरुखेत' उजागर किया है और उसे धर्मक्षेत्र या कुरुक्षेत्र का तद्भव रूप बताया है। परन्तु पं. गोवर्धननाथ शुक्ल तथा पं. रमापतिजी शुक्ल तथा अन्यो ने अवध-क्षेत्र के स्थानीय प्रयोगों की जो सूची दी है-उससे हरियाणा क्षेत्र का 'कुरुखेत' वाला विकल्प निरस्त हो जाता है। संभव है दुबेजी ने जिन प्रतियों का उल्लेख किया है वे एक ही समान परिवार की प्रतियाँ हैं। इस तरह पाठ 'सूकरखेत' ही रह जाता है-पर 'सूकरखेत' भी अब कई खोज लिए गए हैं। एक पक्ष तो 'सोरो' का ही है-जो भाषा विज्ञान की दृष्टि से सूकरखेत का तद्भव नहीं हो सकता, दूसरे पं. गोवर्धननाथ शुक्ल तथा दिल्ली वाली संगोष्ठी में आचार्य पं. विश्वनाथ मिश्र ने सब तरह से उसे निरस्त कर दिया है।

यों तो तुलसी जन्मभूमि के नाम पर पिछले प्रयासों द्वारा प्रायः दर्जन भर नामों का संदर्भ आता है-पर जाँच-परख के बाद विचारार्थ दो ही स्थान शेष रह जाते हैं-बाँदा का राजापुर और गोण्डा का पसका के पास वाला राजापुर।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने गोण्डा वाले पक्ष को नजरअन्दाज नहीं किया है-पर बाँदा वाले राजापुर के संबंध में उनका पक्ष इस प्रकार है-भक्त लोग अपने को जन्म-जन्मान्तर से अपने आराध्य इष्ट देव का सेवक मानते हैं, इसी भावना के अनुसार तुलसी और सूर दोनों ने कथा प्रसंग के भीतर अपने को गुप्त या प्रकट ढंग से राम और कृष्ण के समीप तक पहुँचाया है। जिस स्थान पर ऐसा हुआ है, वहाँ कवि के निवास स्थान का पूरा संकेत भी है। रामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड में वह स्थल भी देखिए, जहाँ प्रयाग से चित्रकूट जाते हुए राम यमुना पार करते हैं और भारद्वाज के द्वारा साथ लगाए हुए शिष्यों को विदा करते हैं। राम-सीता तट के लोगों से बात करते ही है कि-

तेहि अवसर एक तापस आवा।  
तेजपुंज लघु वयस सुहावा।।  
कवि अलखित गति वेषु विरागी।  
मन क्रम वचन राम अनुरागी।।  
सजल नयन तन पुलक निज इष्ट देउ पहिचानि।  
परेउ दण्ड जिमि धरनि तल दसा न जाइ बखानि।।  
राम सप्रेम पुलकि उर लावा।  
परम रंकु जनुपारस पावा।।  
मनहुँ प्रेम परमारथ दोऊ।  
मिलत धरे तन कह सब कोऊ।।

यह तापस एकाएक आता है, कब जाता है, कौन है-

इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं है। बात यह है कि इस ढंग से कवि ने अपने को तापस रूप में राम के पास पहुँचाया है और ठीक इसी प्रदेश में जहाँ के वे निवासी थे- अर्थात् राजापुर के पास। सबका सारांश यह कि तुलसीदास का जन्मस्थान, जो राजापुर शताब्दियों से प्रसिद्ध चला आ रहा है-वही ठीक है। (हिन्दी साहित्य का इतिहास, सं. 2029, पृष्ठ 91 शुक्लजी इसके पक्ष में स्थानीय प्रयोगों की बात भी करते हैं।

इस मान्यता के विकल्प में कई प्रतिपक्ष आते हैं। श्री शंभुनाथ चौबे इसे प्रक्षिप्त मानते हैं। जिन्होंने प्रक्षिप्त नहीं भी माना, वे शुक्लजी से सहमत नहीं हैं। पं. सीताराम चतुर्वेदी का पक्ष है कि यह तापस सनत्कुमार हैं। पं. गोवर्धननाथ शुक्ल इनसे असहमत होकर कई संभावनाएँ रखते हैं और पहले तो उसके क्षेपक मानने वाले पक्ष को निरस्त करते हैं। अग्रिपरक पक्ष से भी वे असहमत हैं। उनका मानना है कि प्रक्षिप्त कथाओं के संकेत जहाँ मूल प्रवाह में सन्निहित रहते हैं-वहाँ क्षेपकों की गुंजाइश रहती है- अन्यथा क्षेपक एकदम कथा प्रवाह में नहीं आते। तापस प्रसंग का कोई पूर्व-संकेत नहीं

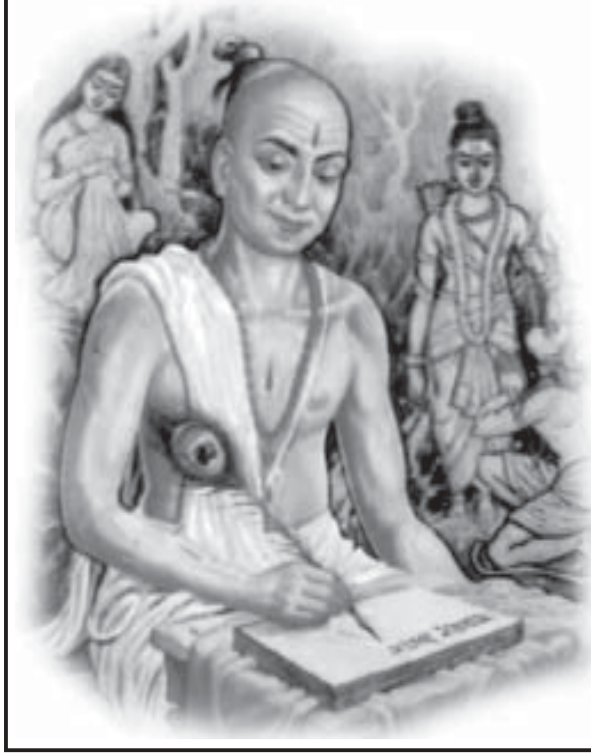
है। यह प्रसंग गोस्वामीजी की अपनी नाटकीय शैली में आया है।

शुक्लजी अपना पक्ष रखने के पूर्व दो विकल्प रखते हैं- पहला यह कि अंश क्षेपक है? और दूसरा यह कि क्या वह मौलिक है? विचारपूर्वक तय यह होता है कि यह प्रसंग अयोध्याकाण्ड के कथाप्रवाह के अंतर्गत मूल प्रसंग है और महाकाव्य की पौराणिक शैली के अन्तर्गत है। अनेक राम रहस्यों के भीतर इस प्रसंग को भलीभाँति सन्निविष्ट किया जा सकता है। शुक्लजी की मान्यता है कि तापस स्वयम् भगवान शंकर हैं, जो लीलावपुधारी अपने इष्टदेव से मिलने आए और उनके पथिक वेष को देखकर मुग्ध हो गए। सम्पूर्ण अयोध्याकाण्ड में उनकी अभिव्यक्ति का वही पावन स्थल है, जहाँ वे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष

रूप से दुर्लभ रामरूप पीयूष का पान करते रह जाते हैं और कथा प्रवाह अपनी अविराम सरणि पर चलता चला जाता है।

तापस तुलसीदास स्वयम् हैं, सनत्कुमार हैं या अग्रिदेव हैं-इन सबसे असहमत होकर शुक्लजी का पक्ष ऊपर रखा गया है। अपने पक्ष की पुष्टि में उन्होंने दो तर्क मुख्य रूप दिए हैं। एक तो यह कि शिव ही उनके दीक्षा गुरु है। नरहरि विद्या गुरु हो सकते हैं-इसलिए नरहरि को लेकर जन्मस्थान तय करना ठीक नहीं। उनका पक्ष है कि मानस गुरु तो शिव ही हैं-तभी तुलसी की यह उक्ति संगत होगी-'पुनि निज गुरु सन'। सोरों तुलसी का सूकरखेत हो या न हो,

पर उस पक्ष के खण्डन में यहाँ तक कह जाना 'नर रूप हरि' जो मानव (नर) है-उनसे उनका कोई संबंध ही नहीं है-सर्वथा ग्राह्य नहीं लगता। यह सही है कि गुरु का औघत्रय है-सिद्धौघ, दिव्यौघ और मानवौघ। शुकदेव चरणदास के गुरु थे-उन्होंने स्वप्न में दीक्षा दी थी। कविराज गोपीनाथ के गुरु विशुद्धानन्द को ज्ञानगंज के किसी सिद्ध ने दीक्षा दी थी और स्वयम् भगवान कृष्ण को मानव सांदिपनि ने दीक्षा दी थी। गीताकार स्वयम् अर्जुन से कहता है-



ज्ञानी और तत्त्वदर्शी मानव ही तत्त्वबोध के लिए तुम्हें दीक्षा देंगे।  
स्वयम् तुलसीदास कहते हैं-

*गुरुबिनु भवनिधि तरङ्ग न कोई।  
जो विरंचि संकर सम होई॥*

यह सही है कि शिव के प्रति, हनुमान के प्रति मानसकार की अगाध निष्ठा है-पर इससे इस निष्कर्ष तक पहुँचना-'सोरों सामग्री वालों का यह दावा कि वहाँ के किन्हीं नरहर्यानन्द से उन्होंने रामकथा सुनी थी-एक बड़ा भ्रमजाल है'- सर्वथा चिन्त्य है। नरहर्यानन्द वहाँ के न हों-कहीं और के भी हो सकते हैं-पर उन्हें तुलसी से काटकर सर्वथा अलग कर देना उचित नहीं जान पड़ता। शिवमंदिर में बैठकर हरिनाम जपने वाले शूद्र की मानव गुरुके प्रति अवमानना स्वयम् शिव को इतनी खली कि वे शाप देने पर उतारू हो गये। हो सकता है सोरों सामग्री खण्डन के भावावेश में शुक्लजी मानव गुरु के अस्तित्व पर ही प्रश्न चिन्ह लगा गए हों।

दूसरा तर्क है-श्रीमद्भागवत की शैली का अनुसंधान। शुक्लजी का स्पष्ट प्रतिवाद रामचन्द्र शुक्ल के पक्ष का है। उन्होंने कहा है कि तापस प्रक्षिप्त तो नहीं है, अब रहा यह कि या तो यह तापस राम के पथिक वेष का प्रेमी होना चाहिए अथवा वन के उस भाग का, जहाँ सीता-राम-लक्ष्मण गुजर रहे हैं अथवा कहीं आसपास का निवासी होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं है। प्रसंग से न तो उसके आसपास रहने का आभास मिलता है, न ही उसकी उपस्थिति एकदम अचानक है। गोस्वामीजी का 'तेहि अवसर' शब्द विशिष्ट अवसर का द्योतक है और वह किसी सुनियोजित नाटकीय पट-परिवर्तन का संकेत देता है। अतः मानस की प्रसंग-उपस्थापना-शैली से इस प्रसंग की उपस्थापना शैली भिन्न प्रतीत नहीं होती-अपितु मिलती-जुलती है। इसका सम्यक् समाधान जिस भागवत की शैली से होता है-सम्प्रति उसे देखना चाहिए। महापुराणों की प्रायः परम्परा रही है कि मूल प्रवाह में ऐसे रहस्यात्मक प्रसंग-जो अन्तरंग व्यक्तियों से संबंधित होते हैं-कहीं न कहीं सन्निविष्ट रहते हैं। गोस्वामीजी ने इस संदर्भ में जो आदर्श रखा है-वह श्रीमद्भागवत का है। श्रीमद्भागवत में भी श्लोक विशेष से संपुटित रहस्यमय प्रसंग रखे गए हैं और फिर विच्छिन्न कथा प्रवाह चलने लगता है। शुक्लजी का पक्ष है कि मानस के प्रत्येक काण्ड

में किसी न किसी रूप में शिव (रुद्र) विद्यमान हैं-अयोध्याकाण्ड में भी उन्हें ही तापस के रूप में लाया गया है। इस प्रकार श्री शुक्ल आचार्य शुक्ल से असहमति व्यक्त करते हैं।

श्री शुक्ल की इस प्रस्तुति में कुछ जिज्ञासाएँ उभरती हैं। पहली यह कि शिशुपा वृक्ष विश्राम से लेकर जिन नौ एकान्तिक प्रसंगों को-

*ते पितु मातु कहहु सखि कैसे,  
जिन्ह पटए वन बालक ऐसे।*

इस अर्धाली से संपुटित करके प्रस्तुत किया है-उसमें इस तापस को स्थान भेद से प्रयाग आने से पहले भी रखा जा सकता था-प्रयाग और चित्रकूट के मध्य ही क्यों रखा? स्वागत में राजापुर से चलकर वह तापस मध्य में अपने इष्टदेव भगवान राम से मिलता है। दूसरी जिज्ञासा यह है कि किष्किन्धाकाण्ड में भी रुद्रावतार हनुमान प्रभु को पहचान कर चरण गहते हैं-वहाँ सीता और लक्ष्मण विद्यमान हैं? वहाँ शिवजी लक्ष्मण के चरण क्यों नहीं गहते? निष्कर्ष यह है कि श्री शुक्ल की ओर से जब तक इन दोनों जिज्ञासाओं का समाधान नहीं मिल जाता, तब तक आचार्य शुक्ल का पक्ष यथावत् बना रहता है।

इसी लेख में श्री शुक्ल ने सोरों का खण्डन कर अपनी जो मान्यता 'तुलसी की जन्मभूमि : कोशलदेश' इस शीर्षक से प्रस्तावित की-उसमें अवश्य काफी वजन है। आचार्य शुक्ल ने भी इस पक्ष की ओर संकेत किया है और पं. चन्द्रवती पाण्डे जी ने सर्वप्रथम इस पक्ष का उपक्षेप किया था। उत्तराकाण्ड 'कवितावली' का एक कवित्त है-

*वानर विभीषण की ओर के कनावड़े हैं,  
सो प्रसंग सुनि अंग जरै अनुचर को।*

*राखे रीति अपनी जो होइ सोई कीजै वति,  
तुलसी निहारो घर जायरू (यो) है घर को॥*

इसमें स्पष्ट कह रहे हैं कि वे उनके गुलाम ही नहीं, उनके घर के घरजाया भी हैं। डॉ. माताप्रसाद गुप्त कबीर की पंक्ति उद्धृत कर इस पक्ष का विरोध करते हैं। पंक्ति है-

*कहत कबीर गुलाम घर का जिआइ भावै मरि।*

(संत कबीर-पृष्ठ 72)

पर इससे श्री शुक्ल के पक्ष में कोई बाधा नहीं है। कबीर भी अपने राम (शरीरी सद्गुरु श्री रामानन्द) से वही बात कर रहे हैं। इससे यह कहाँ स्पष्ट होता है कि कबीर भी अवध के हैं? करने-धरने वाला तो सगुण ही है-न कि गुणातीत ब्रह्म। तुलसी कहते हैं-

*अस प्रभु अछत हृदय अविकारी।  
सकल जीव जग दीन दुःखारी।।*

फिर पाण्डेजी ने एक दूसरा प्रमाण भी प्रस्तुत किया है-जयपुर नरेश सवाई प्रतापसिंह 'ब्रजनिधि' का एक ग्रंथ है-हरिपद संग्रह ब्रजनिधि ग्रंथावली में यह 'हरिपद संग्रह' संकलित है। इस संग्रह में किसी 'अनन्य' का एक पद संगृहीत है-

*कोसल देश उजागर कीनौ। सबहिन को अद्भुत रस दीनौ।।*

X X X

*सकल सखियन में सिरामनि, दास तुलसी तुम रहौ।।*

इस अनन्य माधौ का उल्लेख बेनीमाधवदास के गोसाँईचरित में भी है। तदनुसार ये भक्त और कवि होने के साथ-साथ तुलसीदास से इनकी भेंट भी थी। एक प्रमाण और। भवानीदास के 'गोसाँई चरित्र' में आया है कि गोसाँईजी की तिरहुत यात्रा में मैथिल ब्राह्मणों ने अवधवासी जानकर उनसे हँसी-मजाक भी किया था-

*तिनसे पूछ्यौ पंथ, अवधवासी पहचानै।  
दै गारी परिहास कियौ, तिन नातौ मानै।।*

पाण्डेजी तुलसी चौरा को ही तुलसी की जन्मभूमि मानते हैं-पर न तो 'गोसाँई' और न ही मोहन साँई का तुलसी चौरा वाला गीत ही इसमें सहायक सिद्ध होता है। विपरीत इसके वे घोषित करते हैं कि 'तुलसी चौरा' तुलसी की जन्मभूमि नहीं है। योगाग्रि में आत्मदाह करने वाले सिद्ध ने भी इस ओर कोई संकेत नहीं किया।

श्री शुक्लजी की कतिपय पुष्ट आधार पर यह मान्यता है कि तुलसीदास का जन्म अयोध्या में नहीं, अयोध्या के आसपास संभवतः सरयू-घाघरा के संगम स्थल पसका के पास किसी गाँव में हुआ था। इस मान्यता की पुष्टि नेपाल से प्राप्त एक (पाण्डुलिपि

या) प्राचीन पुस्तक से भी होती है। उसमें भी कहा गया है कि तुलसीदास का जन्मस्थान गोण्डा जिले के पसका क्षेत्र के राजापुर ग्राम में सरयू एवं घाघरा के संगम स्थल पर हुआ था। वहीं सूकरखेत है।

इस पक्ष की पुष्टि में अन्तःसाक्ष्य से कुछ और भी सामग्री सहायक रूप से प्राप्त होती है। सर्वप्रथम रहन-सहन, जातीयता, परिवार संबंध, रचना, भाषा तथा देशकाल की स्थिति आदि को भी, जो अन्तःसाक्ष्य से प्राप्त है-पोषक हो सकती है। अन्तःसाक्ष्य में सर्वाधिक उपयोगी भाषा से जुड़ी सामग्री है। श्री शुक्लजी तुलसी के ग्रंथों की भाषा ब्रजी और अवधी-दोनों मानते हैं-औरों की भी सहमति है-पर आचार्य पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पं. हरिहरप्रसाद द्विवेदी तथा अन्य भाषाविद् मानते हैं कि तुलसी के समय इसे 'भाखा' कहा जाता था। ब्रजी और संज्ञाएँ बाद में प्रचलित हुईं। परिवर्तित प्रचलन की आँख से देखने पर ब्रजी और अवधी के रूप में देखा जाने लगा। यदि 'मानस' की भाषा का ढाँचा देखा जाये, तो वह ब्रजी का है-शब्द अवधी के अपनी स्थानीयता की छाया से मिल सकते हैं। पूर्वी में कर्मणि प्रयोग नहीं होता, पर मानस में ऐसे प्रयोग मिलते हैं-जैसे 'मरम वचन सीता जब बोला' यहाँ क्रिया कर्मानुसारिणी है। अस्तु, शब्दों को ही देखा जाये। तीन शुक्लों-रामचन्द्र शुक्ल, पं. गोवर्धननाथ तथा पं. उमापित शुक्ल ने अवध की स्थानीयता की छाप वाली शब्दावली संगृहीत की है। ये जिस अर्थ में ग्रंथ में प्रयुक्त हैं-उन अर्थों में इसी प्रदेश में प्रचलित है। उदाहरण के लिए-चाहि (अपेक्षा), नीको (अच्छा), खोरि (दोष), जाप (व्यर्थ), सरा (चिता), गुडी (पतंग), पैंत (बाजी), गय (दाम) आदि। सोरों में जिसे नाइन कहा जाता है, तुलसी उसे नडुनियाँ कहते हैं। जहाँ तक रहन-सहन और रीति-रिवाज का संबंध है-'नहछू' को ही लें, तुलसी ने वहाँ की परिपाटी के अनुसार दर्जिन, तमोलिन, मोचिन, वरिनियाँ-आदि स्त्री वर्ग को पूरब की रिवाज के अनुसार ही नहछू संस्कार के अवसर पर रखा है। हरबा, गरबा (हार, गला) में 'बा' प्रत्यय ठेठ अवधी का है। इन चिन्तकों ने ऐसे शब्दों की लंबी सूची दी है। ये सारे प्रमाण तुलसी की जन्मस्थली अवध में ही निश्चित करते हैं। पसका वाला पक्ष ही सब तरफ से पुष्ट होता है। जिस आत्मीयता के साथ सरयूपारी तुलसी-जयन्ती मनाते हैं-वैसी आत्मीयता के साथ कनौजिया, सनाढ्य और सारस्वत उसे मनाते



हुए नहीं देखे जाते। विद्वानों ने माता-पिता, पत्नी तथा अन्य स्थानों की प्रामाणिक स्थिति अवध क्षेत्र में निर्धारित करते हैं।

## काशी की अध्यात्म-साधना

आध्यात्मिकता भारत की पहचान है और भारतीय आध्यात्मिकता की पहचान है-सर्वधर्म समभाव। प्रियदर्शी अशोक ने इसी को पहचान कर अपने शिलालेखों में 'सर्वधर्म समवाय' को रेखांकित कर उद्दत्कित करवाया था। हर्षवर्द्धन भी इसी भावना से सिक्त होकर त्रिवेणी संगम पर सभी धार्मिक सम्प्रदायों का समभाव से सम्मान करता था। भारतीय आध्यात्मिकता केवल शास्त्र-निर्धारित मान्यताओं और ऐतिहासिक महापुरुषों के उपदेशों का ही गड्ढर अन्धभाव से नहीं ढोती, अपितु सनातन विद्या की उपलब्धि के निमित्त मार्ग-निर्धारण में अपने हृदय की अभ्यनुज्ञा अथवा आत्मतुष्टि को भी प्राथमिकता देती है। उसका धर्ममय मार्ग अपने परिचायक लक्षणों में 'हृदयेनाभ्यनुज्ञातः' तथा 'आत्मनस्तुष्टिरेव च' का अनिवार्य रूप से समावेश करता है। महाभारत भी इसकी पुष्टि में कहता है-

*यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलन्तु बहुश्रुतः।  
शास्त्रार्थं न विजानाति दर्वी सूपरसं यथा।।*

यह वैशिष्ट्य अन्य संस्कृतियों में नहीं है। इस चरम उपलब्धि की ओर उन्मुख सत्त्वस्थ यात्री की चेतना में स्वतः प्रामाण्य का अंकुर उद्भूत होता है। कालिदास का दुष्यन्त भी सन्देहास्पद स्थितियों में निश्चयात्मक बिन्दु पर पहुँचने में 'प्रमाणमन्तः करण प्रवृत्तयः' का ही सहारा लेता है। हमारी धारा 'पूर्णता' वादी है। हमारी चेतना में यह संभावना के रूप में विद्यमान है-आवश्यकता है तपस्या द्वारा उसे उद्भूत करने की। जो यात्री 'कामकार' पर संयम रखकर प्रज्ञापूर्वक शास्त्राचार के सहारे स्वस्थ मार्ग पर आरूढ़ होता है-सनातन विद्या की उपलब्धि उसे ही होती है। स्वम्भू ने हमें अपने मूल स्वरूप से विच्छिन्न कर ज्ञान के उपकरणों को औंधा कर दिया है-अतः वे उपकरण अनात्म की ओर ही देखते हैं।

अमृतत्व की कामना से जो यात्री अपनी चेतना में प्रत्यग्भाव का आधान कर लेता है-वह गन्तव्य को प्राप्त कर लेता है। मार्ग-निर्धारण में अपनी सत्त्वस्थ प्रकृति प्रेरित दिशा को महत्त्व देने के

कारण ही 'ऋजु-कुटिल-नाना-पथ' के ग्रहण की उसे छूट मिली है। यहाँ के धर्मानुसंधान में तर्क का दरवाजा अन्यत्र की तरह बंद नहीं है। इसीलिए यहाँ 'अंधकार युग' नहीं आया। पश्चिम की तरह भारत के नवजागरण में भी बुद्धि ने अध्यात्म का पल्ला नहीं छोड़ा। अध्यात्म की सौभाग्य-रेखा से भारती का भाल सदैव मण्डित रहा है। सत्त्वस्थ चेतना की अन्तःप्रेरणा को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण ही यहाँ सनातन विद्या की अभिव्यक्ति के एकाधिक प्रकार माने गए हैं-वह अभिव्यक्ति 'शाब्द' भी है और 'प्रातिभ' भी। एक तरफ मार्ग-प्रवर्तकों के उपदेश एवं शास्त्र की सैद्धान्तिक परम्परा और दूसरी ओर योग की साधना की परम्परा। वैष्णव परम्परा को ही लें-एक तरफ वैष्णवाचार्य शास्त्रानुधावी हैं और दूसरी ओर अपनी धारा को 'आगम निगम पुराण अगोचर' कहने वाले भी हैं। सन्तों की धारा भी 'आँखिन देखी' पर ही बल देती है-'कागद की लेखी' पर उतना नहीं। वैसे वे सन्त उनको उपेक्षणीय नहीं मानते। कबीर कहता है-

*वेद कतेव कहै क्यों झूठा, झूठा जो न विचारै*

यह स्वरूप प्रथनात्मक विद्या सनातन रूप में परावाक् से अभिन्न है-पश्यन्ती में उसकी साक्षात्कारात्मक अभिव्यक्ति होती है और मध्यमा तथा वैखरी में उसकी बौद्धिक व्याख्या तथा लौकिक अभिव्यक्ति होती है। कहा ही गया है-'चत्वारि वाक्' आदि। सनातन विद्या साधना-धारा में यहाँ खण्डशः होकर व्यक्त होती है।

चिराकांक्षित पूर्णता 'स्वरूप प्रथन' है-जो काशी में मृत्यु या काशी-सेवन से सुकर हो जाती है। यहाँ सनातन विद्या की अभिव्यक्ति के दोनों 'शाब्द' और 'प्रातिभ' धाराएँ मुखर रही हैं। दोनों का चिन्तन वाक् केन्द्रित है। वाग्रूपा पराशक्ति उभयत्र प्रतिष्ठित है। भारत के सभी भूखण्ड अपनी-अपनी उपलब्धियों में स्मरणीय हैं-पर काशी की बात कुछ और ही है। शिष्टों का मत है-

*असारे खलु संसारे सारमेतच्चतुष्टयम्।*

*काश्यां वासः सतां सङ्गो गङ्गाम्भः शिवपूजनम्।।*

*अन्यानि मुक्ति क्षेत्राणि काशीप्रासिकराणि हि।*

*काशीं प्राप्य विमुच्येत नान्यथा तीर्थकोटिभिः।।*

काशी परात्पर सत्ता का भौतिक शरीर है। इसकी विशेषताओं

को द्योतित करने वाले पाँच नाम हैं—काशी, वाराणसी, महाश्मशान, आनन्दवन तथा अविमुक्त। दीप्त्यर्थक काशु धातु से निष्पन्न होने के कारण इसे प्रकाशात्मा काशी कहा जाता है। वरणा और असि के (अथवा वरणा और वासी) के योग से पापों का वारण करने वाली और नदी रूपी खड्ग (असि) से पापों को काटने के कारण इसे 'वाराणसी' कहा जाता है। जैसे मरण को महानिद्रा कहा जाता है, उसी प्रकार काशी को महाश्मशान कहा जाता है। जिस प्रकार मरण के बाद शरीर फिर नहीं जागता उसी प्रकार इस महाश्मशान में आने के बाद श्मशान में पुनः नहीं जाना पड़ता। इसे 'आनन्दवन' भी कहा जाता है। जैसे वृक्ष समुदाय को वन कहा जाता है, उसी प्रकार काशी मानव के आनन्द से लेकर हिरण्यगर्भ के आनन्द तक जितने आनन्द हैं—सबका समुदाय परमानन्द रूपी परब्रह्म की यह काशी भौतिक मूर्ति है। काशी को इस पृथिवी से अलग माना जाता है। इसके चारों ओर एक सूक्ष्म छिद्ररूपी रेखा पाताल-पर्यन्त है।

काशी साधकों के लिए नितान्त उर्वर स्थली रही है। म.म. कविराज जी की भी धारणा है—'भारतीय संस्कृति, साधना एवं साहित्य की केन्द्रस्थली के रूप में परम-पावनी काशी नगरी का स्थान मूर्धन्य रहा है। विभिन्न युगों में हमें इसकी गौरव-गरिमा के दर्शन भारतीय वाङ्मय के माध्यम से होते हैं, बल्कि कहा तो यहाँ तक जा सकता है कि इस नगरी से प्रस्फुटित ज्ञानराशियों ने समय-समय पर ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में समग्र भारतीय नभोमण्डल को प्रोद्भासित किया है। परा-अपरा विद्याओं के मर्मज्ञ मनीषियों के आश्रय-स्थल के रूप में इसकी प्रसिद्धि की परम्परा अति-प्राचीन काल से चली आ रही है। यही कारण है कि इस क्षेत्र के अनेक उन्नायकों ने अपना संपूर्ण अथवा आंशिक जीवन-काल यहीं व्यतीत किया।' (काशी की सारस्वत साधना) यहाँ केवल अध्यात्म-विज्ञान की कतिपय विभूतियों, जिन्होंने संपूर्ण या आंशिक जीवन-काल बिताया है—की ही उनके प्रदेश के साथ प्रस्तुति अपना उद्दिष्ट है।

श्रीमद्भागवत के अनुसार ब्राह्मण-धारा के प्रतिष्ठित आचार्य सान्दीपनि काश्य ही थे—जिन्हें भगवान श्रीकृष्ण और बलराम ने अपना आचार्य चुना। ब्राह्मण धारा वैदिक धारा है और श्रमण धारा अवैदिक—पर इससे यह निष्कर्ष निकलना कि उसकी यह अवैदिकता वेदोत्तर कालीन कर्मकाण्ड विरोधी है—सर्वथा असंगत

है। वैदिक वाङ्मय में यत्र-तत्र मुनि श्रमणों के उल्लेख मिलते हैं। फलतः यही अधिक सम्भाव्य है कि श्रमणों की अवैदिक धारा वैदिक धारा के साथ-साथ अप्रसिद्ध रूप में प्रचलित थी। उसका ऐतिहासिक स्तर पर उन्मेष वैदिक काल के अन्तिम युग में हुआ। इसमें क्षत्रिय-ब्राह्मण जैसा जातीय विरोध की संभावना भी असंगत है।

वस्तुतः इस परम्परा का अधिक संबंध ऐसे परिव्राजक समुदाय से जुड़ा है, जिनकी सामान्य आख्या श्रमण थी। महाभाष्य में इनके शाश्वत विरोध का संकेत है। यह विरोधिता जातीय नहीं, सैद्धांतिक ही है। वेदवादी ब्राह्मण धारा आध्यात्मिक ज्ञान का मूल अपौरुषेय नित्य शब्द में मानती है। इसके विपरीत सभी श्रमण समुदाय ज्ञान का मूल प्रत्यात्म अनुभूति अथवा प्रत्यात्म अनुभूतिमूलक उपदेश की परम्परा में मानते हैं। इस दृष्टि से इस धारा की आध्यात्मिक परम्परा प्रातिभ ज्ञान पर आधारित एवं पौरुषेय उपदेश से विस्तारित थी। शाब्दिक ज्ञान सामान्यतः परोक्ष होता है और क्रियात्मक व्यवहार में उपयोगी होता है। इसी दृष्टि से मीमांसक परम्परा वैदिक उपदेश की विधि-निषेधात्मक कर्म-मार्ग के रूप में व्याख्या करती है। इसके विपरीत आध्यात्मिक अपरोक्ष ज्ञान अपने में संपूर्ण होता है। व्यवहारोपयोगी होने के स्थान पर वह व्यवहारोत्तीर्ण अवस्था का प्रापक या द्योतक होता है। चेतना की निश्चल अनन्त शान्ति की ओर उद्दिष्ट श्रमण मार्ग अनन्त सृष्टिमूला सावित्री के लोक-पथ से वैसे ही भिन्न है, जैसे रात्रि से दिन। ज्ञान के स्वरूप, मूल और साधना के विषय में बौद्धिक कल्पना और सामाजिक आचार के भेद से श्रमण मार्ग वैदिक मार्ग से भिन्न है। वैदिक मार्ग समग्र जीवन जीने का पक्षधर है, जबकि श्रमण मार्ग संसार-त्यागपूर्वक सीमित जीवन जीने का। महावीर एवं बुद्ध संसार त्याग कर अध्यात्मनिष्ठ हो गए। वैदिक धारा के आचार्य धर्म-प्रेरित अर्थ और काम को पुरुषार्थ मानते हुए अध्यात्मनिष्ठ होते हैं। काश्य सान्दीपनि वैदिक धारा के ऋषि हैं और पार्श्वनाथ काशी में तथा गौतम बुद्ध सारनाथ में प्रथम धर्म-चक्र प्रवर्तन करते हुए श्रमण धारा के मुनि हैं। वैदिक दृष्टि तत्त्वतः अद्वैतवादी है—श्रमण दृष्टि द्वैतवादी है—श्रमण वर्ग में भी दृष्टि-भेद है। कर्म और पुनर्जन्म की अवधारणा सर्वत्र समान है—पर इसको नष्ट करने की प्रक्रिया सबकी अलग-अलग है।

जैन सम्यक् दर्शन-ज्ञान और चरित्र के एकान्वित मार्ग को मोक्ष मार्ग मानता है। अजीव पौद्गलिक कर्म से आवृत जीव तप

और ध्यान से उसे जीर्ण कर स्वरूपोपलब्धि पूर्वक ऊर्ध्व गमन कर जाता है। बौद्ध भी शील, समाधि और प्रज्ञा का सहारा लेते हैं। शीलवान का समाहित चित्त प्रज्ञा-लाभ कर तृष्णा का तेल सुखा डालता है और चित्त का दीप निर्वाण प्राप्त कर लेता है-पर यह व्यक्तिगत निर्वाण है। संसार-समुद्र से उठती दुःख की लहरों का हाहाकार उसे विश्रान्ति नहीं लेने देता। महामैत्री और महाकरुणा की प्रतिमूर्ति बोधिसत्त्व जन्म-जन्मान्तर इनका शमन करने के लिए प्रज्ञा-पारमिता की साधना कर गन्तव्य तक पहुँच जाता है। कहा जाता है कि पारमितानप के द्वितीय धर्मचक्र प्रवर्तन के बाद आन्ध्रप्रदेश के धान्यकटक में मंत्रयान या मंत्रनय का तृतीय धर्मचक्र प्रवर्तित किया था और अन्ततः 'त्रियानमेकयानम्' करते हुए एक ही जन्म में 'महासुह' की उपलब्धि कर ली।

आद्य शंकराचार्य को भी काशी आना पड़ा था और चाण्डाल वेशधारी शिव से शास्त्रार्थ भी करना पड़ा था। आचार्य शंकर ने भारतीय संस्कृति के स्रोतोभूत निगमागम प्रतिपाद्य ज्ञान और ज्ञानोत्तरा भक्ति दोनों प्रस्थानों की प्रवर्तना की थी। एक का उपस्थापक ब्रह्मसूत्र का शांकर भाष्य है और दूसरे का आगम धारा वाले प्रपंच सार, दक्षिणामूर्ति स्तोत्र तथा सौन्दर्यलहरी। श्री विद्या की उपासना तो मठों में प्रतिष्ठित है ही। इस प्रकार आचार्य शंकर ज्ञान-मार्ग और उपासना-मार्ग-दोनों के प्रतिष्ठापक हैं। ज्ञान मार्ग में परात्पर सत्ता निर्विशेष है और उपासना मार्ग में शक्ति समवेत।

आने को तो माना जाता है कि काशी में 13 वीं शती में सन्त ज्ञानेश्वर भी आए थे। 'गुरु परम्परा' से नाथ-धारा, 'ज्ञानेश्वरी' से अप्रतिभ गुरु-भक्ति धारा, 'अमृतानुभव' से कश्मीरी ईश्वराद्वयवादी धारा का रासायनीकरण इनमें मिलता है। प्रसिद्धि है कि काशी में मुद्गलाचार्य के यज्ञ में बहुसंख्य ब्राह्मण उपस्थित हुए थे। वहाँ ज्ञानेश्वर को अग्र सम्मान देने का प्रस्ताव उपस्थित होने पर पण्डितों में मतभेद देखा गया। एक समय एक हस्तिनी की सूँड में एक माला डाल दी गई और माना गया कि हस्तिनी जिसे माला पहना दे, उसका अग्र सम्मान किया जाय। हस्तिनी ने माला ज्ञानेश्वर को पहना दी। 16वीं शती में प्रसिद्ध महाराष्ट्र सन्त एकनाथ भी काशी में निवास करते थे (1534 ई.)। इनकी पण्डरपुर के विठ्ठल (श्रीकृष्ण) के प्रति भक्ति प्रसिद्ध है। देवगढ़ में जनार्दन स्वामी से दीक्षा ग्रहण कर ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभव का वहीं गंभीर परिशीलन किया। बाद में तीर्थ-यात्रा के प्रसंग में

काशी भी आए (1551 ई. के आसपास), उन्होंने यहाँ दीर्घकाल तक निवास किया।

16वीं शती में काशी में मधुसूदन सरस्वती जैसे अनेक संन्यासी महापुरुष विद्यमान थे। इस समय शुद्धाद्वैत वैष्णवाचार्य वल्लभ ने भी काशी में अद्वैतियों के साथ छह महीने तक सभा में शास्त्रार्थ किया था। सुना जाता है कि उपेन्द्राश्रम नामक एक प्रसिद्ध शास्त्रार्थी संन्यासी थे-जिन्होंने इस विवाद को मिटा दिया था। कहा तो यह भी जाता है कि आचार्य वल्लभ की हत्या का भी प्रयत्न हुआ था, जिसकी भनक पाने पर आचार्य काशी से हटकर चुनार चले गए। बाद में वे मथुरा प्रस्थित हुए। आचार्य श्री ब्रह्म को 'माया शबल' न मानकर 'शुद्ध' मानते थे। इसी 16वीं शती में काशी में एक प्रसिद्ध वैदान्तिक आचार्य थे-प्रकाशानन्द जिनके साथ महाप्रभु चैतन्य देव का विचार-विमर्श हुआ था। ये अचिन्त्य भेदाभेदवाद के उपस्थापक थे। महाप्रभु से प्रभावित होकर उन्होंने उद्वैत मत का त्याग कर दिया था और वृन्दावन जाकर वैष्णव-भक्ति का प्रचार करने लगे।

श्री मधुसूदन सरस्वती काशी में चौसट्टी घाट पर रहते थे, जिनकी भक्तवर तुलसीदास पर बड़ी श्रद्धा थी। इस विषय में एक श्लोक प्रचलित है-

*आनन्दकानने काश्यां तुलसीजङ्गमस्तरुः।  
कवितामतञ्जरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥*

मधुसूदन सरस्वती की 'अद्वैतसिद्धि' उनके अद्वैती होने में प्रमाण है-बावजूद इसके वे 'भगवद्भक्ति रसायन' लिखकर ज्ञानोत्तरा भक्ति के भी रसिक साधक थे। कहा गया है 'बोधसार' में-

*द्वैतं मोहाय बोधात् प्राक् जाते बोधे मनीषया।  
भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम्॥*

'षट्पञ्चारिका स्तोत्र' को आचार्य शंकर प्रणीत माना जाता है और यदि यह सही है तो मानना पड़ेगा कि वे भी अद्वैत भक्ति का प्रचार करते हैं। वहाँ कहा गया है-

*सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।  
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रोत्तरङ्गः॥*

इससे स्पष्ट है कि अभेद अवस्था में भी 'मैं तुम्हारा हूँ'-

यह दास्य भाव रह सकता है। इतना अवश्य है कि जिसका हृदय स्वभावतः भक्ति-प्रवण है-उसी को अद्वैत भक्ति का उदय होता है-ज्ञानार्थी को ऐसा नहीं होता।

काशी अध्यात्म साधना की विलक्षण उर्वर स्थली है। यहाँ एक तरफ गोस्वामी तुलसीदास हैं-जो वर्णश्रयी और 'श्रुतिसम्मत हरि-भक्ति' पथ के पथिक हैं-जिनमें नाना पुराण निगमागम का समन्वित रस प्रवाहित है-इस सबके साथ कुछ उनका अपना अनुभव भी है। उनके दार्शनिक पक्ष में आज भी अनेक पक्ष चल रहे हैं। काशी में तुलसी 'ब्रह्मराम ते नाम बड़' कहते हुए इस साधना को 'लीलारस पर्यवसायी' मानते हैं जबकि दूसरी ओर कबीर स्वयं को वैष्णव मानते हुए नाम-साधना को 'नाद पर्यवसायी' कहते हैं। राधास्वामी मत के एक महात्मा काशी के ही हैं, जिनका आश्रम कबीर चौरा पर है। ये लोग 'सुरत शब्द' योग के साधक रहे हैं। पं. ब्रह्मशंकर मिश्र राधास्वामी मत की मूल गद्दी के तृतीय गुरु या आचार्य थे। इनके गुरु थे-राय सालिग्राम साहब बहादुर-जो हजूर महाराज के नाम से प्रख्यात थे। मत में आने के बाद मिश्र जी महाराज साहब के नाम से प्रतिष्ठित हुए।

यहीं केदार घाट पर एक अज्ञात वंश परिवार के परमहंस उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में विद्यमान थे। छपरा के स्वामी अद्वैतानन्द जी महाराज को दीक्षा इन्हीं से मिली थी। इनके शिष्य थे-स्वामी स्वरूपानन्द जी, ये सीमा-प्रान्त कोहाट के थे। इनका सत्संग केन्द्र मेरठ था। उन्होंने जिस खुरहुजाँ वासी महापुरुष की दीक्षित किया, वे बाद में परमहंस स्वामी आत्म विवेकानन्द के नाम से काशी के पास गड़वा घाट में अपना आश्रम बनाकर सत्संग करने लगे। मानस-मर्मज्ञ पं. विजयानन्द तिवारी प्रभृति अनेक सदाशयी इनसे दीक्षित हुए। इनकी शिष्य-परम्परा आज भी गतिशील है और गोवर्धन सराय में सन्त मतानुयायी आश्रम के नाम से प्रसिद्ध आश्रम में विद्यमान हैं।

काशी में ही 'अखण्ड महायोग' और 'सौर विज्ञान' के महापुरुष परमहंस विशुद्धानन्द जी तिब्बत स्थित ज्ञानगंज से चलकर आए थे। म.प्र. कविराज गोपीनाथ उन्हीं के शिष्य थे। अखण्ड महायोग के सिद्धांत की मान्यता है कि युगों से मानव-हृदय की पुकार और सन्तों, तपस्वियों और योगियों के प्रयासों में इस परमसत्ता को धरती पर अवतरित होने की इच्छुक जगज्जननी के

सौम्य रूप में रूपान्तरित करने की शक्ति है। अखण्ड महायोग की इस मान्यता से अरविन्द की मान्यता से कुछ तालमेल है-पर दोनों की संकल्पनात्मक योजनाएँ भिन्न हैं। क्षण को पकड़कर जगज्जननी के प्रति समर्पण करके ऐसा किया जा सकता है। यदि 'अखण्ड' विशेषण का संबंध योग की क्षितिजीय वितति है तो 'महा' उपसर्ग इसके ऊर्ध्वगामी विस्तार को दर्शाता है जो अकेले चित्त को विश्वात्मा से मिलन की ओर ले जाता है और जगज्जननी के आविर्भाव का मार्ग प्रशस्त करता है। हृदय की सच्ची पुकार ही इसका परमास्त्र है।

श्री श्री माता आनन्दमयी भी काशी में रही हैं। कविराज जी ने 'तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि' नामक अपनी कृति को समर्पित करते हुए उनके संबंध में लिखा है-'जो स्वरूपतः विश्वोत्तीर्ण तथा भावातीत होकर भी महाभाव स्वरूपा तथा सब भावों से क्रीड़ा-परायण हैं, उन निखिल जगत् की कल्याण रूपिणी ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय प्रदर्शनी जगज्जननी परमाराध्या श्री आनन्दमयी माँ के पावन चरणकमलों में दीन सन्तान का सप्रेम उत्सर्ग।'

बाबा किनाराम का प्रधान मठ काशी के कृमिकुण्ड पर है। यहीं पर इन्होंने सन् 1769 ई. में समाधि ली थी। इन्होंने पहले बलिया जिले के कारोगाँव निवासी संत शिवराम से तथा बाद में गिरनार पर्वतवासी किसी संत की छाया में शान्तिलाभ करते हुए अन्ततः केदारघाटवासी महात्मा कालूराम अघोरी से दीक्षा ग्रहण की। सन् 1755 ई. में इनके द्वारा लिखे गए 'विवेकसार' तथा अन्य ग्रंथों से पता चलता है कि इनके 'अवधूत मन' में संत कबीर आदि द्वारा ग्रहीत साधना और उपलब्धि से भिन्न कुछ भी नहीं है।

*प्रेम दा पैड़ो सब दा न्यारो।*

*राम किना सद्गुरु सेवा विनु भूलि मर्यो अज्ञानी।*

X X X

*सब्द अज अमर अद्वितीय व्यापक पुरुष,*

*सद्गुरु शब्द सुविचार आनै*

X X X

*रामकिन सत शब्दावहि, उतर जाय भौपार।*

इनकी भी नाम साधना नाद पर्यवसायी है।

## ब्रज की लोक संस्कृति

डॉ. राजेन्द्ररंजन चतुर्वेदी

अनेक मानवशास्त्री कल्पना करते हैं कि भविष्य की विश्वसंस्कृति में संसार की शत-सहस्र संस्कृतियों के सर्वश्रेष्ठ तत्त्व उसी प्रकार अंतर्भुक्त हो जायेंगे, जैसे अनेक नदियाँ समुद्र में समा जाती हैं। लोक संस्कृति सामूहिक जीवन के प्रवाह में बहती है और निरंतर कायाकल्प करती है। निरंतर बहने के कारण लोकसंस्कृति चिर पुरातन होते हुए भी नित नवीन बनी रहती है। यही कारण है कि लोकसंस्कृति का कोई अध्येता जब कभी लोकजीवन की प्रयोगशाला में पहुँचता है, उसके सामने नई चुनौती होती है, नई संभावना होती है।

ब्रज की लोकसंस्कृति ब्रजवासियों की लोकसंस्कृति है, इसे कौन नकार सकता है? परन्तु क्या यह पूरा सच है? हम असम, उड़ीसा, बंगाल की संस्कृति के योगदान को कैसे भूल सकते हैं, जो जयदेव, चैतन्य, रूप, जीव और सनातन के माध्यम से ब्रज की लोकसंस्कृति में अंतर्भुक्त हुई है। वल्लभाचार्य आंध्र में काकरपाडु गोदावरी तट के तेलंग थे, जिनकी महिमा अष्टसखाओं का स्वर बन कर ब्रज की लोकसंस्कृति में गूँज रही है— श्रीवल्लभ नखचंद्र छटा बिन सब जग माँहि अँधेरौ। क्या हम मारवाड़ की मीरा के गीतों को भूल सकेंगे – मेरें तौ गिरिधर गोपाल दूसरौ न कोई। ब्रज के गाँवों में जब विवाह होता है, तो नरसी का भात गाया जाता है, नरसी तो गुजरात के थे। विष्णु कथाओं का केन्द्र तमिलनाडु है और विष्णुकथा में कृष्णकथा अंतर्भुक्त हुई। कृष्ण विष्णु के अवतार माने गये। वृंदावन के श्रीरंग मंदिर में वरदराज की प्रतिमा विराजमान है, जिन्होंने भागवत का तमिल अनुवाद किया था।

भागवत की भूमिका में नारद और भक्ति का संवाद है। भक्ति कहती है – उत्पन्ना द्राविड़े साहं वृद्धिं कर्णाटके गता। द्रविड़ देश में मेरा जन्म हुआ, कर्णाटक में मैं बड़ी हुई, फिर सारे देश के तीर्थों में घूमते हुए वृंदावन आई— वृंदावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।

यहाँ तो मैं युवती बन गई। माना कि ब्रज-वृन्दावन में आकर भक्ति ने नया सौंदर्य प्राप्त कर लिया, पर उसके यात्रा-भूगोल को जाने बिना ब्रज लोकसंस्कृति की अंतर्धाराओं को कैसे देखा जा सकेगा?

ब्रज की लोकसंस्कृति भारत के शतसहस्रकोटि जन के जीवन प्रवाह, मिलन-बिछुरन, आवागमन, आदान-प्रदान, द्वन्द्व और समायोजन का परिणाम है। ब्रज लोकसंस्कृति की अंतर्धाराओं का साक्षात् पाने के लिए केवल ब्रज के जनपदीय जीवन में उतरना ही पर्याप्त नहीं होगा। हमें संपूर्ण भारतवर्ष के प्रदेशों और जनपदों के लोकजीवन की परिक्रमा करनी होगी। श्रावण का महीना चल रहा है, देश की विभिन्न लोकसंस्कृतियाँ वृन्दावन विहारी के प्रेम में विभोर होकर वृन्दावन की गलियों में घूम रही हैं। मुझे बड़ा संकोच होता है जब मैं अपने मन से ही पूछता हूँ कि इन संस्कृतियों का मैंने कितनी बार आत्मीय साक्षात्कार किया है। इनका अंतरंग परिचय पाने का मैंने कौन सा गंभीर प्रयास किया है? ब्रज लोकसंस्कृति का एक मिथक है - भारत के समस्त तीर्थ एक बार भगवान कृष्ण के पास आये, बोले- प्रभो, हम आपके लीला रस का आस्वाद पाना चाहते हैं। तब भगवान ने वरदान दिया कि वर्ष में चार महीने तुम सब अपने सूक्ष्म शरीर में ब्रज भूमि में आकर निवास करना। तब से सारे तीर्थों ने ब्रज में अपनी-अपनी जगह बना ली। सूक्ष्म रूप से ब्रज भी तो सारे भारत के मन में रहता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि ब्रज लोकसंस्कृति के अध्ययन अनुसंधान की संभावना सहस्रमुखी है, परंतु लोकसंस्कृति के गंभीर अध्येता के सामने पहला सवाल तो यह कि ग्राउस 1872 से 1877 तक मथुरा का कलेक्टर रहा, मथुरा ऐ डिस्ट्रिक्ट मेमोर तथा फिलॉसॉफिकल स्टडी ऑफ ब्रज फोक सोंग्स उसकी कृतियाँ हैं। तबसे लेकर अब तक ब्रज लोकसंस्कृति पर कितना काम हुआ है। किन प्रयोजनों से हुआ है और किन दृष्टिकोणों से हुआ है।

यह इसलिए भी जरूरी है कि FOLKLORISTICS या लोकविज्ञान एक विकासशील अनुशासन है और तब से लेकर अब तक लोक की अवधारणा का क्रमिक विकास हुआ है। एक

जमाना था, जब FOLKL CULTURE का लक्षण था प्रिमिटिव माइंड, आदिमानस। उपनिवेशी शासन के जमाने में FOLKLORE का माने था- असभ्य, अर्द्धसभ्य, अंधविश्वासी, रूढ़िवादी, वनवासी और आदिवासियों का ज्ञान। इसके बाद जमाना आया, जब रामनरेश त्रिपाठी ने ग्रामगीत और ग्राम साहित्य नाम से पुस्तकें प्रकाशित कीं। ग्राम संस्कृति और आंचलिक संस्कृति शब्द प्रचलन में आया। कई आलोचकों ने लोकसाहित्य को सीमांत साहित्य बतलाया। जब राजनैतिक मतवादों का आग्रह लोक की परिभाषा पर लक्षित हुआ, तब लोकसंस्कृति को सर्वहारा, दलित, असवर्ण जातियों की संस्कृति कह दिया गया। कई समीक्षकों ने आर्य संस्कृति को वेद तथा आर्यतर संस्कृति को लोक कहकर समझना चाहा। यहाँ इस तथ्य को रेखांकित करना आवश्यक है कि इस युग में महात्मा गांधी ने लोकचेतना की गहराई में विद्यमान अक्षय ऊर्जा के स्रोत को जितने समीप से पहचाना था, उतना शायद कोई दूसरा नहीं पहचान सका। हाँ, प्राचीन भारत में भरतमुनि, कौटिल्य और पतंजलि ने लोक को गहराई से परिभाषित किया था - अभ्यंतरो ऽहं लोके नत्वहं लोकः। जब भारत का संविधान बना तो लोकतंत्र के विधाता के रूप में लोक की सत्ता को परिभाषित किया गया- हम भारत के लोग। आमआदमी और औसत आदमी शब्द भी उभरकर आये। सर्वजन सत्ता, सामान्यजन सत्ता और जीवन के अविच्छिन्न प्रवाह में समष्टिजन सत्ता का नाम लोक है। निःसंदेह ब्रज संस्कृति सामान्यजन की संस्कृति है।

ब्रज लोकसंस्कृति पर ब्रज के लोगों ने भी काम किया तथा ब्रज के बाहर के लोगों ने भी काम किया। जनपदीय दृष्टिकोण से भी ब्रज पर कार्य हुआ और राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भी। ऐसे लोगों ने भी काम किया जो ब्रज की सीमा चौरासी कोस में मानते थे, और वे लोग भी थे, जिन्होंने भाषा के आधार पर मथुरा, आगरा, एटा और मैनपुरी- पाँच जिलों को ब्रज में शामिल किया। राजनैतिक-प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से भरतपुर -अलवर भले ही राजस्थान में है और पलवल तथा फरीदाबाद हरियाणा में, परंतु भाषा संस्कृति की दृष्टि से ये भी ब्रज जनपद के ही अंग हैं। राजस्थान में तो ब्रजभाषा अकादमी भी काम कर रही है। पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ब्रज के गाँव-गाँव के सर्वेक्षण कराये, उन्होंने कहा कि प्रत्येक जनपद की एक आत्मा होती है। डॉ. विद्यानिवास मिश्र का कथन

था कि देशकाल की सीमा से बाहर जाने की बेचैनी का नाम ब्रज है। गोपालप्रसाद व्यास ने उनके स्वर में स्वर मिलाया, कहा – ब्रज ससीम नहीं असीम है। बाबा श्रीपादजी ने भौम वृन्दावन पर ब्रज अकादमी जरूर बनायी थी, पर उनका अभीष्ट चिन्मय वृन्दावन का अनुसंधान था। बाबा विश्वेश्वरदास जी ने रसोपासना पीठ बनायी और संगोष्ठियों का ऐसा सिलसिला शुरू हुआ कि दोनों बाबाओं ने अपनी-अपनी संस्था में विश्वविद्यालयों के बड़े-बड़े दिग्गजों को एकत्र कर दिया। रसनिकुंज पत्रिका निकली तथा निकुंजभाव पर गहरा और व्यापक अनुसंधान सामने आया। विष्णुकांत शास्त्री उत्तरप्रदेश के राज्यपाल तो बाद में बने थे,

कलकत्ते से उन्होंने रसवृन्दावन नाम की पत्रिका निकाली। ब्रज साहित्य मंडल और ब्रजभारती का इतिहास तो ब्रज लोकसंस्कृति के अध्ययन का इतिहास है, क्योंकि इस मंच पर वासुदेवशरण अग्रवाल, सत्येन्द्र जी, के.एम. मुंशी, सेठ गोविन्ददास, बालकृष्ण शर्मा नवीन जैसे लोगों ने कार्य किया

था और राजेन्द्रबाबू तथा संपूर्णानंद जैसे लोगों का सहयोग था। आकाशवाणी के केन्द्र स्थापित हुए। ब्रज की विश्वास प्रणाली, आचार प्रणाली, जीवन मूल्य, रीतिरिवाज, विश्वकोश, सौंदर्य बोध, संगीत, नृत्य, कला, मंच, भाषा, साहित्य और अभिव्यक्ति प्रणाली पर शतशत अनुसंधान पत्र और पुस्तकें प्रकाश में आईं।

ब्रज लोकसंस्कृति के क्षेत्र में वे लोग भी आये, जिनके लिए लोकसंस्कृति का तात्पर्य था – परफॉर्मिंग आर्ट्स या फिर कल्चरल प्रोग्राम। ब्रज लोकसंस्कृति के क्षेत्र में वे लोग भी आये, जो लोकसंस्कृति को संरक्षण की वस्तु समझते थे और वे भी आये जिन्होंने स्पष्ट किया कि देश को राष्ट्र बनाया है, तो लोकसंस्कृति ने ही बनाया है। उन्होंने स्पष्ट किया कि लो संस्कृति तमाशा नहीं

है, सामाजिक जीवन की गंभीर प्रक्रिया है जो व्यक्तिमन में सामाजिक विवेक की प्रतिष्ठा करती है, जीवन मूल्यों को प्रस्थापित करती है, नैसर्गिक वृत्तियों का उदात्तीकरण करती है, आचरण का नियमन करती है और मनुष्य को मनुष्य बनाती है।

ब्रज लोकसंस्कृति पर देश के लोगों ने ही नहीं, विदेशी विद्वानों ने भी काम किया। अमेरिका के प्रोफेसर नारविन हाउन ने रास के संबंध में लिखा। न्यूयार्क के मानवशास्त्री ओविन लिंच ने मथुरा के चौबे समुदाय की जीवनशैली और विश्वबोध पर काम किया। बर्लिन के प्रोफेसर हर्बर्ट हर्टल ने सोंख में आठ वर्ष

तक पुरातत्व की लिपि में लिखी ब्रजसंस्कृति की इबारत को पढ़ा। अमेरिका की सूसन वाडले ने बारहमासा गीतों पर काम किया। लंदन के अल्स्टन ने 'डिवाइनस्पोर्ट्स ऑफ कृष्ण' शीर्षक निबंध लिखा। रूस की सजानोवा ने पुस्तक लिखी – NO LIFE WITHOUT KRISHNA ।



न्यूयार्क के जेन डी रेडिग्टन ने MEANING OF KRISHNA DANCE पुस्तक लिखकर कालिय नृत्य के मिथक की व्याख्या की। स्टालिन बारबरा ने SONGS OF THE DARK LOVE तथा THE HERMIT OF LIVE THIEF पुस्तक लिखी। सच बात तो यह है कि ब्रज लोकसंस्कृति पर इतना विशद कार्य संपन्न हो चुका है कि यदि वह सब एक स्थान पर आ जाय, उसका आकलन और अध्ययन हो, तो यह बहुत बड़ी बात होगी। कहना चाहिए कि आगे के युग की आधारभूमि तैयार हो जायेगी। पर अभी तो उसकी बिबलियोग्राफी भी प्रकाशित नहीं हो सकी है।

ब्रज लोकसंस्कृति के अध्ययन के कितने ही दृष्टिकोण हो सकते हैं – मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, मानवशास्त्रीय, मिथकशास्त्रीय, परिवेशशास्त्रीय, दार्शनिक, सौंदर्यशास्त्रीय और

ऐतिहासिक। ब्रज लोकसंस्कृति एक समुदाय, एक आनुवंशिकता अथवा एक युग की रचना नहीं है। वह मानव इतिहास की सतत् प्रक्रिया है। ब्रज में केवल गोप, यादव और ऋषियों का ही निवास नहीं था, असुर-दानव-यक्ष और नाग भी थे। ब्रज लोक कहानियों में आदिमयुग की वे स्मृतियाँ हैं, जब मनुष्य का बलिदान करके देवता को प्रसन्न किया जाता था। वासुदेवशरण अग्रवाल और सत्येन्द्रजी दोनों ने ही इन स्मृतियों को रेखांकित किया है। कुछ गाँवों में सकटचौथ पर तिलकुटे से मनुष्य की आकृति बनाई जाती है, बाद में कोई पुरुष चाकू से उसकी गर्दन काट देता है और काटते समय 'मैंऽऽ' की आवाज करता है। लोक कहानियों में कन्नी उंगली चीरने का अभिप्राय तथा सिर के बाल चढ़ाने का उपक्रम बलिदान का प्रतीकात्मक रूप है। ऐसी हजारों स्मृतियों का अध्ययन करने के बाद लोकवार्ताशास्त्रियों ने निष्कर्ष दिया कि मनुष्य बीते युगों का एपीटोम है। सभ्यता की अधुनातन सीढ़ी पर पहुँचा हुआ व्यक्ति भी आदिम स्मृतियों और वासनाओं से मुक्त नहीं है और मुक्त हो भी नहीं सकता।

नीलकंठ पुरुषोत्तम जोशी ने वृक्षपूजा की परंपरा में यक्षों के प्रभाव को रेखांकित किया। यमलार्जुन वृक्षों को उखाड़ने की लीला वास्तव में गोपसंस्कृति और यक्षसंस्कृति के द्वन्द्व-समायोजन की स्मृति है। ब्रज के लोकसाहित्य में बावन वीरों का अभिप्राय बहुचर्चित है। यक्षों को वीर कहा जाता था। डॉ. सत्येंद्र ने जाहरवीर की गाथा का लोकसांस्कृतिक विश्लेषण किया था। उन्होंने लिखा कि गूगल का महत्त्व, सिर आना, नागों से संबंध, यक्षध्वज, यक्षप्रश्न, जागरण और वीरपूजा - ये सात यक्ष प्रभाव हैं। भांडीर यक्ष था। ब्रज में जाख, जाखैया और बरमदेव की पूजा अभी भी होती है।

ब्रजभूमि में नागों की बस्तियाँ थीं। कालियमर्दन, नाग पंचमी और नवलदे ब्रज की प्रमुख नाग कथा हैं। गाँवों में बहू आने के समय नाग बलि का रिवाज है। नागपूजा भी प्रचलित है। नाग कन्या नवलदे परीक्षित को व्याही थी और नागयज्ञ के समय वही नागजाति की रक्षा के लिए आई। आगे चलकर नाग सांस्कृतिक तत्त्व गोपसंस्कृति में अंतर्भूक्त हुआ तो बलराम शेषनाग के अवतार माने गये।

मधुवन मधुदैत्य का वन था। होली दैत्यवंश की कुलदेवी है। गाँवों में जब घरगुली की पूजा होती है, तो कृष्ण की होली नहीं गायी जाती। राजा बलि की होली गायी जाती है - राजाबलि के द्वार मचीरे होरी। घरगुली होली की छोटी बहिन थी। मथुरा में राजा बलि का टीला है। दैत्यसंस्कृति के तत्त्व का दूसरा उदाहरण वृन्दा है- कालनेमि की बेटी और जालंधर दैत्य की पत्नी। विष्णु ने उसका सतीत्व खंडित किया, उसने विष्णु को शिला होने का शाप दिया, प्रतिक्रिया में विष्णु ने वृन्दा को जड़ होने का शाप दिया। वृन्दा तुलसी बनी और विष्णु शालिग्राम बने।

ब्रज की कितनी ही लोक कहानियों का नायक या प्रतिनायक दानव है, उसकी बेटी वीर राजकुमार से प्रेम करती है। राजकुमार तोते की गर्दन मरोड़ता है और दानव मर जाता है। दानववंशी कन्या विवाह करके राजकुमार के साथ महल में आ जाती है। दानव की बेटी के साथ दानव संस्कृति के तत्त्व भी सभी संस्कृति में अंतर्भूक्त हो गये।

किसी भी संस्कृति का विश्वबोध उस जनसमुदाय के बीच मनुष्य और मनुष्य तथा मनुष्य और प्रकृति के संबंध को निर्धारित करता है। ध्यान देने की बात है कि आज हम बाजारीकरण के दौर से गुजर रहे हैं। बाजार की विश्वव्यापी सत्ता, जिसका केन्द्रीय मूल्य-मुनाफा है। मनुष्य की सर्वग्रासी तृष्णा, जिसके लिए मनुष्य केवल उपभोक्ता है और प्रकृति कच्चा माल, सोने का अंडा देने वाली मुर्गी प्रतिदिन बदलने वाली टेक्नोलॉजी जीवन स्थितियों में परिवर्तन ला रही है और टेक्नोलॉजी का संचालन सूत्र उसी बाजार सत्ता के हाथों में है। नदी, पहाड़, धरती, आकाश, वृक्ष-वनस्पति सभी का अंधाधुंध शोषण हो रहा है। प्रकृति की गति में अविवेकपूर्ण हस्तक्षेप और आतंक। यह एक वर्ग की खंडित जीवन दृष्टि का परिणाम है। निस्सन्देह लोक संस्कृति के सामने यह एक चुनौती है, पर लोकजीवन के सामने यह चुनौती कब नहीं आई! जब भी बुढ़िया के बेटे की बारी आई, लोक कहानी का राजकुमार आ गया, लोक सत्ता ने राजकुमार में अधिष्ठान किया और राक्षस मर गया। रावण हर बार हारा और राम हर बार जीता। अधासुर, बकासुर और पूतना, कंस की कहानियाँ ब्रज लोक संस्कृति को आश्वस्त कर रही हैं।



ब्रज लोक संस्कृति ने घटघट व्यापी अंतर्दामी की अवधारणा द्वारा मनुष्य और मनुष्य के बीच दिव्य संबंध की प्रतिष्ठा की है। कौन है पराया? और फिर जीवन यात्रा में क्या मनुष्य अकेला है? चींटी से लेकर हाथी तक कितने प्राणी हैं, कितने वृक्ष-वनस्पति हैं, नदी, समुद्र, पर्वत, मेघ, चंद्रा और सूरज। काल का पहिया घूम रहा है। सब जी रहे हैं और सबके साथ मनुष्य जी रहा है- सर्वात्म भाव। पशु-पक्षी, यमुना, कदंब, पपीहा, कोयल और मोर सभी तो श्यामा श्याम के प्रेमरस में विभोर हैं -

*वृंदावन के विरछ कौ मरम न जानें कोय।  
डार डार और पात पात पै राधे राधे होय।*

सूर की गाय है-

जहाँ-जहाँ गोदोहन कीन्हों सूंघत सोई ठांड।

बाजारवादियों से कोई पूछ कर देखे कि जिस जीवन के लिए इतना कुछ कर रहे हो, उस जीवन का प्रयोजन क्या है? क्या सुख बाजार में मोल देकर खरीदा सकता है? इधर ब्रज लोक संस्कृति है, सूरदास कह रहे हैं - धन्य सूर एकौ पल यह सुख का सत कल्प जिये। जिस रस को पाकर देवताओं का राजा इंद्र भी दरिद्री सा प्रतीत होने लगे। आनंद का वह पारावर, जीवन जगत् का अशेष आनंद जिसकी एक बूंद मात्र है। रसोपासना का तात्पर्य है- सर्वत्र पूर्ण सौंदर्य की अनुभूति और सदा प्रेम की प्रतीति। ब्रज की संस्कृति ने भक्ति के उस मानस को अपनी आँखों से देखा है, जहाँ क्षुद्रता, वासना, भय, अभिमान, हीनता, दीनता, राग, द्वेष, अहंता- ममता के बंधन टूट जाते हैं और ऐसे चिरंतन राग का संचार होता है, जिसके प्राप्त होने पर संसार की सारी उपलब्धियाँ छोटी पड़ जाती हैं।

देशी रियासतों के कितने ही राजा थे, जो अपने महल और वैभव को छोड़कर वृंदावन आये थे। बादशाह कुंभनदास को फतेहपुर सीकरी चलने का आमंत्रण दे रहा है और कुंभनदास कह रहे हैं- जाकौं मुख देखे दुख उपजै, ताकौं करबे पै सलाम, संतन कहा सीकरी सों काम।

श्रीनाथ जी के दर्शन करने राजा आया, अधिकारी जी ने सिंह पौर के दरवाजे बंद करवा दिये। जब मंगला के पट खुले तो

भीड़ का ऐसा रेला आया कि दरवाजा खुल गया। दर्शनी जगमोहन तक जा पहुँचे। परमानंददास ने ठाकुर की लीला देखी तो पद गाया-

*कौन ये खेलबे की बान।*

*नंदनंदन ऊछत काहू की राखत नाहि न कान।*

महाप्रभुजी बोले- परमानंददास, कौन ये खेलबे की बान नहीं, भले ये खेलबे की बान।

बिट्ठल बिपुल ने इसी वृंदावन में गाया था- 'हमारें भाई स्यामा जू कौ राज।' मुगल बादशाह का राज जहाँ हो, वहाँ रहा आवे। वृंदावन तो रसिकों का गढ़ है, रस की राजधानी। यह सांस्कृतिक स्वराज्य की घोषणा थी। माना कि राज्य का स्वामी प्रभु था, पर सांस्कृतिक स्वराज्य का प्रतीक लोक मानस के लिए महाप्रभु था - महाप्रभु वल्लभ, महाप्रभु चैतन्य, महाप्रभु हित हरिवंश, रसिक अनन्य नृपति स्वामी हरिदास। नृपति द्वार ठाड़े रहें दरसन आसा जासु की।

ब्रज लोकजीवन लीला कथा और लीलाकाव्य का अछोर विस्तार है। लीला एक मिथक है। मिथक एक भाषा है, कला है, एक दर्शन है। मिथक कला का स्रोत और प्रेरक है। मिथक लोक से अलौकिक की ओर चलता है तथा काल की सीमा से बाहर की सोचता है। लोकमन मिथक की रचना करता है और मिथक लोकमन की रचना करता है। मिथक लोकचेतना में रहते हैं और नित नवायमान होते रहते हैं। लोक संस्कृति में धरती से लेकर आकाश तक मिथक बुने हैं। ब्रज लोकसंस्कृति के अध्येता के सामने हजारों मिथकों के संग्रह का काम पड़ा हुआ है।

मिथक इतिहास नहीं है, पर इतिहास की रचना है। लीला इतिहास में घटित होने वाली घटना नहीं है, फिर भी कुछ बुद्धि-जीवियों के मन में नाना प्रकार के मकड़जाल हैं। मदनमोहन की लीला में काम कुंठा को ढूँढते हैं, लोक संस्कृति में वर्गस्वार्थ को खोजते हैं। अहंता-ममता का बोझा लिए उस वृंदावन में घुसपेंठ करने के लिए धक्का मुक्की करते हैं, जहाँ ईश्वर के भी ऐश्वर्य का प्रवेश संभव नहीं। रास देखना था, पर पुरुषभाव का प्रवेश असंभव था। वहाँ देहभाव से नहीं, भावदेह से प्रवेश होता है- सखीभाव तब जानियै देह भाव मिट जाय।

ऐसे आलोचकों का कोई दोष नहीं है, ब्रज लोक संस्कृति का मामला ही कुछ ऐसा है कि वह ईश्वर को अपना जैसा बना कर ही स्वीकार करती है। दुनिया में कैसी-कैसी साधना और कैसे-कैसे कर्मकांड हैं, पर गोकुल में चार जनी इकट्ठी हुईं और गाने लगीं- 'रसिया कों नार बनाओ री रसिया कों।' भागवत कथा प्रारंभ हुई, व्यासजी मंगलाचरण कर रहे हैं- तस्मै कृष्णाय नमः गोप वधुटी दुकूल चौराय। चोर ही नहीं कहा, छिनार भी कह दिया- चोर जार शिखामणिः।

'काम' मनुष्य की निसर्गवृत्ति है, उसका उदात्तीकरण करके उसे सौंदर्य माधुर्य के भाव में परिवर्तित करना, वैसा ही है- जैसे कुशल वैद्य विष को औषधि के रूप में बदल देता है। रसिकों ने काम और कामना को भस्म करके उसे रस के रूप में सिद्ध किया था।

पं. विद्यानिवास मिश्र ने ब्रज लोक संस्कृति को जब देश और काल से बाहर जाने की बेचैनी कहा था, तब उनके सामने रसदेश था- जहाँ काल व्यापै नहीं। युगयुगांतर बूढ़े हो गये, पर रसिकों का वृंदावन नितनवीन है- नवल वंसत नवल वृंदावन। सौंदर्य की वह अतृप्त प्यास कि कल्पकल्पांतर से श्यामा-श्याम एक दूसरे को बाँहों में भरकर निहार रहे हैं, परंतु- ज्यों-ज्यों देखें तेरौ मुख त्यों-त्यों नयौ-नयौ लागत ऐसौ भ्रम होत मैं कबहू देख्यौ न री।

ब्रज लोकसंस्कृति मनुष्य और मनुष्य के बीच समस्त भेदभाव का निषेध करती है - रंक होय कै रानौ। जाति- पांति, पंथ, वर्ग और मतवाद ही नहीं, देशों की भौगोलिक सीमा भी वहाँ पिघल जाती है। आदमी के भीतर बैठा हुआ आदमी। निसर्ग मनुष्य। वह मानस, जहाँ विशेषण छूट जाते हैं। वह मानस, जो

सभी की चेतना को झकझोरता है, सभी के भाव को जगाता है। वह मंगल भाव ही तो था, जिस पर मुग्ध होकर ताजबीबी ने कहा था- हों तौ मुगलानी हिंदवानी है रहोंगी मैं। यह मंगलभाव सार्वभौम और सार्वजनीन है।

यह मुरली की टेर और यमुना का कलरव, यह रस और उन्मुक्त आनंदभाव सभी के मन को छूता है। यदि ऐसा न होता तो प्रभुपाद भक्ति वेदांत के कंठ से भागवत की टेर पर योरोप में कृष्णचेतना आंदोलन कैसे खड़ा हो जाता, कैसे चलता और देखते-देखते समस्त योरोप में कैसे फैल जाता? हरिनाम की संकीर्तन शोभायात्रा कैसे निकलती और अमेरिका के वैस्टवर्जीनिया राज्य की पहाड़ी पर नव वृंदावन कैसे बस जाता? योरोप से चलकर चित्रकला की इस्कॉन शैली वृंदावन में कैसे आ जाती?

ब्रज लोकसंस्कृति के क्षेत्र में काम बहुत पड़ा हुआ है। ब्रज साहित्य मंडल के हाथरस अधिवेशन ने ब्रज विश्वविद्यालय की मांग की थी। वन महाराज ने वैष्णव विश्वविद्यालय की कल्पना की थी। पता नहीं, वृंदावन शोधसंस्थान को डीमंडयूनिवर्सिटी का दर्जा दिया जा सकता है या नहीं, जहाँ ब्रज संबंधी अध्ययन हो- पीएच.डी. और एम. फिल हों। लोकविज्ञान को यहाँ स्वतंत्र अनुशासन का दर्जा मिले। भारतवर्ष में कर्णाटक, मैसूर, कल्याणी, कलकत्ता और गोहाटी विश्वविद्यालयों में ही लोकविज्ञान के स्वतंत्र विभाग हैं। ऐसी संस्थाएँ बहुत हैं, जो लोकसंस्कृति के क्षेत्र में काम कर रही हैं, पर उनकी आपस में जान-पहचान भी नहीं है। संसार के सभी देशों में विभिन्न जनसमुदायों की जीवनशैली और विश्वबोध को समझने के गंभीर प्रयास हो रहे हैं, जनसंपर्क बढ़ रहा है। हमें भी विश्वसंस्कृति का स्वस्तिवाचन करने को तत्पर रहना है, पर अभी तो ब्रज लोक संस्कृति का संदर्भ कोश भी तैयार नहीं हो सका है।

## अभिकल्प और प्रदर्शन

हकु शाह

अनुवाद - पीयूष दईया

दिल्ली में 'माटी ये तेरे रूप' नामक प्रदर्शनी तैयार करते हुए गोरखपुर के कुम्हारों में एक अपने बेटे और पोते के साथ काम कर रहा था। पोता करीब ढाई साल का था, मगर फिर भी वह सारे दिन अपने अभिभावकों की गतिविधियों में पूरे मन से भागीदारी करते हुए मशगूल था। मिट्टी सानते हुए, एक जगह से दूसरी जगह इसे ले जाते हुए, इसे थपथपाते हुए, आकार देते हुए, मिट्टी पर काम करते हुए, सीखते हुए और उन्हें उनके काम में मदद करते हुए। प्रदर्शनी के संस्थापन के समय कुम्हारों से यह कहा गया कि वे गारे की दीवार पर चावल के घोल से अपने हाथों की छाप उतारें/पंजों को छापें। यह 'अभिकल्प और प्रदर्शन' का एक भाग था। पोता भी हिस्सेदारी करने के लिए बहुत उत्सुक था और आसाम के हाथ से बनाए हुए एक घड़े के पास थोड़ी-सी जगह भी थी। सहसा हम सभी ने सोचा कि क्यों नहीं, इस बड़े घड़े के पास? छोटे बच्चे/बालक ने अपने हाथ वहाँ छापे और यह एक सुन्दर प्रदर्शन का 'दस्तखत' बन गया। एक बड़े लाल घड़े के पास अपने बड़ों के छापों के संग एक भूरी पीताभ दीवार पर नन्हीं सफेद हथेली! हम बच्चे को संतुष्ट कर सके और उसकी भंगिमा द्वारा अपना प्रदर्शन पूरा किया। इससे यह पता चलता है कि प्रदर्शन/डिस्प्ले में चीजें किस तरह अन्तर्बोध से घट जाती हैं।

आज भारत में शिल्प परम्परा एक बड़े परिवर्तन के दौर से गुजर रही है। एशियाई देशों में यह अभी भी जीवित है और सर्जक व उपयोगकर्ता के जीवन का एक भाग है। यह अभिकल्प रचनात्मकता, परिवेश और परम्परा से फलता-फूलता है। इसका अपना विज्ञान और विधियाँ हैं। स्वयं शिल्पकार को विश्वकर्मा कहा गया है।

हुनरमंदों के अपने प्रतिमान और पैमाने हैं। उन्हें बाहरी माध्यमों पर अधिक निर्भर नहीं रहना पड़ता है। एक संकल्पना को ग्रहण करने व कार्य की कच्ची सामग्री से लेकर कृति के पूरे होने तक की प्रक्रिया में लगभग सारी चीजे शिल्पकार द्वारा रची जाती हैं, अपने लिए या अपने गाँव या गाँवों के समूह के लिए। एक शिल्पकृति की निर्मिति के पीछे मूल भाव उस कृति के प्रति उनका प्रेम और श्रद्धा ही है।

कभी-कभार हो सकता है कि एक वस्तु के रूप और अभिकल्प का हमें ज्ञान हो, लेकिन फिर भी हमारी तथाकथित शिक्षित नजर भात/डिजाइन के लिए शिल्प वस्तु/कृति के सौंदर्य व सादगी को देखना और पहचान पाना मुश्किल रहा है। मैं दो उदाहरण देता हूँ। मैं कला के एक प्रोफेसर को दक्षिण गुजरात की जनजातीय संस्कृति से परिचय करवाने के लिए ले गया, जहाँ चौधरी आदिवासी एक नये दिन जिसे 'नवो दा डो' कहा जाता है- का उत्सव मनाते हैं। यहाँ वे 'ज्वार' और छाछ से एक घोल बनाते हैं और इसे दीवारों पर छिड़कते हैं अथवा कुछ ठेठ आदिम किस्म की आकृतियाँ बनाते हैं। उनका कहना है कि वे 'दीवारों' को 'खिलाते'/भोग लगाते हैं। उस प्रोफेसर ने मुझसे कहा कि गारेपुती इन झोपड़ियों में भला देखने के लिए क्या है? आप मुझे यहाँ क्यों ले आए हैं? वे कुछ भी अवलोक नहीं सके। यह उदाहरण हमें यह बताता है कि कला विद्यालयों अथवा किताबों में परिभाषित की जाती रही एक प्रकार की कला/शिल्प को ही देखने में हमारी आँखें इतनी रूढ़बद्ध व अभ्यस्त हो गयी हैं कि यह कुछ और के प्रति हमें असंवेदनशील बना देती है। हमारा ध्यान उस ओर जाता ही नहीं कि वहाँ देखने के लिए कुछ और भी हो सकता है। एक दूसरा उदाहरण लेते हैं जहाँ आदिवासी अपना एक वाद्ययंत्र देवडोवडी घण्टों तक बजाते हैं, लेकिन हममें इतना धीरज ही नहीं होता कि हम इसे देर तक सुन सकें। हमारी प्रतिक्रिया होती है - 'ओह! यह कितना थका देने वाला व कितना एकसुरा है।' हम आदिवासी संगीत का लुत्फ नहीं ले सकते! साधारण झाड़ू भी मटीरियल व तकनीक के अपने कितने उत्कृष्ट ज्ञान से बनाया जाता है। लेकिन हमारी नजर उधर जाती ही नहीं। मुझे सचमुच अच्छा लगेगा, अगर हमारे सन्दर्भ -केन्द्रों, कला और डिजाइन के विद्यालयों सहित शिल्प संग्रहालयों में इन

झाड़ुओं को रखा जा सके! हम आज तक भी एक शिल्प वस्तु/कृति की पुरानी व रूढ़बद्ध परिभाषा से ही बंधे हैं। अगर यह महंगे मटीरियल से बने और इसमें डिजाइन की तथाकथित पेचीदगियाँ हो तो यह एक शिल्प संग्रहालय में जगह बना पाती है! लेकिन यह सच नहीं है, एक सादा जूता भी एक सुन्दर कलाकृति हो सकता है और मेरा प्रस्ताव है कि शिल्प को इसकी सरल सादगी से/जरिये भी परिभाषित किया जाना चाहिए।

पता नहीं ऐसा कैसे हो गया है कि एक शिल्प वस्तु-कृति को हम बहुत मामूली/साधारण समझ लेते हैं। हम सोचते हैं कि उसमें रचनात्मकता कुछ बहुत ज्यादा नहीं है। ऐसा कई कारणों के चलते है -

1. जातिवाद
2. शिल्प वस्तुएँ अपने आसपास के साधारण मटीरियल से बनाई जाती/बनती हैं।
3. वे बहुत कम समय के लिए रहती हैं (अवधि/टिकाऊपन का प्रश्न)।
4. इसकी मूल्यवत्ता को समझ पाने में/की हमारी असमर्थता।

हर शिल्प वस्तु-कृति को अगर भली-भाँति परखा जाय तो उसमें गहरी विनयता से हमारा साक्षात् होता है। एक टेराकोटा घोड़ा या एक हाथी सादा-सरल घरेलू मटीरियल से बना है या बर्तन जैसे घड़े, केळुं, दीये इत्यादि। लेकिन इससे यह निष्कर्ष/मतलब नहीं निकाला जा सकता कि यह तकनीक में कम वैज्ञानिक या विचार व कल्पना में कम रचनात्मक है। उल्टा इसके मैं तो शिल्प वस्तु में एक विधि, एक पद्धति, एक अधिष्ठान और स्मरणीय गुणवत्ता पाता हूँ। आमतौर पर इन दो तत्वों को उपेक्षित कर दिया जाता है। शिल्प वस्तु को समझने के सिलसिले में और फलतः इसे प्रदर्शित करने में।

शिल्प परम्परा में, माँ के गर्भ से ही पाठारम्भ हो जाता है। शिल्प में जो पाठ है वह उतना ही सरल या कठिन है, जितना कि 'माँ' शब्द को उच्चारना सीखना 'माँ' या 'मम्मा'। इसके लिए किसी पाठशाला या अकादमिक अभ्यास की आवश्यकता नहीं पड़ती। हाथ और पांव कुछ करने के लिए दिए गए हैं और वे करते हैं। मन भी काम करता है। सर्वोपरि तो हृदय और रचनात्मकता

से नवोन्मेषी सुराग मिलते हैं, जो उन्हें अपनी कृति को अच्छे से बनाने में मदद करते हैं। ये मिले-जुले पाठ एक कला/शिल्प वस्तु की रचना में मदद करते हैं। यह वह हय्या सुज और कोठा सुज/इंट्यूटिव नॉ हाउ है, जो उन्हें हमारे प्रकार से सीखने या परफॉर्म करने से ऊपर उठा देती हैं। यह एक मनुष्य के अन्तःस्थल की रचनात्मक प्रेरणा है, जिससे नये रूप/अभिकल्प मूर्ति होते हैं।

एक वस्तु को अवलोकते हुए हम बहुधा यह नहीं जानते कि वह समग्र का एक भाग/अंग है। वियोजन में एक वियुक्त कृति के रूप में किसी भी शिल्प वस्तु को नहीं देखा जा सकता।

इसकी सम्पूर्णता और इसके उपयोग के सही सन्दर्भ में ही इसे देखा- आंका जा सकता है। आदिवासी पिठोरा चित्रांकन को लिया जा सकता है। खास तौर से एशिया में जहाँ परम्परा जीवित है, वहाँ सन्दर्भ रिक्त करके एक वस्तु को देखना भारी भूल है। सन्दर्भ और परिवेश/



वातावरण इसे पूरा अर्थ देते हैं और तस्वीर को आलोकित करते हैं। वे गहरे बोध से भर देते हैं। बहुत सम्भव है कि कोई यह कहे कि उसे सिर्फ अभिकल्प पसंद है, उसकी ऊपरी बनाव। ठीक है, लेकिन इसे पूरी तरह से जानने में, क्या यह आपके देखने-आंकने में बाधा डालता है? हो सकता है ऐसा हो, लेकिन जहाँ तक शिल्प वस्तु का ताल्लुक है, इसे पूरी तरह से जानना इसे सच्चे तरह से अर्थवान बनाता है।

बल्कि यह दूसरे पूर्ण (समग्र) का एक भाग है। हो सकता है कि एक बार उपयोग में ले आने के बाद वस्तु दूसरे रूप ले ले। जैसे गुदड़ी (क्विल्ट)। दूसरे रूप में वस्तु का यह पुनर्नवीकरण नई आवश्यकता से पैदा होता है और यह हमें मटीरियल के अधिकतम इस्तेमाल की ओर ले जाता है, एक न खत्म होने वाला चक्र। इस तरह हाथों और हृदय के जरिये जीवन में एकमेक एक

वस्तु को सृजित करना सात्विक आनन्द को उजागर करता है।

शिल्प संग्रहालयों में एक चीज को प्रदर्शित करने के सिलसिले में अग्रांकित चार व्यक्तियों को अनदेखा/उपेक्षित नहीं किया जा सकता- डिजाइनर/अभिकल्पक, क्यूरेटर/संयोजक व सूत्रधार, रचयिता/सर्जक और प्रदर्शित की जाने वाली वस्तु का उपयोगकर्ता।

मुझे यह समझ में नहीं आता कि एक शिल्प बनाने की प्रक्रिया को हम कहाँ देख सकते हैं, इसे प्रदर्शित करने का अवसर/मौका कहाँ है और भला इसे क्यों नहीं किया जाय?

मेरी राय में प्रदर्शन विषयवार तरह से ही करना चाहिए, तकनीक और हर वस्तु को एक सोपान क्रम में प्रस्तुत करते हुए जिससे/ जो इसकी निर्माण प्रक्रिया का पता चलता हो/बताती हो। उदाहरण के लिए टेराकोटा घोड़े को लें। शायद विश्वास न हो कि साधारण बर्तन इस घोड़े को बना सकते

हैं और मूलतः यह घड़ों व केळु का आपस में इकट्ठे जुड़ना है। यह प्रदर्शित किया जाना चाहिए और यथार्थ/असली कृतियों/छायाचित्रों/ रेखांकनों/ फिल्म और भी बहुत कुछ के साथ यह किया जा सकता है। 'माटी ये तेरे रूप' नामक प्रदर्शनी में हर कुम्हार से एक खास वस्तु चुनी गई थी और इसे उपर्युक्त बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए प्रदर्शित किया गया था। इससे बहुत सारे सिखावन-भरे प्रयोजन सम्पन्न हुए। जैसा किसी ने दर्ज किया है- 'प्रदर्शनी के जरिये गढ़ने व सजाने की तकनीकों को समझने में भी बहुत मदद मिली। मसलन दो मीटर का एक घोड़ा। इस घोड़े की निर्मिति में काम आये सारे अवयव-भागों को उस घोड़े की रूपाकृति के साथ ही प्रदर्शित किया गया था। निर्मिति की विभिन्न प्रक्रियाओं व अवस्थाओं को दर्शाने के लिए अन्य अनेक नमूने वहाँ थे।'

किसी भी वस्तु-कृति का अधिसंख्य ज्ञान उसकी आद्यंत परख से आता है। संग्रहालय में वस्तु को रखने पर यह प्रदर्शन (डिस्प्ले) को ज्यादा अर्थपूर्ण बनाती है। बहुत बार पर्याप्त जानकारी नहीं होने/मिलने पर एक विशेषज्ञ द्वारा स्वयं वस्तु-कृति का सूक्ष्म विश्लेषण बहुत कुछ उजागर करता है।

एक डिजाइनर/ क्यूरेटर के लिए यह बहुत आधारभूत बिन्दु है कि एक वस्तु-कृति का कौन सा हिस्सा अथवा कितना हिस्सा प्रदर्शित किया/दिखलाया जाना चाहिए, उसे एक उपयुक्त सन्दर्भ में विन्यस्त करते हुए/बहुत सारे संग्रहालयों में शिल्प वस्तुएँ कांच के खानों में प्रदर्शित की जाती हैं। इस प्रकार के खाने स्वतन्त्र स्पेसेज से बिलकुल भिन्न किस्म के होते हैं, जो वस्तु के नैसर्गिक परिवेश/वातावरण को चारित्रिकृत करते हैं।

प्रदर्शन के सन्दर्भ में इस पहलू को अकसर अनदेखा कर दिया जाता है। प्रदर्शन और प्रलेखन के बारे में सोचते हुए संग्रहालयों में हमारी जीवित परम्परा को प्रदर्शित करने के सिलसिले में कुछ बिन्दुओं को खयाल में रखना जरूरी है, अन्यथा प्रदर्शन अधूरा रहेगा -

वस्तु ठीक-ठीक कहाँ से आती है? वस्तु का उपयोग क्या है? इसके दूसरे उपयोग क्या है? (दूसरे उपयोग वाले सन्दर्भित मटीरियल भी संग्रहित किए जाने चाहिए।) क्यूरेटर और डिजाइनर को उन तरीकों को खोजना चाहिए ताकि इन्हें स्थायी तौर पर प्रदर्शित किया जा सके। हमारी परम्परा में जानकारी एकत्र करते समय सारी शिल्प वस्तुएँ उसी समय एकत्रित कर ली जानी चाहिए। रिकॉर्डिंग प्रभृति अन्य माध्यम भी महत्वपूर्ण है। संग्रहालय के लिए यह एक सम्पदा की तरह है। अपने उपयुक्त परिदृश्य व वातावरण में प्रदर्शित करने पर सिर्फ कुछ वस्तुएँ मात्र भी प्रदर्शन को अर्थपूर्ण बना देती हैं। जहाँ तक शिल्प वस्तुओं का संबंध है, उनमें से ज्यादातर की जीवन में एक गहरी भूमिका है। कभी-कभी वे बहुत सादा लगते हैं, लेकिन जब हम इसके पीछे की

प्रक्रिया से साक्षात् करते हैं, तब यह पहचान पाते हैं कि वह वस्तु कितना महत्वपूर्ण संसार लिये है और कितनी धाराएँ हैं, जो उसे 'जीवन' देती हैं और यह कितने विविध तत्त्वों के ताने-बाने से बुनी है। 'माटी ये तेरे रूप' में यह तत्त्व टेराकोटा घोड़ों की सेंक्चुरि (देव-स्थल) द्वारा रचा/निर्मित किया गया था। एक वस्तु के प्रयोग को प्रदर्शन के जरिये दिखाने के लिए यह तय करना अपरिहार्य सा है कि कैसे और कितना दिखाया/प्रदर्शित किया जाय। संग्रहालय, प्रेक्षक और प्रदर्शन इत्यादि की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए भी यह प्रयास करने चाहिए कि एक पूरा उपयुक्त वातावरण निर्मित हो सके।



एक वस्तु के प्रयोग/उपयोग के एक खास प्रामाणिक प्रदर्शन पर लिखित टेक्स्ट (मजमून) अगर पूरे वातावरण का एक हिस्सा नहीं बन पाता तो इन्हें नहीं लेना चाहिए। टेक्स्ट को समूचे प्रदर्शन से आत्मसात् हो जाना चाहिए। हो सकता है कि एक महत्वपूर्ण टिप्पणी आकार में इतनी बड़ी हो, जितनी की एक दीवार तो क्या? एक जीवित परम्परा में शब्द जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जैसे अगर स्वर्ण या रजत की प्रदर्शनी है तो पट्टिकाएँ स्वर्ण

या रजत में ही उत्कीर्णित की जा सकती हैं। अथवा माटी पर प्रदर्शनी है तो मिट्टी में। 'माटी ये तेरे रूप' में हमने टेराकोटा में पट्टिकाएँ बनाई थी। मोलेला के कुम्हारों ने इतनी लुभावनी पट्टिकाएँ तैयार की थी कि उस पर सभी का मन लिखने या उत्कीर्णित करने का हो। हमने मिट्टी के रंगों से उस पर लिखा था और उन पट्टिकाओं को पकाया था। इसे देखकर आजमगढ़ के एक कुम्हार ने अपनी तकनीक से एक पट्टिका बनाई और उस पर अपना साक्षात्कार छाते के तार से उत्कीर्णित किया। हालांकि वह चौथी कक्षा तक ही पढ़ा था, हमने उसका लेखन एक मुख्य प्रदर्शन के बतौर रखा। अक्सर हम तथाकथित लोग एक असाक्षर रचयिता को अनदेखा कर देते हैं, जबकि उसकी प्रतिकृति ज्यादा जीवन्त है, उनके प्रवक्ता व अध्येता की भूमिका अपना लेना एक घातक प्रवृत्ति है।

एक वस्तु के पुनर्नवीकृत हो बनती दूसरी नयी वस्तु की चर्चा करने से पहले यह देखना दिलचस्प है कि उसी एक वस्तु के कितने विविध प्रयोग-उपयोग हैं। उदाहरण के लिए एक चरवाहे का गमछा लिया जा सकता है, जिसे वह अपने कंधे पर डाले रहता है। यह कपड़ा कई तरीकों से काम में लिया जाता है। यह बैठे हुए कमर में लपेटने के काम आ सकता है, सिर पर पगड़ी के रूप में, किसी चीज को रखने-लपेटने/पोटली के रूप में, पालना बनाने में, चद्दर की तरह ओढ़ने-बिछाने के अलावा और बहुत कुछ की तरह यह काम में लिया जाता रहा है। मुझे लगता है कि प्रदर्शन में इस बिन्दु पर विचार किया जाना चाहिए और किसी भाँति इसे दर्शाया जाना चाहिए। इस बात को दिखलाया/दर्शाया जाना बहुत जरूरी है कि कैसे वही एक वस्तु विभिन्न उद्देश्यों को पूरा करती है। सवाल यह है कि एक वस्तु को कितने सटीक तरह से सन्दर्भांकित करते हुए विभिन्न रूपों में उसे जीवन के ताने-बाने में बुना/गूँथा जाता है।

हमारी जीवित परम्परा में रद्दी/वेस्ट जैसा कुछ भी नहीं है। जब एक वस्तु अपना विहित उद्देश्य पूरा कर लेती हैं तब या तो उसे विसर्जित कर दिया जाता है अथवा पुनर्नवीकृत। नया रूप लेते हुए वस्तु अपने पुराने रूप को बदल देती है। मसलन, पटोळा साड़ी को लें। मूलतः यह साड़ी के रूप में देह-पोशाक का उद्देश्य पूरा करने के बाद जब जीर्ण-शीर्ण/चिथड़ा रह जाती है, तब यह एक गुदड़ी/क्विल्ट के आवरण/खोल के लिए प्रयुक्त हो सकती है या इसे जलाकर आँखों के लिए सुरमे के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। लगभग सभी शिल्प वस्तुएँ अपने रूप व प्रयोग/उपयोग को पुनर्नवा करती हैं।

प्रत्येक संग्रहालय को एक खिले हुए फुल की मानिन्द होना चाहिए और दूसरे संग्रहालय अगर वे भी शिल्प संबंधित हैं, उन्हें भी विभिन्न फूलों सरीखा होना चाहिए। इन चीजों पर बात करते समय हम इसे सामान्यीकृत नहीं कर सकते। एक संग्रहालय सार्थक रूप ले सके। इसके लिए केवल कुछ मार्गनिर्देश ही दिए जा सकते हैं।

यह बहुत कुछ स्पेस, विषय इत्यादि पर निर्भर करता है। मेरा हमेशा सुझाव रहता है कि शिल्प संग्रहालय की इमारत का निर्माण अत्यन्त विनयता से जहाँ तक संभव हो सके, स्थानीय

मटीरियल द्वारा होना चाहिए। यह गगनचुम्बी संरचनाओं की तरह निर्मित नहीं होना चाहिए।

शिल्प-संग्रहालयों को अपनी प्रकाश व्यवस्था को सूर्य से जोड़ना चाहिए। जब कृत्रिम रोशनी की जाती है, तब गुणवत्ता सूर्य या चन्द्र जैसी होनी चाहिए। हमें अंधेरे की इज्जत करनी चाहिए और माहौल के मुताबिक इसका उपयोग करना चाहिए। बेशक एक बारीक चीज को दर्शाने के लिए पर्याप्त रोशनी चाहिए, लेकिन जो वातावरण यह रचती है, उसके प्रति संवेदनशील व सजग रहना बहुत जरूरी है। एक छोर पर जब हम रोशनी का इस्तेमाल करते हैं, तब दूसरी ओर नकारात्मक रोशनी/ अंधेरे को अनदेखा या उपेक्षित नहीं कर सकते।

ठीक इसी भाँति वस्तुओं को किसी भी धरातल पर प्रदर्शित किया जा सकता है- फर्श से लेकर छाजन तक। यह जरूरी नहीं है कि सारी वस्तुएँ केवल आई-लेवल पर ही रहे। 'माटी ये तेरे रूप' नामक प्रदर्शनी में कुछ बड़े/विशाल घड़े फर्श/जमीन पर थे और कुम्हार द्वारा कबीर के पद छाजन पर उत्कीर्णित किए गए थे। वस्तु मर्म को संवेद्य बनाने के लिए बहुत सारे विजुअल्स रखे जा सकते थे। प्रौद्योगिकी (टेक्नोलॉजी) के चलते हमें आज बहुत कुछ सुलभ है, जिसका इस्तेमाल किया जा सकता है। बहुत सारे माध्यम व साधन। यह संभवतः जरूरी भी है, क्योंकि हमने यह गलत धारणा सी बना ली है कि शिल्प का कोई विज्ञान, विधि व रचनात्मकता नहीं है। सो, इसे साबित करने के लिए इन तत्त्वों का इस्तेमाल किया जा सकता है। लेकिन माध्यमों का प्रयोग इस तरह नहीं होना चाहिए कि वे अलग से अतिरिक्त तरह से जोड़े हुए लगें, बल्कि उन्हें समग्र प्रदर्शन का सहज अंग बन जाना चाहिए। एक पूरा माहौल रचने के लिए अथक मेहनत व दृष्टि की जरूरत है।

दूसरी कलाओं की तरह शिल्प को कभी गम्भीरता से नहीं लिया गया, चाहे वह पहले के हों या नये। इसलिए एक खास तरह के संग्रहालय अधिक नहीं है। अगर वे हैं तो भी 'शो केस म्यूजियम' की अनुलिपियों जैसे और अन्तर्दृष्टिपूर्ण गुणवत्ता के प्रदर्शन से वंचित। इसलिए अपनी संस्कृति को संरक्षित रखने के लिए हमारे संग्रहालयों का बड़ा उत्तरदायित्व है।

यदि शिल्पकार प्रदर्शन का एक भाग बन जाता है तो यह सजीव हो उठता है। एक वस्तु-कृति के चयन से शुरू करते हुए उस भांति शिल्पकार को भी दृश्य-मंच पर लाना चाहिए। उसे एक ऐसा उर्वर वातावरण मुहैया करवाना चाहिए, जहाँ काम करना उसे अच्छा लगे और समयावधि को भी उसके कार्य के मुताबिक ही ढालना चाहिए। एक खास समयावधि बाद दूसरे शिल्पकार उसकी जगह ले सकते हैं। उसे ऐसा नहीं महसूस होना चाहिए जैसे कि वह एक चिड़ियाघर में हो या वह एक शो पीस हो। संग्रहालय के प्रदर्शन में 'शिल्प वस्तु' सबसे बड़ा कारण है तो 'वह' सबसे बड़ा प्राणी। संग्रहालय में इस रचयिता के सम्मुख सभी सिर्फ प्रेक्षक ही होने चाहिए। जाति, पद, धन इत्यादि की श्रेणियों व भेदभाव से बाहर आकर सिर्फ एक सहृदय प्रेक्षक।

## स्वच्छन्द

गुजरात में जनजातीय कला पर यह एक संक्षिप्त टिप्पणी है, जिसमें आदिवासियों द्वारा अपने धार्मिक उद्देश्यों और दैनंदिन जीवन के लिए बनायी जाने वाली कुछ खास शिल्प-कृतियों व कला-प्रकारों का विवरण व विवक्षा है। जहाँ तक इन दोनों पहलुओं का तात्त्विक है- आदिवासियों के जीवन जीने के अपने ढंग व रीतियाँ हैं- उनके कला रूप बहुत भिन्न हैं। उनमें से कुछेक को तो हम तब तक नहीं समझ सकते, जब तक कि उनमें बहुत गहरे तक न उतरें।

जनजातीय कला के दो मुख्य पहलू हैं। पहले में वे कलाएँ और शिल्प हैं, जिनका सृजन आदिवासियों द्वारा किया जाता है और जिनका इस्तेमाल भी वे स्वयं ही करते हैं। दूसरे में वे कलाएँ और शिल्प हैं जो गैर-आदिवासियों द्वारा निर्मित हैं, लेकिन जिनका इस्तेमाल आदिवासियों द्वारा किया जाता है। उदाहरण के लिए पकी मिट्टी की कृतियाँ/टेराकोटा सिर्फ वरिया कुम्हारों द्वारा ही बनाए जाते हैं। लेकिन रोगों को ठीक करने के लिए बनाई जाने वाली कच्ची मिट्टी की आकृतियाँ आदिवासी स्वयं बनाते हैं, जबकि चाँदी, कांसे, लाख के आभूषण अन्य जनों द्वारा बनाए जाते हैं। अगर हम काष्ठ-मगर अथवा स्मारक स्तम्भों या काष्ठ-खम्भों की बात करें तो इन्हें खास तौर से सिर्फ आदिवासी ही बनाते हैं। चित्र, वाद्य यंत्र, काष्ठ आकृतियाँ, दैनंदिन के बर्तन, कभी-कभी मिट्टी की कटोरियाँ ये सभी आदिवासियों द्वारा बनाई

जाती हैं। यह जानना दिलचस्प है कि कुछ चीजें जैसे बड़ौदा के पास छोटा उदेपुर क्षेत्र के आदिवासियों द्वारा पहने जाने वाली लंगोट गैर-आदिवासी हरिजनों द्वारा बनायी जाती हैं, जबकि मध्यप्रदेश के सीमान्त पर अलीराजपुर क्षेत्र के आदिवासियों में यह लंगोट स्वयं उनके द्वारा ही बनायी जाती है।

इन वस्तु-कृतियों में आदिवासियों का सत् है, भले यह स्वयं उनके द्वारा बनाई जाती हो या गैर-आदिवासियों द्वारा। कला को लेकर अन्तर्जात एप्रोच है और सर्वोपरि बात तो यह है कि यह उनके जीने का भाग है। एक शिल्प तक को अलग करना बहुत कठिन है, सिर्फ समग्र परिवेश ही इसका वास्तविक मर्म उजागर कर सकता है। हो सकता है कि वे बहुत कम राशि खर्च करते हों, लेकिन उनके द्वारा लिया जाने वाला ज्यादातर मटीरियल उसी क्षेत्र का होता है, जिसमें वे रहते हैं। वे दीवालें या तो मिट्टी, बांस, फूस, टहनियों, कपास की टहनियों, हाथ से बनी ईंटों से बनाते हैं या अधिक से अधिक वहाँ उपलब्ध पत्थरों से और फिर जिस पर वे मिट्टी और गोबर का लेप करते हैं। उत्तर गुजरात के कुंडोल गाँव में जो कि एक पहाड़ी इलाका है, वे दीवालें पर केवल दो रंग ही लगाते हैं- लाल और सफेद और दीवालें सिर्फ मिट्टी से ही बनाई जाती हैं- बहुत साफ व स्वच्छ लगती, यह वहाँ से शुरू होती है और हम जानते हैं कि बहुत गाँवों में अन्तिम लिपाई मिट्टी और गोबर के मिश्रण से की जाती है। यह अद्भुत है। यह दीवारों और फर्श को न केवल सुन्दर बनाता है, बल्कि भारतीय आबो-हवा के भी अनुकूल है। इस मिश्रण का बेहतर स्थानापन्न खोजना अभी बाकी है। यह विविध पैटर्न्स की भी रचना करता है।

उनके जीवन में मिट्टी आत्यन्तिक रूप से महत्व रखती है। सिर्फ यही नहीं कि उनके घर मिट्टी के मटीरियल्स और चीजों से भरे होते हैं, बल्कि भारत में सबसे अच्छा भण्डारण मिट्टी की कोठी होती है, जिसे कोठरी कहा जाता है, वह भी इन लोगों द्वारा बनाई जाती है। यह विभिन्न आकार-प्रकार की होती है-10 इंच से 10 फिट तक। इन पर बनाई जाने वाली डिजाइंस कभी-कभी ज्यामितीय होती है, तो कभी वे आकृतियाँ बनाते हैं जैसे छिपकलियाँ, बिच्छु, सूरज, चाँद इत्यादि। वे अपना जीवन माटी के बीच में बिताते हैं। अपने खेतों में मिट्टी से बनाई चीजों को देवता को अर्पित करते हैं। मिट्टी में से देवता रचते हैं। मृत्यु के बाद, कुछ आदिवासी मिट्टी के साथ रखवाली करते हैं।



चौधरी जनजाति मिट्टी का इस्तेमाल कर घूमट बनाते हैं और भटकती मृतात्मा के लिए इन्हें संस्थापित किया जाता है।

एक आदिवासी झोपड़ी की दीवारों पर जब आप कुछ भी देखते हैं, तो यह एक खास कारण से किया होता है। कुछ निश्चित मौकों पर तो दीवारों पर मिट्टी व गोबर का लेप भी एक खास कारण के लिए किया जाता है। मसलन चौधरी आदिवासी केवल आषाढ़ सुद बीज के दिन ही जो कि 'मृतक का दिन' है, इस मिश्रण से लीपाई करते हैं। एक खास दिन आत्मा का आह्वान करने के लिए उन्हें एक दिन पहले सारी साफ-सफाई करके सब कुछ को स्वच्छ बनाना होता है। पितृ-पूजा वाले दिन वे अपने पितरों सहित अपने झोपड़ों को भी खिलाते हैं। पितर-भोज के लिए वे खास चीजें बनाते हैं- ढकळां, खीर। और खेतों से नयी सब्जियाँ लाते हैं। खाने से पहले वे इसे छत पर रखते हैं और कौओं के रूप में पितरों का आह्वान करते हैं। पितरों को खिलाने के बाद वे झोपड़े को 'खिलाते' हैं। इस दिन को वे संज्ञापित करते हैं। 'घर जमाडीअ' वे यह कैसे करते हैं? वे ज्वार को लेकर इसे छाछ में मिलाकर गूँथते हैं। यह खाना झोपड़े के लिए होता है, अगर एक व्यक्ति की हैसियत ज्यादा करने की नहीं है तो उसे इस पेय को इतना तो बनाना ही पड़ता है कि वह इसे प्रतीकात्मक रूप में दीवारों पर छिड़क सके। पुरानी पत्तियों वाले झाड़ू से दीवार पर इस आटे को छिड़कने के अलावा वे अपने हाथ और पांव को भी छापते/अंकित करते हैं और अपने खेती वगैरह के उपकरणों पर भी इसे छिड़कते हैं।

नृत्यरत मुद्रा में आकृतियाँ बनाते हैं, पेड़ों पर चढ़ती आकृतियाँ, वाद्ययंत्र बजाती आकृतियाँ वगैरह। वे अपनी मिट्टी से बनी झोपड़ी पर भी चित्रांकन करते हैं। यह सफेद छाप, आकृतियों और छिड़काव से बने बिन्दु पूरे घर को समृद्ध बना देते हैं। वे निगेटिव और पॉजिटिव दोनों छाप बनाते हैं। पॉजिटिव जैसे हाथों और पांव की सीधे ही छाप अंकित कर देना, और निगेटिव या अप्रत्यक्ष इम्प्रेशन वे तब बनाते हैं, जब वे मुँह में द्रव्य लेते हैं और फूँकने के द्वारा इसका छिड़काव करते हैं। वे खजूर या बबूल की टहनी से आकृतियाँ आरेखित करते हैं। टहनी को तूलिका का रूप देने के लिए वे उसके एक सिरे को पीटते और चबाते हैं। आरेखित आकृतियाँ अक्सर 4" से 9" तक के आकार की होती

हैं और आपस में लगभग जुड़ी हुई। थोड़े फासले से देखने पर ये आकृतियाँ एक लिपि/स्क्रिप्ट जैसी लगती हैं।

निःसन्देह, यहाँ इस बात पर गौर किया गया होगा कि 'चित्र बनाना' अथवा 'चित्रकार' जैसे शब्द का उल्लेख तक नहीं किया गया है। उनकी गतिविधि महज चित्रांकन तक सीमित नहीं है। कई अन्तर्धाराएँ आपस में मिलकर इस पूरी गतिविधि की निर्मिति करती हैं, जिससे न केवल एक नया घर बनता है, बल्कि एक नया दिन 'नवो दा डो' भी।

उत्तर गुजरात में डूंगरी और भील गरासिया नामक जनजातियाँ घर की दीवारों पर विवाह के समय गोत्रज बनाते हैं।

विवाह से पहले वे पूरी झोपड़ी गोबर व मिट्टी से लीपते हैं और गोत्रज संस्थापित करते हैं। मुख्य कमरे की एक दीवार पर वे घर जैसा रूप बनाते हैं और इस पर चाँद अथवा सूरज की रेखा-कृति बनाते हैं। इस गोत्रज के समीप मिट्टी से बनायी गई गणेश की मूर्ति रखी जाती है और दूल्हा अथवा दुल्हन को शादी के पहले तक सारे समय इस गोत्रज पर रहना होता है। विवाहोपरान्त भी उन्हें यहाँ आना और गोत्रज को देखना होता है। इन दिनों यह गोत्रज नींबू के रस और एक बाँस की टहनी से बनाया जाता है। इसमें वे सूरज, चाँद और एक छत्तर-आकृतियाँ बनाते हैं। कभी-कभी पूरा चित्रांकित गोत्रज घर एक आकृति का आकार ले लेता है। हो सकता है कि दूल्हा या दुल्हन थोड़े समय के लिए इस गोत्रज से दूर न जा सके। पूरे घर में बहुत सारी आकृतियाँ आरेखित की जाती हैं, जैसे घोड़े और उनके सवार, शेर और शिकारी, मोर, मुर्गा, हल के साथ पुरुष, नृत्यरत मुद्राओं में आकृतियाँ। घर में कहीं कुछ आकृतियाँ हमेशा ऐसी होती हैं जो एक पुरुष और स्त्री के बीच, दो पशुओं अथवा यहाँ तक कि एक पशु और पुरुष के बीच रतिक्रिया को अंकित करती हैं। इन आरेखनों को वे बहुत सहज भाव से लेते हैं। इन दिनों कभी-कभी वे बसें, हवाई जहाज, साइकिल भी आरेखित करते हैं।

चौधरी जनजाति के लोग जो आकृतियाँ बनाते हैं, वे बहुत भिन्न-भिन्न तरह की हैं। ये रूपाकृतियाँ बहुत मुखर व भारी राशि वाली होती हैं और कभी-कभी बहुत सारे लोगों द्वारा आरेखित की जाती हैं। यूँ दीवाल पर रेखा-चित्र की भी विभिन्न शैलियाँ हैं।

अलग तरह के चित्रांकनों में मध्य गुजरात में पिठोरा प्रमुख है। पिठोरा राठवा, नायक, भिलाला समुदायों का देव है। एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक यह उनके घर में रहता है। यहाँ तक कि अगर कोई अपना घर बदलता है, तब भी वह इस दीवाल-चित्र को अपने साथ ले जाता है। अगर कोई नया घर बनाता है, तब भी वह अपने साथ पिठोरा के पुराने भाग को ले जाता है। पहले तो ईंटों का इस्तेमाल नहीं होता था और यह एक खपेड़ा बाँस की संरचना पर किया जाता था। एक पिठोरा वह चित्र है जो कम से कम दो दीवारों पर बनाया जाता है। अमूमन यह सामने की दीवार में तिकोनाकार पर होता है, जिसे चौक कहा जाता है। इस चौक में वे पचास से ज्यादा आकृतियाँ चित्रांकित करते हैं। पिठोरा चित्रांकन की विधि व संस्कारों से पूरा एक जीवन-दर्शन हमारे सामने खुलता है।

दरअसल, सारे संसार में आदिवासियों की मूलभूत वृत्तियों में समानता देखी जा सकती है। वे बहुत संवेदनशील, जीवन्त ऐन्द्रिय बोध से भरे-पूरे और अपने वातावरण में से रचने की नैसर्गिक व अन्दरूनी अभीप्सा लिए होते हैं। जीवन को लेकर उनके मूल्य और प्रवृत्तियाँ भिन्न हैं, जिनका हमें सम्मान करना चाहिए। वे जो करते हैं उसके पीछे सक्रिय मूल्यों को हमें स्वीकार करना चाहिए और उनके नजरिये से देखना और सीखना चाहिए।

आदिवासियों में वाद्ययंत्र बजाना बहुत प्रिय है। एक ग्वाल-बालक एक छोटी 'पीपी' बजाता है, जो ज्वार की पत्ती से बनती है और एक वयस्क एक छः फीट लम्बे वाद्ययंत्र 'डोबडु' को बजाता है। ये वाद्ययंत्र हमेशा उनके साथ रहने वाले साथी की तरह हैं। महिलाएँ 'किंगरी' और 'मोरचंग' बजाती हैं। बाँस, लकड़ी, खजूर के पत्तों, गोंद जैसी मूलभूत रचना सामग्रियों के जरिये वे अपने वाद्ययंत्र बनाते हैं।

अधिकतर आदिवासियों के घरों का दो-तिहाई हिस्सा सिर्फ खुला आकाश और धरती होती है। कुछ खास ऋतुओं में उन्हें अपने घर के अन्दर रहना पड़ता है। वरना तो अपनी झोपड़ियों

की मुख्य संरचना के अलावा घर के कुछ दूसरे हिस्से उनके लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं।

आदिवासी अपने घरों के वास्तुशास्त्री व भवन निर्माता स्वयं ही होते हैं। दक्षिण गुजरात में झोपड़ियाँ परस्पर बहुत समीप होती हैं और बाड़ नहीं लगाई जाती है, जबकि उत्तर गुजरात में झोपड़ियों के बीच पर्याप्त फासला रहता है और फेंस लगाई जाती है। परिवार में जब एक बच्चे की शादी होती है तो उसे नया घर मिलता है। परिवार में सभी लोग मिलकर नव दम्पति के लिए घर बनाते हैं। झोपड़ी जिस तरह से बनाई जाती है, उसकी शैली व रीति बहुत कुछ इस बात पर तय करती है कि उसे किस समुदाय द्वारा बनाया जा रहा है। दक्षिण गुजरात की कोटवालिया जनजाति में छोटी गोल बाँस की झोपड़ियाँ होती हैं। उत्तर गुजरात में भील गरासिया ठोस मिट्टी की झोपड़ियाँ बनाते हैं, जिसकी छत भट्टी में पके केळुं से बनती है।

जनजातियों के सन्दर्भ में यह बात गौरतलब है कि उनके संसाधन बहुत सीमित होते हैं और मुख्यतः वे प्रदेश व क्षेत्र के पर्यावरण में उपलब्ध सामग्री पर निर्भर करते हैं। लेकिन जो कुछ भी वस्तुएँ वे बनाते हैं, उन सभी में सोद्देश्य क्रियात्मकता रहती है। मसलन, मछली पकड़ने के जाल। ये सिर्फ बाँस की कतरनों से बनाए जाते हैं, लेकिन इतनी तराशी हुई तरतीब से कि हम अचम्भित रह जाते हैं। ठीक इसी तरह पक्षी पकड़ने के जाल भी।

जनजातीय जीवन का समूचा ताना-बाना जिस तरह से अन्तर्गुम्फित है, उसमें चीजों को पृथक करके देखा-जाना-समझा नहीं जा सकता। यह उनकी संस्कृति की समग्रता है, जो उनके रचनात्मक को जगाती है।

उनके द्वारा प्रयुक्त मटीरियल को लेकर उनका ज्ञान व आवड़त, परिष्कृत कौशल, रचने की नैसर्गिक व अन्तर्बोधात्मक इच्छा और अपने पर्यावरण का विवेक व न्यायसम्मत रूप से उपयोग, उनके जीवन को समृद्ध, रंगीन और सार्थक बनाता है।

## जल संसाधन और लोक

गोमती प्रसाद विकल

हमारी संस्कृति के केन्द्र में है नदी और नदी भी नारी प्रतिमा के रूप में पूरे देश में प्रतिष्ठित है। दो ही नद हैं- ब्रह्मपुत्र और शोणभद्र। और ऐसे अभिशप्त हैं कि भारत की सात कलनदियों की पवित्रता का पासंग भी नहीं छू पाते। ब्रह्मपुत्र में कुल एक दिन स्नान का पर्व है। और शोणभद्र गंगा संगम पर ही स्नान का महत्त्व है।

जिस प्रकार नदी निरन्तर बहती रहती है और ऊँचाईयों के मोह को छोड़कर बहुत निचली ढलान की ओर बहती है, उसी प्रकार माँ धीरे-धीरे अपने पिता और पति से सन्तान की ओर अभिमुख होती हुई उसी के सुख के लिए जीती है और इसमें ही नारी अपनी पूर्ण सार्थकता पाती है।

भारतीय लोक जीवन में सात कल नदियों का अनुष्ठानिक महत्त्व है। तन-मन की पवित्रता के लिए सात नदियों का स्मरण किया जाता है-

*गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति नर्मदा सिंधु कावेरी जलेऽस्मिन् सन्निधि कुरु।*

शोणभद्र का उद्गम सोनमुड़ा (अमरकंटक) माना गया है। इस संबंध में अनेक किंवदंतियाँ प्रचलित हैं। ऋषि जमदग्नि तपस्या रत थे, एक किसान बछड़ा और बछिया को जुए में बाँधकर जुताई कर रहा था। बछड़ा-बछिया प्रेमी-प्रेमिका थे। बछिया को किसान का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। दूसरे बछिया को हल में जोतना परम्परा के विरुद्ध था। इसलिए बछड़ा क्रुद्ध हो गया। उसने किसान के पेट में अपनी सींग भोंक दिया, जिससे वह मर गया। हत्या के पाप से बछड़े का शरीर काला पड़ गया। किसान के खून के

छींटे बछड़े की देह में पड़े, जिसे धोने के लिए वह सोन के कुण्ड में उतर गया। कुण्ड से बाहर आने पर बछड़ा फिर से अपने पूर्व रंग में आ गया। ऋषि पुत्र भार्गव परशुराम ने इस चमत्कारिक घटना को अपनी आँखों से देखा। लोक हितकारी परशुराम ने सोचा कि इतना पवित्र औषधीय जल एक ही स्थान में न ठहरा रहे, अतः उन्होंने कुठार की धार से कुंड की दीवार काटकर जल को प्रवाह दे दिया।

शोणभद्र का विवाह नर्मदा से होने वाला था, जो कतिपय कारणों से नहीं हो पाया। नर्मदा कुंवारी है। सोन और नर्मदा ने एक दूसरे की मान-मनौअल नहीं किया। दोनों आपस में रूठकर विपरीत दिशा में प्रवाहित हो चले।

*गर्विता पश्चिमाभिमुखा ।*

*नवारि नई कावेरी नर्मदा सैं।*

*रूठकर बेवजह.. ।*

*चला गया पूरब सरसराता*

लोक गीतों में इस प्रसंग का उल्लेख है-

*या जहिला बहै रेता अर पथरा मइयाकँच कुमारी रे ।*

*सोन बहादुर मुकुट बाँध के जहिला ला लाने बियाहे रे ।*

अर्थात् जुहिला जो रेत-पत्थर पर बहती है। सोन बहादुर ने मौर बाँधकर व्याह कर लिया। नर्मदा मइया कुमारी रह गई।

रीवा महाराज व्यंकटरमण से डिम्बा नाम के आदिवासी ने प्रार्थना की! अन्नदाता सोन पर बाँध बन जाय तो सिंचाई से इलाके की गरीबी दूर हो जायेगी। महाराजा ने आदिवासी की माँग को गंभीरता से लिया और डिम्बा प्रोजेक्ट की स्वीकृति दे दी, किन्तु कार्य वहीं पूरा न हो सका। कालान्तर में मध्यप्रदेश का गठन हुआ। सन् 1967 में संविद शासन हुआ, जिसके मुख्यमंत्री ने डिम्बा प्रोजेक्ट का नाम बदलकर 'बाण सागर' सिंचाई योजना के रूप में स्वीकृति दी। बाण सागर के उपक्रम से 249046 हेक्टेयर भूमि की सिंचाई हो सकेगी। मध्यप्रदेश एवं बिहार राज्य के मध्य हुए अनुबंधानुसार मध्यप्रदेश राज्य बाणसागर बाँध के तट पर सोन नदी के अपने क्षेत्र में जलविद्युत उत्पादन कर सकेगा। विन्ध्य क्षेत्र की पवित्र नदी सोन अपार जल राशि के सदुपयोग के लिए इन्द्रवती वैरेज के अलावा बाँध नहीं बनाए

गये। फलस्वरूप नदी की जलराशि बाढ़ की विभीषिका उत्पन्न करती रही है। जन अपेक्षाएँ पूर्ण नहीं हुईं। बाणसागर से विन्ध्या-चल धन-धान्य से भरपूर होगा।

पुराकथा के अनुसार ब्रह्मपुत्र का उद्भव भार्गव परशुराम के वृत्तान्त से जुड़ा है। गंध मादन पर्वत पर ऋषि शान्तनु और अमोधा तपस्या रत थे, आश्रम में ऋषि पत्नि अमोधा अकेली थी। उसी समय आकाश मार्ग से चतुर्मुखी ब्रह्मा की यात्रा हुई। अमोधा की रूप-राशि से विचलित ब्रह्मा का तेजस स्खलित हो गया। ऋषि जब आश्रम पर वापस आये तो कुटी के द्वार पर वही चमकीली धातु पड़ी थी। ऋषि ने अमोधा से पूछा कि यह कौन सी चमकीली वस्तु यहाँ पड़ी है। यह कैसे और कहाँ से आई?

ऋषि पत्नी ने आँखों देखी घटना बताई। ऋषि ने अपने तपोबल से ज्ञात किया कि यह ब्रह्मा का तेजस है। उन्होंने अमोधा से कहा कि ब्रह्मा के इस तेजस्वी तेजस को तुम धारण कर लो। इससे लोक कल्याण होगा। अमोधा ने ऋषि की आज्ञा का पालन किया। किन्तु तेजस्वी तेजस को संभाल नहीं पाई। वह स्खलित हो गया और निकट के तेजु पर्वत के कुण्ड में एकत्र हो गया। तेजु पर्वत को पार्वती का स्तन माना गया है।

आर्यावर्त में जल संकट गहराने लगा। आसुरी आचरण से प्रकृति का संतुलन बिगड़ गया। कहीं अति वृष्टि और कहीं अनावृष्टि होती। गोमती सूख गयी। सरस्वती में बाढ़ आई। चारों ओर दल-दल हो गया। पशु-पक्षी और प्राणी दल-दल में फँसकर छटपटाने लगे। वनस्पतियाँ कहीं सड़-झड़ रही थी, तो कहीं सूखकर उजड़ रही थी। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गई।

लोकोपकारी भार्गव परशुराम धरती की पीड़ा लेकर ब्रह्मा के धाम में पहुँचे। भूमि पुत्रों का कष्ट बताया। प्यासी धरती के लिए पानी की याचना की। ब्रह्मा ने लोकहित के लिए परशुराम को आदेश दिया कि तेजु पर्वत के कुण्ड में अक्षय जल का स्रोत है। कुण्ड की दीवार काटकर पानी की धार को धरती पर ले जाओ। परशुराम ने ब्रह्मा के निर्देश का पालन किया। कुण्ड के निकट पहुँचकर पूर्वाभिमुख हो प्रार्थना की ...

*नमोशान्तनु पुत्राय अमोधनन्दनाय च ।*

*नमस्ते सर्व संहत्रे कर्त्ते शुद्धाय वै नमः ।*

ब्रह्मपुत्र महावाहो शान्तनु कुलनन्दन।  
अमोधा गर्भसंपूत पांव लोहित्य में हर ॥

परशुराम ने अपने फरसे की धार से कुण्ड जल का अवरोध बनी पत्थर की चट्टानों को काट दिया। जलधार प्रवाहित हो चली। धरती रसा हो गई। हरियाली लौट आई। वनस्पतियाँ हँसने लगी। चिड़िया कहकने लगी। लोक जीवन संकट मुक्त हो गया। कृषि लहलहाने लगी। धरती धन-धान्य पूरित हो गई। ब्रह्मपुत्र नद की जय-जयकार होने लगी।

जल की सन्निधि में तीर्थ स्थल और तपस्या की संस्कृति विकसित होती है। जल जीवन का पर्याय है। वेदों के प्रचीनतम मंत्रों में जल की महिमा का गान है। जीवन की उत्पत्ति जल से हुई है। विष्णु के दशावतारों में प्रथम दो अवतार मत्स्य और कूर्म की परिकल्पना जल में की गई है। भारतीय चिंतन का यह महत्त्वपूर्ण पहलू है। इससे जलतीर्थ की जीवन्तता और व्यापकता सिद्ध होती है।



प्रकृति ने भारत भू-भाग को जल-संपदा की धरोहर दी है इसके बावजूद अपना देश पानी के संकट से जूझ रहा है। यह हमारी भूल है। मानवीय भूल है। हमने पानी को वस्तु मानने की भूल की जबकि पानी प्रकृति का वरदान है। जनसंख्या वृद्धि, शहरीकरण, जल संसाधनों की कमी और जल बँटवारे के विवादों ने जल संकट की समस्या को और अधिक गहरा दिया है। हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहने से कुछ नहीं होगा। समय रहते संकट से छुटकारा पाने का कर्म करना होगा। भगीरथ का संकल्प धारण करना पड़ेगा। नदियों को उनकी खोयी प्रतिष्ठा वापस करनी होगी। समय सानुकूल है, भारत जागरूक है।

भारत के लिए यह सबसे बड़ा अभियान होगा कि उसकी

नदियों को इस प्रकार जोड़ा जाये, ताकि पानी की कमी वाले राज्यों को भी पानी मिल सके। इस मामले में दूर दृष्टि की जरूरत है।

नदियाँ सभ्यता और संस्कृति की संवाहक हैं। नदियों के प्रवाह में इतिहास की सुदीर्घ परम्परा लिपटी हुई है। अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष का अध्यात्म चिंतन नदियों की तट-भूमि से उपजा है। शास्त्रों में भारत को नदी मातृक देश कहा गया है। नदी मातास्य इस विग्रह से नद्यतश्च से कप प्रत्यय होकर यह रूप बना है।

नदी, नहर, तालाब और झील से सिंचित देश को नदी मातृक देश की संज्ञा दी जाती है। भारतीय सामाजिक जीवन में नदियाँ पूजनीय हैं। जीवन संस्कारों के साथ नदियों की स्मृति प्रवहमान है। लोक मानस प्रत्येक नदी को गंगा तीर्थ मानता है। पर्व और त्योहारों में नदी स्नान का विशेष पुण्य और फल है। आधुनिक काल में जल ग्रहण, संरक्षण और सिंचाई की आवश्यकता के कारण नदियों की महत्ता बहुत अधिक बढ़ गई है। नदियाँ लौकिक और पारलौकिक हित का हेतु मानी गई हैं।

गंगा भारत की तीर्थ नदी है। हिमालय से निकलने के कारण इसे हेमवती भी कहा जाता है। गंगा के तट पर हरिद्वार, हस्तिनापुर, प्रयाग, वाराणसी आदि धार्मिक नगर और व्यापारिक केन्द्र स्थित हैं। वर्तमान में गंगा उत्तरप्रदेश के जनपद की जीवन रेखा है। गंगा से सिंचित भूखण्ड बहुत उर्वरक है। भाँति-भाँति की फसलें लहराती हैं। आर्थिक संकट का परिहार होता है। अनेक सहायक नदियाँ गंगा से मिलती हैं। लम्बी दूरी तय करके गंगा बंगाल की खाड़ी या गंगा सागर में समाहित हो जाती हैं।

गंगा विष्णुपदी हैं। विष्णु के पद नख से निकली हुई मानी गई हैं। कपिल मुनि के शाप से भस्म हुए सगर के साठ हजार पुत्रों के कंकाल को धरती से प्रवाहित (उद्धार) करने के लिए गंगा का धराधाम पर अवतरण हुआ। सगर के वंशधर भगीरथ ने घोर तप करके गंगा को धरती पर ले आये।

भगीरथ का तप एक इंजीनियर का श्रम है, जो दूरवर्ती देश में संचित जल राशि को नहर के द्वारा धरती पर ले आये। शंकर धरती के प्रतीक हैं। हिमालय उनका शिर है। हिमालय के चट्टानी कपाल पर शंकर जी ने गंगा की प्रखर धार को संभाल लिया। वृक्ष वल्लरियाँ और वनस्पतियाँ शंकर की जटाएँ हैं, जिसमें गंगा की धार समा गई। धरती पर लहलहाती फसलें शंकर के रोम हैं। नदियाँ रक्तवाही नलिकाएँ हैं। शंकर का लोक रूप लोकपूज्य है। पुराणों में गंगा-महात्म्य का वर्णन है।

*गंगा गंगोत्रि यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि।*

*मुच्चैयते सर्ववासेम्यो विष्णु लोक स गच्छति।*

पुण्य सलिला नर्मदा आम्रकूट (अमरकंटक) से निकल कर पश्चिम की ओर बहती हैं। नर्मदा के प्रवाह में विविधता है। कहीं पर शान्त और गंभीर रूप में बहती और कहीं विकराल रूप धारण कर लेती हैं। नर्मदा तट तपोभूमि और तीर्थस्थल माना गया है। रेवा तू नर्मदा नाम के कारण इसके उत्तर में स्थित राज्य का रीवा राज्य नाम दिया गया। रीवा महाराजा रघुराज सिंह जी ने नर्मदाष्टक लिखकर नमन किया है। आदि शंकराचार्य ने नर्मदा का स्तवन किया है।

*‘तत्वदीय पाद पंकजम् नमामि मातु नर्मदे’*

गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु, कावेरी-सात नदियाँ पवित्र और कल्याणकारी मानी गई हैं।

नदियों का व्यापारिक महत्त्व उल्लेखनीय है। नदियों के जल प्रवाह में नौकाएँ चलती थीं। व्यावसायिक वर्ग नौकाओं की सहायता से व्यापार करते। नदी तट पर बसे शहरों में अपना उत्पाद विक्रय के लिए पहुँचाते। इससे व्यापारिक संबंध और भौगोलिक एकता स्थापित होती है। महाभारत अरण्यक पर्व नलोपाख्यान में वेत्रवती (बेतवा) नदी के व्यापारिक और सांस्कृतिक महत्त्व का वर्णन है। कलि के प्रभाव से नल विचलित होकर

दमयन्ती को सोती छोड़कर वन में निकल गया। दमयन्ती ने विलाप करते हुए वनदेवता, गिरिदेवता और नदी देवता का स्मरण किया। उन्हें सहायता के लिए अनेक प्रकार से पुकारा। अंत में उसे एक महासार्थ दिखाई पड़ा, जो बेतों से भरी एक विस्तीर्ण नदी पार कर रहा था। वह वेत्रवती नदी होनी चाहिए। इस नदी को पार करके वह सार्थ चेदि जनपद की ओर जा रहा था। सार्थ का यह वर्णन संस्कृत साहित्य में अद्वितीय है। पाँच-पाँच सौ छकड़ों पर व्यापार का सामान लादकर एक छोर से दूसरे छोर तक यात्रा करने वाले सार्थवाह यहाँ की समृद्धि और संस्कृति के मूल स्तम्भ थे, इस महासार्थ का नेता अनेक सार्थवाह वणिजों का स्वामी था, उसके सार्थ में वेदपारायण ब्राह्मण, वणिक युवा, स्थाविर बाल युवा और अनेक पदाति जन थे। उसमें बैल, ऊँट, घोड़े, हाथी बहुत संख्या में चल रहे थे। वह सार्थ-मण्डल मनुष्यों का समुद्र (जनार्णव) सा जान पड़ता था, वह सार्थ यक्षराज मणिभद्र का भक्त था। मणिभद्र पद्मावती (ग्वालियर राज्य में पवाया) का प्रधान देवता था। वहाँ उसकी महाकाय पाषाण प्रतिमा प्राप्त हुई है। अनुमान होता है कि सार्थ पद्मावती से चलकर बेतवा पार करके चेदि देश अर्थात् सागर-जबलपुर की ओर जा रहा था।

नदियाँ संस्कृति की रचयिता हैं। इतिहास का विश्वास है। भूगोल की परिभाषा है। व्यापार की गणित है। जीवन का आदर्श और आनंद की कोख है। बाबा तुलसी ने नदी को कविता के साथ जोड़कर देखा है-

*चली सुभग कविता सरिता सो।*

*राम विमल जस जल भरिता सो।*

सुंदर कविता रूपी नदी बह निकली, जिसमें राम का निर्मल यश प्रवाहित है।

*उमा महेश विवाह बराती, के जलचर अगनित बहुभाँती।*

*रघुवर जन्म अनंद बधाई, भँवर तरक मनोहर ताई।*

शंकर और पार्वती के विवाह के बराती नदी की जलधार में रहने वाले अनगिनत और अनेक प्रकार के जल-जन्तु हैं। राम के जन्म की बधाईयाँ नदी की जलधार में उत्पन्न भँवर और तरंगों की मनोहरता है।

नदी के अनेक प्रकार के अलंकारिक प्रयोग मिलते हैं-

ढाहत भूप रूप तरू मूला। चली विपति वारिधि अनुकूला।

कैकेयी के क्रोध रूपी नदी दशरथ रूपी वृक्ष को जड़ मूल से उखाड़ती हुई समुद्र की ओर बह चली।

मानस सरोवर (तालाब) का बड़ा रूचिर रूपक रामचरित मानस में खड़ा किया गया है। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष मानस सरोवर के चार घाट हैं। सातकाण्ड सुंदर सीढ़ियाँ हैं। राम का निर्मल चरित्र जल है। उपमाएँ जल तरंगें हैं। काव्य युक्तियाँ मणिमुक्ता उत्पन्न करने वाली सीपियाँ हैं। चौपाईयाँ कमलिनी (पुरइन) हैं। छन्द-सोरठा और दोहे बहुरंगे कमल हैं, जिनमें ऊँचे भाव और भाषा का पराग और सुगंध हैं। संत सभा सरोवर के चारों ओर की अमराई हैं। भक्ति निरूपण लताओं के मण्डप हैं। मन का निग्रह उनके कूल हैं हरि चरणों में प्रेम फल है। तरह-तरह की कथाएँ कोयल, तोते आदि रंग-बिरंगे पक्षी हैं-

सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मन माना।  
रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनव सो बर बारि अगाधा।  
राम सीय जल सलिल सुधासम। उपमा बीचि विलास मनोरम।  
पुरइन सधन चास चौपाई। जुगति मंजु मनि सीप सुहाई।  
छन्द सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंगकमल कुल सोहा।  
अरथ अनूप सुबास सोहाबा। सोई पराग मकरंद सुबासा।  
संत सभा चहुँदिसि अमराई। श्रद्धा ऋतु बसंत सम आई।  
भगति निरूपन विविध विधाना। क्षमा दया दम लता विताना।  
सम दम नियम फूल फल ग्याना। हरि पद रति रस बेद बखाना।  
और कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहुबरन विहंगा।

प्रकृति ने धरती को जल राशि की प्रचुर संपदा का उपहार दिया है। जहाँ नदी-नालों में निरंतर जलधार बहती है। वहीं पर मनुष्य ने अपने पौरुष और कौशल से सरोवरों का निर्माण कर जल संग्रह किया है। समय की मार से सरोवरों की दशा दयनीय हो गई है। लोकाग्रह और आवश्यकता के अनुसार सरोवरों के पुनरुद्धार की योजना चलाई जा रही है। ये सरोवर प्राचीनकाल के राजाओं, सामन्तों और ब्रिटिश शासन द्वारा बनवाये गये थे। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में चंदेल राजाओं द्वारा बनवाये गये सरोवर मृतप्राय हो गये हैं। इनका जीर्णोद्धार हो रहा है, जिससे इस अंचल के वासियों को जल की सुविधा मिल सकेगी।

रामचरित मानस की अर्द्धाली है- सिमित-समित जल भरहिं तलाबा। रामायण काल में सरोवर का उल्लेख है। मतंग ऋषि के आश्रम की भक्तिन शबरी पम्पा सरोवर में स्नान करती थीं। तत्कालीन समाज के ठेकेदारों ने कुल-जाति की श्रेष्ठता के आधार पर आदिवासी शबरी को सरोवर में स्नान करने से रोक दिया। फलतः सरोवर का पानी प्रदूषित हो गया। उससे गंध आने लगी। कीड़े बजबजाने लगे। इस दुर्घटना को मिथकीय रूप दिया गया। परन्तु इसके पीछे वैज्ञानिक तर्क का आधार है। 'शबरी' सरोवर में केवल स्नान ही नहीं करती थी, वह उसके जल की सफाई भी करती थी। पानी में किसी प्रकार की हानिकारक वनस्पतियाँ नहीं उगती थी। इससे सरोवर का जल स्वच्छ रहता था तथा कथित कुलीनों ने शबरी को इस सामाजिक कार्य से अलग कर दिया। तालाब की सफाई के लिए वैकल्पिक व्यवस्था नहीं की। अतः सफाई के अभाव में तालाब का पानी सड़ गया। वर्तमान में नदी और तालाब के पानी के साथ यही घटित हो रहा है।

जल जीवन है, जल संग्रह की पुरातन परम्परा रही है। कुँआ, बावड़ी और तालाब बनवाकर जल एकत्र किया जाता रहा है। गाँव के लोग तालाब बनवाने में अग्रणी थे।

रीवा जिले के जोड़ौरी ग्राम में लगभग 2500 की आबादी है, लेकिन इस गाँव में 12 तालाब हैं। इसी के आस-पास है ताल मुकुन्दपुर जिसकी आबादी है 500। दस तालाब हैं, हर चीज का औसत निकालने वालों के लिए यह छोटा सा गाँव आज भी 50 लोगों पर एक अच्छे तालाब की सुविधा जुटा रहा है। जिस दौर में ये तालाब बने थे, उस दौर में आबादी और भी कम थी। यानी तब जोर इस बात पर था कि अपने हिस्से में बरसने वाली हर एक बूँद इकट्ठी कर ली जाय और संकट के समय में आपस के क्षेत्रों में भी इसे बाँट दिया जाए। वरुण देवता का प्रसाद गाँव अपनी अंजुली में भर लेता था।

पंद्रहवीं सदी तक भारत में तालाब बनवाने की परम्परा चलती रही। समाज जिस लोकोपकारी काम को लम्बी अवधि तक उत्साह से करता रहा, आज के उथल-पुथल भरे समय में मिटा जा रहा है। समाज समय के हाथ की कठपुतली बना जा रहा है।

तालाब बनाने के पीछे प्रथाओं का पालन होता था। उदार

और समाजोन्मुखी व्यक्ति अपने नाम पर तालाब बनवाते थे। वंशीधर का तालाब, गैवीनाथ का तालाब, गंगाराम का तालाब आदि राजा-रानी के द्वारा बनवाये गये तालाब उन्हीं के नाम पर जाने जाते थे।

तालाबों के साथ जातीय पहचान जुड़ी है। कोरी जाति द्वारा सैकड़ों की संख्या में तालाब बनाये गये। लौह कर्म करने वाली अगरिया जाति तालाब खोदने में भी निपुण थी। कोल, भील, मुड़हा, सहरिया जाति अपने छोटे-छोटे राज्यों में बहती नदी का पानी रोककर और तालाब खोदकर जल संसाधन तैयार करते थे। गोंड जाति का तालाबों से अटूट संबंध है। भोपाल तालाब बनाने की योजना राजा भोज की है, जो कालिया नामक गोंड सरदार की सहायता से पूरी हुई।

जिस तरह शरीर की रक्तवाही नलिकाएँ परस्पर मिली-जुली हैं, और रक्त प्रवाह से धड़कन उत्पन्न करती हैं, वैसी ही सोच नदियों के विषय में भी विकसित की गई है। यद्यपि अभी यह आकलन क्रियान्वित नहीं हो पाया है। जल-संसाधन के अंग के रूप में इस परिकल्पना को स्वीकार किया गया है। आज की तारीख में जो उमक़्रम इस दिशा में चल रहे हैं, उससे नदियों की पहचान बिगड़ रही है। औषधीय गुण युक्त गंगा जल प्रदूषित हो चुका है। गंगा के किनारे बसे बड़े-बड़े नगरों की नालियों का गन्दा पानी गंगा में गिर रहा है। गंगा जल की पवित्रता मिट रही है। वैज्ञानिकों द्वारा प्रमाणित शुद्ध गंगा जल अशुद्ध हो रहा है। गंगा के तट पर सिरजी भारतीय संस्कृति पाखण्ड और भ्रष्टाचार में आकंठ डूबी जा रही है। तपस्थल अशान्त है। अपने अतीत का स्मरण कर गंगा गिड़गिड़ा रही है।

यही हाल नर्मदा का भी है। पगे-पगे रंगोली रचाता नर्मदा का प्रवाह पूर्व जैसा नहीं रह गया। नर्मदा सागर और सरदार सरोवर से उपजी परिस्थिति से नर्मदा का स्वरूप बदल गया है। डूब के कारण गाँव उजड़ रहे हैं। नर्मदा का सौन्दर्य लुप्त हो रहा है।

नर्मदा के तटवर्ती प्रदेश का भूगोल तेजी से बदल रहा है, उसकी वन्य एवं पर्वतीय रमणीयता बहुत कम हो गई है। घने जंगल काट डाले गये हैं। कभी इन जंगलों में जंगली जानवरों की गरज सुनाई देती थी, अब पक्षियों का कलरव तक सुनाई नहीं

देता। उन दिनों नर्मदा के तट पर पशु-पक्षियों का राज था, लेकिन उसमें आदमी के लिए भी जगह थीं। अब आदमी का राज हो गया है, उसमें पशु-पक्षियों के लिए कोई जगह नहीं है।

प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुंध दोहन से पर्यावरण का संतुलन बिगड़ गया है। जलवायु संतुलित नहीं रह गई। वर्षा की अनिश्चितता है। अनावृष्टि और अतिवृष्टि का संकट गहराता चला जा रहा है। वर्षा की अनियमितता और जल संकट को देखते हुए नदी जोड़ने की योजना की उपयोगिता का इंकार नहीं किया जा सकता। जल संकट से निजात पाने एवं विकास की दृष्टि से नदी जोड़ योजना दूरदर्शी कदम हैं। नदियों को जोड़ना होगा। यह एक ऐसा काम है, जो देश की तकदीर बदल देगा। नदियों को जोड़ना, सूखे और बाढ़ की समस्याओं का स्थाई समाधान है।

तालाब जिनके तल में आब (पानी) होता था, आब हीन हो गए। तालाबों की पहचान संकट में है। तालाबों को तोड़-फोड़कर खेती योग्य भूमि बना लिया गया है। तालाबों का रूपांतरण हो रहा है। बड़े-बड़े बाँध बनकर सागर की संज्ञा दी जा रही है-बाणसागर, इंदिरा सागर। सागर कोई नया संबोधन नहीं है। लोक में तालाब के लिए सागर नामकरण पहले से मौजूद है। लोकमानस की धड़कन वाचिक कविता (लोकगीत) में सगरा (सागर) का उल्लेख किया जाता है।

ऋषि आश्रम से सीता पुत्र का रोचना (पुत्र-जन्म की शुभ सूचना) अयोध्या भेजवाती हैं। लक्ष्मण के ललाट पर वही रोचना लगा है। राम के ललाट पर रोचना लगाने से सीता ने रोक रखा था। राम चार घाटों वाले सगरा (तालाब) में दौतून कर रहे थे। इसी बीच ललाट पर रोचना लगाये हुए लक्ष्मण पहुँच जाते हैं। राम पूछते हैं-लक्ष्मण ललाट पर रोचना शोभित है। यह रोचना कहाँ से आया है-

चारि खूँट केर सगरा,  
त राम दंतुनि करहूँ हो।  
लक्ष्मिन भहर-भहर तोहरा माथ,  
रोचन कहाँ पाये हो।



सागर के साथ लोक संस्कृति और परम्परा का मेल है। सगरा का पानी पशु-पक्षी पीते थे और उसमें कमल लहराते थे-

सगरा खनाये का बड़ा फल।  
जो जल ओगरइ हो।  
गउआ पियइं जूड़ पानी,  
त पुरइन हलरदूं हो।

लोक नायिका को अपने बाबू (पिता) के द्वारा बनवाये गये सगरा का बड़ा गुमान है, वह मोरइला (मोर) को अपने पिता के सगरा में बोलने से बार-बार रोकती है।

एरिया कई बेरिया मैं बरजेंउ मोरिलबा,  
तइं मति बोले ना।  
मोरे बाबू के सगरबा,  
तइं मति बोले ना।

सगरा के साथ अद्भुत कल्पना की उद्भावना लोक गीतों में मिलती है। लोक चेतना का कहना है कि सगरा (तालाब) के आधे हिस्से में नाग बैठा है, और दूसरे आधे हिस्से में नागिन बैठी है। फिर भी कमल के बिना सागर शोभित नहीं हो रहा है। लोक जीवन में कमल का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है-

आधे सगरबा मा नाग बैठइ,  
आधे नगिनी बैठइं हो।  
मोर सगरा फलित नहि होइ,  
त एकु कमल बिन हो।

चार खूंटों वाले पानी भरे सगरा में कमल लहरा रहे हैं। उसी सगरा में दुलेरूआ (दुलारा लाला) साबुन लगाकर स्नान कर रहा है।

चारिन खूंट केर सगरा हो।  
बाबू हो पुरइन हालर लेइ।  
ओही मा दुलेरूआ त सबुनी करतु हो।  
धेरिया तउ पूछइं बाति।

नदियाँ संस्कृति की जननी है। अनेक पर्व और त्योहर नदी तट पर संपन्न होते हैं। प्रयाग में गंगा-तट पर माघ महीने में

कल्पवास का योग रहता है। श्रद्धालु जन एक माह की अवधि तक गंगा-तट पर निवास करते हैं। बारह वर्ष के कालान्तर में यहाँ कुंभ का मुहूर्त आता है। दुनिया का सबसे बड़ा कुंभ प्रयाग में होता है। प्रयाग में गंगा-यमुना का संगम है। यमुना नदी कृष्ण की बाल लीला की पहचान हैं। कृष्ण माता यशोदा से कुछ खाने की माँग करते हैं। विलम्ब होने पर गोपालों के साथ यमुना किनारे कदम्ब वृक्ष के नीचे गेंद खेलने चले जाते हैं। गेंद यमुना के कालियादह में गिर जाती है। कृष्ण अपनी गेंद निकालने के लिए यमुना में कूद पड़ते हैं। यमुना के पानी में कालिया नाग सो रहा था और नागिन हाथ जोड़कर बैठी थी। नागिन कृष्ण को यमुना जल से बाहर भाग जाने का अनुरोध करती है। लाला कृष्ण भाग जाओ। नाग की विषैली फुफकार से साँवले हो जाओगे। कृष्ण कहते हैं- मैं तो नाग के मस्तक से नाचूँगा और उसकी पीठ पर सवार होकर गोकुल जाऊँगा।

मचियहिं बैठी यशोदा त कृष्ण अरज करइं हो  
माया भूखि हबइ बड़ी लागि भोजन कुछ चाही हो  
मनकर मारी यशोदा मुँखहु नहीं बोलइं हो  
आबा चला चली गेंदहि खेलउ कदम तरे खेलब हो  
मचिकिन गेंद कदम तरे परिगई कालिया दह हो  
लाल कूदि परे झकझोरि गेंदउना के कारन हो  
नाग सोबइ फुफनिदिया नागिन कर जोरे हइ हो  
लाला भागई काहो तू भागा भागिन तुम जातेउ हो  
जानइ पइही नाग हमार देइही फुफकार होई जावेउ हो  
नदिया कइ कंसिया कटउबइ नागइ नाथि लउबइ हो  
आबा नाग पीठ होबइ असबार गोकुल चले जाबइ हो

यमुना, कृष्ण और गोकुल एक दूसरे में रचे-पचे हैं। लोक गीतों में बड़ी मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है।

गोकुल मां आजु बधाई बजी  
ललना का लइ कइ चले नन्द घर।  
बीच मा यमुना अगम भरी।  
गोकुल मा आजु बधाई बजी

नदी बार-बार लौटकर लोक के निकट आती है, और अनूठी संस्कृति रचती है। नदी का मनोहारी तट है। सुगंधित हवा बह रही है। नायिका की शिकायत है। मेरे श्याम (प्रिय) मुझसे

संवाद नहीं कर रहे हैं। बाग-बगीचे में तो मलिनियाँ से हँस-हँस कर बोलते हैं, परन्तु मुझसे नहीं बोलते।

नदिया किनारे हवा डोलइ,  
हमार श्याम हमसे न बोलइ।  
बाग मा बोलइ बगइचा मा बोलइ,  
मलिनी से हँसि हँसि बोलइ,  
हमार श्याम हमसे न बोलइ।

नदी किनारे की फुलवारी किसको अपनी ओर आकर्षित नहीं करती। जनकदुलारी सीता के हृदय में दोनों राजकुमार (राम-लक्ष्मण) का पुष्प वाटिका भ्रमण उतर आता है।

नदिया किनारे फुलवारी  
कुमार दुनौ देखन आये  
ठंडहु पानी गरम करि राख्यों  
सपरत जनक दुलारी  
नदिया किनारे फुलवारी।

अयोध्या और सरयू नदी का आपस में गहरा नाता-रिश्ता है। अयोध्या का नाम लेते ही सरयू नदी लोक मन में लहराने लगती है। भावुक मन-प्राण प्रफुल्ल हो उठता है। सरयू लोक रूचि को आकर्षित करती है। गुदगुदाती है। जनक नन्दिनी सीता सरयू स्नान के लिए अयोध्या नगर की कामना करती हैं-

सिया मांगइ आयोध्या कइ राजि  
सरयू नहाने को।

लोक व्यवहार में नदियों की भूमिका लोक गीतों में वर्णित है। व्रतबंध संस्कार का निमंत्रण बाँटने के लिए नउआ (नाई) निकलता है। रास्ते में गहरी जलधार वाली नदी मिल जाती है। नउआ नदी के किनारे-किनारे भटकता हुआ आवाज लगाता है- कोई मुझे नदी पार करा दो। केवटवासी कहते हैं- हमारे यहाँ न तो नाव है और न ही नाव चलाने वाले हैं। नउआ तुम तैरकर नदी पार कर लो।

नदिया के तीरे-तीरे फिरइ नउआ  
कोउ पार उतारउ हो।  
न त मोरे नाव नेबरिया

न नइया के खेवइया  
पमरि दह पार आवहु हो।

लोक परम्परा और नगर परम्परा दोनों इलाके में नदी की प्रतिष्ठा है। लोक बोध में नदी अनुरंजन और अनुष्ठानिक क्रिया कलापों के केन्द्र में होती है। शुचिता और पवित्रता की संस्कृति रचती है। लोक जीवन को परिभाषित करती है। नगर संज्ञान में नदी आदर्श पाठ पढ़ाती है। नदी निरंतर बहती है। पथ के अवरोधों को चूर-चूर कर आगे बढ़ती जाती है। कल-कल निनादिनी कूल-किनारों की प्यास बुझाती हुई तरुवरों को हरा-भरा रखती है। पर्वत की गोदी में उछलकर खेलती-कूदती लहराती हुई समुद्र में समाहित हो जाती है। निरंतर बहते रहना और आगे बढ़ना नदी की नियति है। जीवन का यही साध्य है। समाज का अध्यात्म इसी से विकसित होता है।

नदी-तालाब और कुँए (कूप) एक ही कुल गोत्र के नैसर्गिक नागरिक हैं। नदी और तालाबों का प्रतिष्ठान बड़ा है। अधिक व्यापक है। कुँआ का आकार छोटा है। नदी-तालाब के सदाचार के मुकाबले में कुँआ का आचरण सीमित है, परन्तु अपने लघु रूपाकार में कुँआ सम्पूर्ण इकाई है। कुँआ का निजी रूपाकार है, जल है और जल जन्तु है। कुँआ अपने सीमित रूपाकार के कारण लघु प्रकार का है। अन्यथा कुँआ समुद्र जैसा है। कुँए की दीवार सीमा को हटा दिया जाय, तो उसमें समुद्र की व्याप्ति आ जाती है। अपने सीमित सामर्थ्य के बावजूद कुँआ पूज्य है। कुँआ का निवासी मेढक मुहावरे में प्रयुक्त होता है।

कूप मंडूक होना अर्थात् सीमित ज्ञान वाला। कुँए के जल की अपनी निजता है। कुँआ का जल गर्मी के दिनों में ठण्डा रहता है और ठण्ड के दिनों में गर्म होता है।

लोकोक्ति प्रचलित है-

नारि पटौंहा कूप जल और बरगद की छाँव।  
गर्मी में शीतल रहै ठण्डी में गरमाय।

कुँआ लोक पूजित है। शिशु जन्म के अवसर पर कुँआ पूजन का संस्कार होता है। प्रसविनी घट लेकर कुँआ से पानी निकालने जाती है। साथ ही स्त्रियाँ कुँआ पूजन का लोक गीत

गाती चलती हैं-

ऊपर बदर घहराय हो,  
गोरी धना पानी का निकरी।  
जाय कहे मोरे राजा ससुर से  
अंगनइया मां कुंइया खोदावइं हो  
गोरी धना पानी का निकरी।

ऊपर आकाश में बादल गरज रहे हैं। वर्षा हो रही है। बाहर कुँआ में पानी भरने जाने वाली लोक नायिकाएँ भी गाने लगती हैं। वे समवेत स्वर में गाती हैं। मेरे श्रेष्ठ ससुर से कहना कि घर के आँगन में कुँआ खुदवा दें। बाहर के कुँआ में पानी भरने जाते समय वर्षा से भीग जाती हूँ।

कुँआ पूजन की अनेक छवियाँ हैं। लोक नायिका रेशम की डोरी में घड़ा फँसाकर कुँआ के जल में हिलोर उत्पन्न कर पानी भरती है। रेशम की डोरी के लिए सोने का घड़ा चाहिए, जिसे चाँदी की गोदरी (बैठकी) पर रखा जाये। चाँदी की गोदरी दुबली-पतली नायिका के सिर पर शोभा देती है। दुबली-पतली नायिका तब महत्त्वपूर्ण होती है जब उसकी कोख से पुत्र उत्पन्न हो।

जल भरौ हिलोर-हिलोर रेसम कै डोरिया  
रेशम डोरी तब नीक लागै  
जब सोने घइलना होय  
सोने घइलना तब नीक लागै  
जब पातरि धनियां होय,  
पातरि धनियां तब नीक लागै,  
जब कोरबा म ललना होय,  
जल भरौ हिलोर हिलोर रेसम कै डोरिया।

कुँआ आदिम राग का गायक है। विकास की कड़ी की महत्त्वपूर्ण इकाई है। नदी-किनारे उपजी सभ्यता और सम्पन्नता जब ग्रामों की ओर बढ़ी तो सबसे पहले कुँआ का जल ही जन की प्यास बुझाने के लिए आगे आया। कुँए में समुद्र की संभावना है। कुँआ व्यक्ति है और समुद्र विराट है।

नदी-तालाब और कुँए जल संरक्षण के उपाय हैं। वर्तमान सदी की उथल-पुथल के कारण इनकी दुर्दशा हो रही है। कुँओं का चलन बंद हो गया है। तालाब टूट-फूट गये हैं। नदियाँ सूख रही हैं। वर्षा का पानी व्यर्थ बहा जा रहा है। बरसात होती है। कहीं अनावृष्टि और कहीं अतिवृष्टि। बाढ़ की विभीषिका में शहर बह रहे हैं, गाँव डूब रहे हैं, फसलें नष्ट हो रही हैं। पानी का बड़ा भण्डार बहकर समुद्र में समा रहा है। धरती प्यासी की प्यासी रह जाती है। बंदू-बूंद का संकट गहराता जा रहा है। ऐसे में याद आती है- रहीम की पंक्तियाँ-

रहिमन पानीं राखिये, बिन पानीं सब सून।  
पानीं गये न ऊबरें मोती मानुष चून।

पानी आदिम काल से मनुष्य की नैसर्गिक आवश्यकता है, जिसे हमने अपनी लापरवाही और स्वार्थ के चलते भयानक संकट में बदल दिया है। जल संचयन के प्राकृतिक स्रोत कुँआ, कुँई, तालाब, बावड़ी, हौज, सरोवर और नदियाँ बीते जमानों की बातें हो गईं। बढ़ती जनसंख्या, वनों का अंधाधुंध कटना, नदियों के जल का प्रदूषित हो जाना, बाँधों का निर्माण और निजीकरण के जरिए बहुराष्ट्रीय कंपनियों के खुले मुँह आज हमारे सामने बड़े खतरे हैं। वह जलस्रोत है, जो मनुष्य की प्यास आदिम काल से बुझाता आया है। वह जिजीविषा की पुकार पर मानव की पहली खोज थी। प्राण रक्षा के लिए खोजी गई अतीत की वह उपलब्धि आज भी सार्थक है।

संदर्भ -

नदी नारी और संस्कृति / डॉ. विद्यानिवास मिश्र, अमरकंटक / श्याम कश्यप, अमरकोश 2/1/12/, विष्णु पुराण 9, भारत सावित्री भाग 2 / वासुदेवशरण अग्रवाल, रामचरित मानस, तालाब आज भी खरे हैं / अनुपम मिश्र।

## सौर एवं कोंदर जनजाति में गोदना

डॉ. बहादुरसिंह परमार

विंध्य की उपत्यकाओं पर स्थित वीरभूमि बुन्देलखण्ड भारत के हृदयस्थल में अवस्थित है, जो 23° से 26° उत्तरी अक्षांश एवं 77.9° से 79.5° पूर्वी देशान्तर के बीच स्थित है। इसके नामकरण को लेकर दो मत हैं। एक मत विंध्य से विंध्येला अथवा विंध्य की इला (भूमि) से विंध्येलखण्ड का अपभ्रंश रूप बुन्देलखण्ड मानता है, जबकि दूसरा मत यह कि बुन्देला शासकों के कारण इस अंचल का नाम बुन्देलखण्ड पड़ा। बुन्देला शासकों में सबसे प्रतापी महाराज छत्रसाल हुए, जिनके राज्य की सीमाएँ चार नदियों से निर्धारित होती थी। कल-कल निनाद करती चम्बल, टोंस, यमुना तथा नर्मदा बुन्देलखण्ड की सीमाओं का निर्धारण करती हैं। एक लम्बे समय तक महाराज छत्रसाल के एकछत्र राज्य को चुनौती देने का साहस किसी ने नहीं किया था, इसीलिए लालकवि की यह पंक्तियाँ बहुत लोकप्रिय हैं-

*इत जमुना उत नर्मदा, इत चम्बल उत टोंस।*

*छत्रसाल सों लरन की, रही न काहू होंस।।*

इस अंचल का नाम बुन्देलखण्ड चाहे जैसे पड़ा हो, यह विवाद का विषय हो सकता है, लेकिन यह निर्विवाद सत्य है कि यह भू-भाग बहुत प्राचीन है। इसे अतीत में चेदि, जेजाकभुक्ति, दशार्ण देश आदि नामों से पुकारा जाता रहा है। लेकिन वर्तमान बुन्देलखण्ड की भौगोलिक सीमा 'बुन्देलखण्ड का इतिहास' लिखने वाले दीवान प्रतिपाल सिंह ने अपने स्वरचित छंद में निर्धारित की है-

*उत्तर समथल भूमि गंग जमुना सुबहित है।*

*प्राची दिसि कैमूर सोन कासी सुललित है।।*

दक्खिन रेवा विंध्याचल तन सीतल करनी ।  
 पच्छिम में चम्बल चंचल सोहति मन हरनी ॥  
 तिन मधि राजे गिरि, वन सरिता सरित मनोहर ।  
 कीर्तिस्थल बुन्देलन कों, बुन्देलखण्ड वर ॥

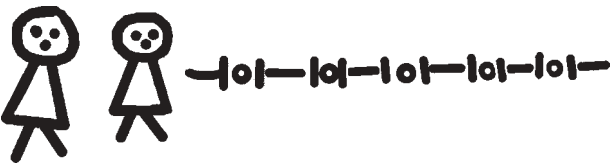
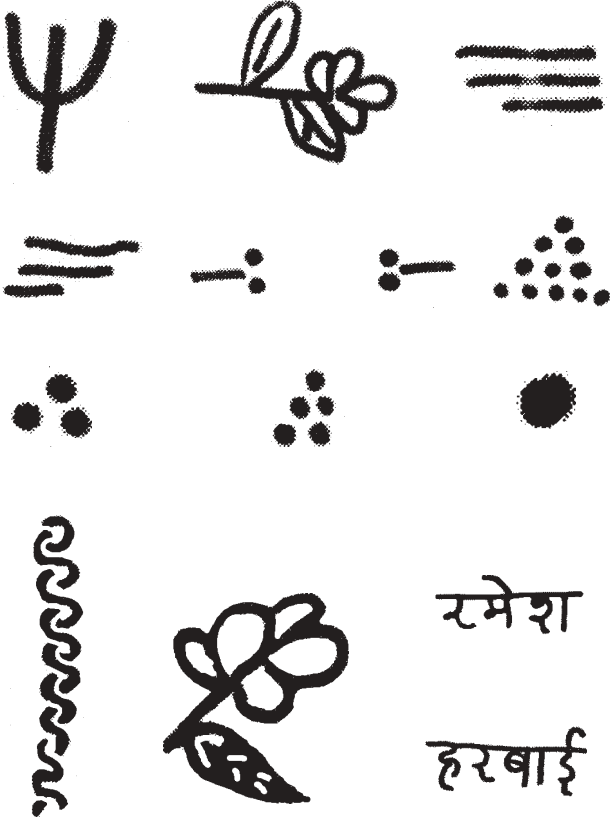
ऐसा बुन्देलखण्ड जहाँ एक ओर अपनी वीरता के लिए जाना जाता है, वहीं दूसरी ओर बुन्देलखण्ड की सांस्कृतिक परम्परा अत्यधिक समृद्ध व लोक संपृक्त है। बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति भारत और विश्व के अनेक जनपदों की लोक संस्कृतियों से भी प्राचीन है। नर्मदा घाटी के भूस्तरों की खोजों से पता चलता है कि नर्मदा घाटी की सभ्यता सिंधुघाटी की सभ्यता से बहुत पहले की है। भूगोलवेत्ताओं ने विंध्य मेखला को अजीव कल्प (AZOIC AGE) का माना है, जब पृथ्वी इतनी गर्म थी कि जीव का अस्तित्व संभव नहीं था। विंध्याचल की भीतरी चट्टानों में जीवों की सत्ता का कोई चिन्ह नहीं मिलता। नर्मदाघाटी में प्राप्त जीवाश्म व प्रस्तर उद्योग, भेड़ाघाट में प्राप्त पुरापाषाण युग के प्रस्तरास्त्र और सागर की दक्षिणी पेटे में मिली प्रागैतिहासिक सामग्री से बहुत प्राचीन संस्कृति के उद्भव की जानकारी मिलती है। होशंगाबाद की आदमगढ़ गुहा, सागर के आबचंद और नरयावली, छतरपुर के किशुनगढ़ क्षेत्र के शैलचित्रों में पुरामानव की चित्रकला के दर्शन होते हैं। इससे सिद्ध है कि बुन्देलखण्ड में लोकसंस्कृति की आदिम स्थिति वर्तमान थी। इस प्राचीन बुन्देलखण्ड के मूल निवासियों में यहाँ की आदिम जनजातियाँ गोंड, सौर कोंदर, भील आदि मानी जाती हैं। इन जनजातियों की अपनी परम्पराएँ व मान्यताएँ हैं। जीवन जीने के अपने तौर तरीके हैं। और सजने – सँवरने का अपना अलग ढंग है। इन जनजातियों में गुदना गुदवाने की प्राचीन परम्परा है।

## गुदना

प्रकृति प्रदत्त सौन्दर्य को सजाना मनुष्य की सहज वृत्ति है। इसका मौलिक व सहज रूप जनजातियों में देखने को मिलता है। जनजातियों के लोग खुद को सजाने-सँवरने में किसी से कम नहीं है। विभिन्न प्रकार के गहनों, फूलों, पत्तियों और वस्त्रों आदि से तो वे अपना अस्थाई श्रृंगार करते ही हैं। साथ ही स्थायी श्रृंगार

के रूप में शरीर पर गुदना की प्राचीन परम्परा है। भारत ही नहीं सारे विश्व में शायद ही ऐसी कोई जनजाति हो, जिसमें गुदना की परम्परा न हो। जनजातियों के लोगों का विश्वास है कि गुदना एक ऐसा श्रृंगार है, जो बाल्यकाल से मृत्यु तक साथ रहता है और मरने के बाद भी आत्मा के साथ परलोक जाता है। गुदना मानव शरीर का प्रथम अलंकरण है। इस कला ने वर्तमान तक आते-आते अनेक सोपान तय किये हैं। आरंभ में नुकीले पत्थरों, जानवरों के सींगों एवं हड्डियों से शरीर पर विभिन्न प्रकार की आकृतियों के घाव बना दिये जाते थे, तथा इन पर जंगली जड़ी-बूटियों का रस लगाकर इन्हें पका दिया जाता था। इसके बाद घाव सुखाने के लिये जड़ी-बूटियाँ लगायी जाती थी। घाव के सूख जाने पर आकृति उभर आती थी। यह गुदने का प्रारम्भिक स्वरूप था, जो आज भी अफ्रीका की अनेक जनजातियों में प्रचलित है। सभ्यता के विकास के साथ ही गुदनों के रूप और कला में भी परिमार्जन हुआ। शरीर पर आकृतियाँ बनाने के लिए पत्थरों और हड्डियों के स्थान पर कटइया नामक काँटे का उपयोग किया जाने लगा। इस पर दुधी का लेप करने के बाद न घाव पकाने की आवश्यकता रह गयी, न सुखाने की। काँटे से गुदना गुदवाने में तेज जलन होती थी और दुधी का रस लगाने से कभी-कभी घाव भी पक जाते थे, जिससे गुदना गुदवाने वाले को पीड़ा होती थी। अतः सबसे पहले भाटों और करन्टों ने लोहे की सुइयों और कालिख का उपयोग आरंभ किया। ये महीन, सामान्यता मोटी तीन प्रकार की सुइयों की सहायता से गुदना गोदकर उसपर दुधी के रस के स्थान पर लालटेन की कालिख लगाने लगे। इससे गुदना गुदवाने वाले को कष्ट कम होने लगा तथा गुदना गुदवाना सस्ता हो गया। इसके साथ ही गुदने की कला में निखार आ गया। विभिन्न प्रकार की बेल-बूटियाँ, मानव तथा पशु-पक्षियों की आकृतियों को गुदवाने का प्रचलन इसी समय प्रारंभ हुआ। अब गुदना गोदने की मशीन का आविष्कार हो जाने के कारण नगरों के निकट रहने वाली जनजातियाँ सुई-कालिख के स्थान पर मशीन से गुदना गुदवाना अधिक पसन्द करती हैं। बुन्देलखण्ड की सौर तथा कोंदर जनजातियों में वर्तमान में गुदना इसी मशीन में गुदवाये जाते हैं। मशीन से गुदना लाल, नीले तथा काले रंग के गोदे जाते हैं, छतरपुर में गुदना गोदने का काम कोरी जाति के कुछ लोग करते हैं, जिनमें से अमानगंज मुहल्ला निवासी किशोरीलाल कोरी यह काम करते

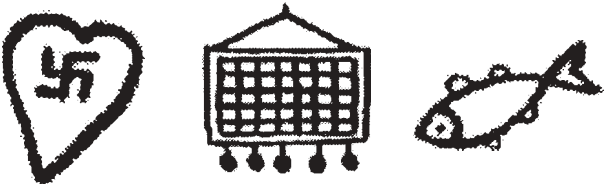
सौर व कोंदर जनजाति में गोदे जाने वाले गुदनों के नमूने



आँख की कोर पर

कानों के पीछे

हाथ की अँगुलियों पर



हाथ के पीछे की ओर

स्त्रियों के वक्षस्थल पर

हाथ की कलाई पर

हैं। उनसे बातचीत पर पता चला कि मेलों के अवसर पर उनका धंधा अच्छा चलता है। वर्ष के सामान्य दिनों में दूरस्थ गाँवों में जाकर वे कोंदर, सौर तथा गोंड जनजातियों के यहाँ गुदना गोदते हैं।

### सौर और कोंदर जनजाति

सौर जनजाति मध्यप्रदेश के पूर्वोत्तर भाग स्थित छतरपुर, टीकमगढ़, पन्ना, दमोह तथा सागर जिलों में पाई जाती है। इन्हें बुन्देली भाषा में साँउर कहा जाता है। प्रचलित भाषा में सौरा व राउत भी कहते हैं। सौर वैदिक युग के प्राचीन आदिवासी हैं, इनकी उत्पत्ति के संबंध में अनेक मत हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार सौर या शबर विश्वामित्र की संतान हैं। एक किंवदन्ती के अनुसार शबरों के आदि पुरुष जर शबर थे, जिन्होंने धोखे से भगवान श्रीकृष्ण पर बाण चला दिया था। इस जनजाति के कुछ लोग द्वापर युग के धनुर्धर एकलव्य से अपनी उत्पत्ति मानते हैं। सौर जनजाति के अधिकांश लोग अपने को त्रेतायुगीन माता शबरी की संतान मानते हैं, जिसके जूठे बेर भगवान श्रीराम ने खाये थे, इसलिए ऐसा प्रतीत होता है कि शबरी से शबर और शायद शबर का अपभ्रंश सौर हो गया। लेकिन जब उनसे पूछा गया कि माता शबरी तो भीलनी थी। तो इस पर वे कहते हैं कि माता शबरी सात बहिनें थी, जिनकी संतानें ही गोंड, भील, सौर, कोंदर आदि जनजातियाँ हैं। जबकि कुछ लोग कहते हैं कि माता शबरी तीन बहिनें थी, जिनमें से सौर माता शबरी की ही संतान हैं।

इसी तरह कोंदर जनजाति को बुन्देलखण्ड में खैरूआ या खैरवार के नाम से भी पुकारा जाता है। यह जनजाति छतरपुर, पन्ना, दमोह जिले के घने जंगली इलाकों में पाई जाती हैं, जहाँ खैर के वृक्ष अधिक होते हैं। उत्पत्ति व इस नाम के सम्बंध में जब कोंदर जनजाति के बसारी निवासी पढ़े-लिखे शिक्षक लक्ष्मण कोंदर से बातचीत की, तो उन्होंने बताया कि हमारी उत्पत्ति शिव बाबा यानि भोले से ही मानी जाती है। वे ही हमारे आदिदेव हैं। उनकी पूजा हम कुलदेव के रूप में करते हैं। खैरूआ या खैरवार नाम से पुकारने के पीछे उन्होंने बताया कि हमारे पूर्वज हमें बताया करते थे कि हमारा मुख्य आजीविका का साधन खैर (कत्था) बनाना था। खैर बनाने की प्रक्रिया के संबंध में श्री लक्ष्मण कोंदर ने बताया कि पहले खैर के पेड़ की लकड़ियों को

काटकर उसके तने को छीलते थे, फिर उस छिली हुई लकड़ी की चैलियाँ (लकड़ी के छोटे-छोटे टुकड़े) बनाते थे। इन चैलियों को मिट्टी की हंडियों में डालकर इतना पानी डाला जाता था कि लकड़ियों के ऊपर दो अंगुल पानी रहे। फिर उन हंडियों को भट्टियों पर चढ़ाकर गर्म करते थे। उसे इतना गर्म करते थे कि लकड़ी का रस उस पानी में उतर आता था। इस रस को हम लोग चासनी कहते थे। इस चासनी को कपड़े पर पहले राख डालकर फैलाया जाता था। जब यह चासनी सूख जाती थी, तो खैर (कन्था) बन जाता था। यह काम ही हम लोगों का मुख्य पेशा था, इसी कारण हमें खरूआ या खैरवार कहा जाने लगा। अब यह पेशा लगभग बंद हो गया है। इस जनजाति के कुछ विशिष्ट रीतिरिवाज हैं जिनमें प्रमुख यह कि विवाह के समय टीका के पहले वर-वधू पक्ष में तलवार से युद्ध अभिनय होता है। जब वधू पक्ष हार मान लेता है, तभी विवाह होता है। इसके साथ इनके यहाँ धागों से सिली कथरीं नहीं रखी जाती है। बिना सिले कपड़ों को ही ओढ़ने बिछाने में उपयोग किया जाता है। बुन्देलखण्ड की सौर व कोंदर दोनों जनजातियों में गुदना गुदवाने की परम्परा पाई जाती है।

### सौर और कोंदर में गुदना

मानव का पहला और स्थायी संबंध प्रकृति से रहा है। एक तरह से मानव भी प्रकृति का एक अनिवार्य हिस्सा है। जनजातियाँ आज भी प्रकृति से गहरा तादात्म्य स्थापित किये हैं, क्योंकि ये जंगल की गोद में रहकर वनोपजों से ही अपनी आजीविका चलाती हैं। बुन्देलखण्ड की सौर व कोंदर जनजातियों के स्त्री व पुरुष दोनों ही गुदना गुदवाते हैं। सौर जनजाति की स्त्रियाँ शरीर के किसी न किसी भाग पर गुदना अवश्य गुदवाती हैं। ये मस्तक पर एक बूँदा या फूल, नाक पर तीन या पाँच बूँदे, गाल या ठोड़ी पर एक-एक बूँदा गुदवाती हैं। कुछ स्त्रियाँ ठोड़ी पर तीन बूँदा भी गुदवाती हैं। आँखों के ऊपर फूल-पत्ती युक्त बेल, आँख की कोर के समानान्तर तीन-तीन सीधी रेखायें गुदवाकर मुखमण्डल की सुंदरता बढ़ाती हैं। इसी तरह से कानों के पीछे पाँच-पाँच या तीन-तीन सीधी रेखाएँ गोदी जाती हैं। हाथों की अंगुलियों में अंगूठी की आकृति गुदवायी जाती है। हाथ के पोंचा में पान पत्ता या बाँह में मोर और बेलबूटा आदि गुदवाये जाते हैं। सुहागिन स्त्रियाँ हाथ की नाड़ी के मध्य में पति का नाम तथा वक्ष स्थल के

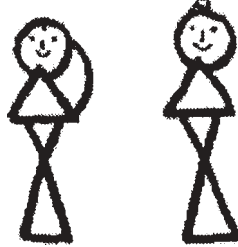
मध्य पति परमेश्वर की चौकी गुदवाती हैं। इन गुदनों को सुहाग का प्रतीक मानती हैं। पेट पर नाभि के दोनों ओर विभिन्न प्रकार की कमर पेटियाँ भी सौर जनजाति की महिलाओं में गुदवाने की परम्परा है। पिण्डली पर फूल-पत्तियों की बेलें गुदवाने की परम्परा भी इनमें विद्यमान है। पैरों में ज्यामितीय आकार के तिकोने भी कुछ स्त्रियों के गुदे देखे जा सकते हैं। कुछ स्त्रियाँ सूरज या चंद्रा भी गुदवा लेती हैं। विवाह के पहले सौर जनजाति की स्त्रियाँ हाथ में भाई का नाम ही गुदवाती हैं। ये गुदना उनका धन माना जाता है। गुदना से नारी सौन्दर्य में वृद्धि होती है, इसी सौन्दर्य से आकर्षित होकर बुन्देली लोककवि ख्यालीराम की वाणी भी यह कह उठती है -

*गुदना लसत भौंहे बिच बाँको, परत चन्द्र में टाँकौ।  
कै तौ परौ सेज के ऊपर, सौबे कंत रमा कौ।।  
गरल कण्ठ लै आन बिराजो, कैतो पति उमा कौ।  
कैतो गोद लिये ससि बुध खाँ, कै तौ नग पन्ना कौ।।  
कवि ख्याली लग जाय नजर ना, पट घूँघट लै ढाँकौ।।*

नायिका के भौहों के बीच गुदा गुदना इतना सुंदर लगता है कि उसके लिए कवि अनेक उपमान तलाशते हैं। वह चन्द्र में बिन्दु के साथ उसमें विष्णु-शिव के रूप देखता है, उसे लगता कि चन्द्रमा-बुध ग्रह को गोद में लिए है या उसमें पन्ना के हीरे का नग जड़ा हुआ है। इस गुदने से नायिका के मुख का सौन्दर्य इतना अधिक बढ़ जाता है कि कवि उसे नजर न लग जाने से सावधान करते हुए घूँघट डालने का परामर्श दे देता है। सौर जनजाति में स्त्रियों के साथ पुरुषों में भी गुदना गुदवाने की परम्परा देखने को मिलती है। पुरुष हाथ में पत्नी का नाम गुदवाने के साथ बाँह में मोर तथा कान में बूँदा भी गुदवाते हैं। कुछ पंजा में त्रिशूल या पान गुदवा लेते हैं। पुरुषों में स्त्रियों की तुलना में गुदना-गुदवाने का चलन कम देखने को मिलता है।

कोंदर जनजाति का भी प्रकृति से सीधा सम्पर्क रहा है। उनकी आजीविका भी वन से ही चलती है, इसलिए ये भी अपने साज श्रृंगार के लिए प्रकृति के संसाधनों का उपयोग ही करते हैं। इनमें भी गुदना की परम्परा पाई जाती है। इनके बुजुर्गों से बात करने पर पता चला कि पहले गुदना दुधी के दूध में कोयला मिलाकर गोदने की थी। किन्तु अब मशीनों से गुदना गुदवाये जाते

सौर व कोंदर जनजाति में गोदे जाने वाले गुदनों के नमूने



हैं। कोंदर जनजाति की स्त्रियों में गोदना बड़े सम्मान की बात मानी जाती है। इस जनजाति की लड़कियाँ मकर संक्रान्ति के अवसर पर लगने वाले मेलों में जाकर मस्तक पर एक बूँदा, तीन बूँदा या पाँच बूँदा गुदवाती हैं। गाल व ठोड़ी पर भी एक बूँदा, तीन बूँदा या फूल गुदवाती हैं। आँखों के बगल में तीन छोटी-छोटी धारियाँ भी गुदवायी जाती हैं। हाथों के कौंचा व नाड़ी में फूल, तोता, मैना, नाग, मछली तथा बिच्छू भी गुदवाया जाता है। कोंदर जाति की महिलाएँ विवाह के पूर्व अधिकांश गुदना गुदवा लेती हैं। विवाह के बाद पति का नाम नाड़ी में गुदवाने की परम्परा है। आजकल यह गुदने की परम्परा शिथिल हो रही है। बुजुर्ग महिलाएँ बतलाती हैं कि पहले वक्ष स्थल में चौक, कलश तथा फूल आदि गुदवाने की परम्परा थी। पहले कोंदर महिलाएँ जाँघों पर बेलबूटा तथा बूँदों से बनी आकृतियाँ गुदवाती थी किन्तु अब यह प्रथा लुप्त है। इस जनजाति की महिलायें मोर के साथ हिरन भी गुदवाती हैं। गोदना में हिरन की अपनी आकृति है। गोदना एक तरह से आदिम चित्रकला की विशिष्ट प्रवृत्ति है, अतः इसमें आदिम रेखांकन ही सुरक्षित हैं। इनमें आकृतियाँ सम्पूर्णतः अपनी हूबहू शकल में नहीं रहती हैं। इन आकृतियों के संकेत चिन्ह ही प्रतीकवत् सम्पूर्ण आकृति का बोध कराते हैं। हिरण के सींग व पांव के प्रतीकात्मक रूप गोदना में उकेरे जाते हैं। कोंदर जनजाति के पुरुष हाथ के बाजू में नाग, मोर तथा बिच्छू गुदवाते हैं। हाथ की नाड़ी में अपने प्रिय का नाम गुदवाने की परम्परा भी कोंदरों में है। इसके अतिरिक्त कौंचा में तीन पत्तियाँ तथा पीठ में बेलपत्तियाँ गुदवाने की प्रथा पहले थी, किन्तु अब विलुप्त है।

### जातीय स्मृति एवं प्रतीकार्थ

आदिम व्यक्ति के मन में देवकल्पना की अभिव्यक्ति प्रतीक रूप में ही प्रकट हुई है। अनेक समूहों में अनेक कालों के अनुसंधानों की अद्भुत कल्पनाएँ देव और राक्षसों के रूप में मूर्त होती रही हैं। विस्मय और चमत्कार से मनोजगत् में उठने वाले कल्पना विस्तार ने अनेक सिर, अनेक बाहु और अनेक मिश्रित आकृतियों का उदय किया। भावनाओं का यह संमूर्तन भी एक तरह की प्रतीकात्मकता थी। प्रागैतिहासिक सांस्कृतिक अनुषंगों में रूप की कल्पना को स्थूल की बारीकियों में ढालने की क्षमता नहीं थी। चित्रकला के माध्यम में यह बात परिलक्षित होती है। प्रागैतिहासिक चित्रकला के नमूनों में मात्र रेखांकन के सहज



माध्यम से आकृतियाँ बनाई गई हैं। अधिकतर त्रिकोण, वृत्त और परस्पर काटती सरल रेखाएँ ही चित्रों को रूपायित करने वाली हैं। इन रेखाओं में लय, गति और कार्य व्यापारों को समाहित कर लिया गया है। यही प्रवृत्ति गोदनों में परिलक्षित होती है। सौर व कोंदर जनजातियों में फूल-पत्तियों को गुदवाना आदिम अवस्था से प्रकृति के तादात्म्य का प्रतीक है। सौर जनजाति के गोत्र जिन्हें वे अपनी भाषा में बेंक कहते हैं, सामान्यतः किसी देवी-देवता, पशु-पक्षी व पेड़-पौधों पर आधारित हैं। इसी तरह वे गुदना में भी मोर, हिरन व फूल-पत्तियाँ गुदवाते हैं, जो उनकी प्राकृतिक निकटता से साथ प्रकृति प्रेम को निरूपित करते हैं। कोंदर जनजाति में नाग गुदवाने की परम्परा उनके वंश परम्परा की प्रतीक है। वे शिव भक्त हैं, इसलिए नाग की विशेष पूजा करते हैं तथा बाँह पर त्रिशूल भी गुदवाते हैं, जो शिव से उनके नाते को व्यक्त करता है। गुदना से जहाँ शरीर के सौन्दर्य में वृद्धि होती है, वहीं वे प्रेम के प्रतीक भी हैं। इसलिए स्त्रियाँ अपने पति का नाम तथा पुरुष अपनी पत्नि का नाम गुदवाते हैं। उनका मानना है कि मृत्यु के बाद भी गुदने में गुदा नाम उनके साथ अगले जन्म तक रहता है वह शरीर के साथ नहीं मिटता और उनके अनन्य प्रेम को प्रदर्शित करता है। मोर व हिरण का गुदवाना पशु प्रेम के साथ सौन्दर्य प्रतीक है, क्योंकि मोर सबसे सुंदर पक्षी व हिरण सबसे सुंदर पशु है। बूँदा तथा रेखाएँ विषम संख्या में गुदवाना जीवन संघर्ष का प्रतीक है। देखा यह गया है कि अधिकांशतः एक, तीन, पाँच, सात या ग्यारह की संख्या में बूँदा या रेखाएँ गुदवायी जाती हैं। जनजातियों का मानना है कि पूरी सम संख्या में रेखाएँ या बूँदा गुदवाने से जीवन में सुख नहीं मिलता है। कहने का आशय है कि विषम को सम करने में मानव को अपने जीवन खपाना चाहिए। कर्म व संघर्ष ही जीवन का मर्म है। मछली व चिड़िया प्रेम की प्रतीक मानी गई हैं, इसलिए इन्हें सौर व कोंदर जनजातियाँ गुदना के रूप में गुदवाती हैं। इस तरह हम देखते हैं कि इन जनजातियों की जातीय स्मृतियाँ इन गुदनों में समाहित हैं, जिनके अपने प्रतीक हैं।

### अलंकारिकता

गुदना गुदवाना लोक जीवन का पुराना शौक है। कदाचित् इसका आरंभ वात व्याधि की चिकित्सा के रूप में हुआ होगा।

इस रोग पर इसका व्यापक प्रभाव देखा गया है। बुन्देली जनजीवन में गुदनों का व्यापक प्रचार है। गुदना से रोग मुक्त होना एक कारण रहा होगा लेकिन वह सजने-संवरने का पर्याय भी रहा है। पारम्परिक रूप से अलंकारिकता का पर्याय है। आज बुंदेलखण्ड में पायी जाने वाली सौर, कोंदर तथा गोंड जनजातियों के साथ बुंदेली लोक जीवन में इसका बहुत प्रचार है। नारियों में इसके प्रति अधिक रुचि है। यहाँ तक देखा जाता है कि कोई बहू यदि अपने मायके से गुदना गुदवाकर नहीं आई है तो उसे ससुराल की समवयस्क ननदें या अन्य पारिवारिक महिलाएँ गुदना गुदवाने को प्रेरित करती हैं। इसलिए गुदना से सम्बन्धित बुंदेलखण्ड में यह श्रृंगार रस से ओतप्रोत गीत बहुत प्रचलित है -

गुदना लगत बदन पै नीकौ,  
माथे धरो बीच में बेंदा, लग रओ फीकौ।

गुदना लगत .....

चोलिन बीच मुरलीधर झांकत,  
छवि नहिं बिसरत जीकौ।

गुदना लगत .....

बहियन देखौ गुदे श्याम सुंदर,  
जीवन सुफल भओ जा जीकौ।

गुदना लगत .....

तार पेटी से गुदी करया पै,  
तन तलफत देखत ईको।

गुदना लगत .....

पैरन ऊपर बेल चढ़ रयी  
कहत बनै न जीकौ।

गुदना लगत .....

गुदना गुदवाने से नारी सौन्दर्य में अभिवृद्धि तो होती है, साथ ही आत्मिक सुख भी मिलता है। लोक विश्वास है कि इससे अध्यात्मिकता भी प्रबल होती है। गुदना गुदे होने से भूत-प्रेत भी पास नहीं आते। गुदना जब बाजुओं में गुदे होते हैं, तो तन सौन्दर्य में चार चाँद लग जाते हैं। आजकल यह सौन्दर्यवर्धक विधि टेटू के रूप में नौजवानों में भी देखी जा रही है। बुन्देलखण्ड की जनजातियों के पुरुष भी हाथ-कान तथा नाक पर गुदना गुदवाकर अपना सौन्दर्य बढ़ाते हैं। बुन्देलखण्ड में पाई जाने

वाली सौर व कोंदर जनजाति की नायिकाएँ गाल तथा डाढ़ी पर गुदना गुदवाती हैं, इससे इनके मुखमण्डल का सौन्दर्य बढ़ जाता है। इसी भार से प्रेरित होकर बुंदेली त्रयी के कवियों ने गुदने के कारण नायिका के सौंदर्य वृद्धि सम्बंधी फागें लिखी है -

(1)

गुदना लगत गाल पै प्यारौ, हम खाँ रजउ तुमारौ।  
गोरे बदन गाल के ऊपर, बन बैठो रखबारौ॥  
देखन देव नजर भर हम खाँ, घूँघट पट ना डारौ।  
ठाँड़ी राव देख लें चित सेँ, जी ललचात हमारौ।  
गंगाधर की तरफ देखकें, दै दओ तनक इसारौ॥

(2)

गुदना डाढ़ी पै गुदवाओ, आज देख हम पाओ।  
कै तानें दो चक्र चन्द्र पै, शुक्र सनीचर आओ।  
कै राहू नें समय पायकें, ससि को आन दबाओ।  
कवि ख्याली राधा को गुदना, मोहन के मन भाओ॥

हम देखते हैं कि नायिका रजऊ के गाल पर गुदा गुदना मनमोहक है, तभी नायक उसको नजर से जी भरकर देखना चाहता है, और नायिका से घूँघट न डालने का आवाहन करता है। इसी तरह टुड्डी पर गुदा गुदना ख्यालीराम को बहुत भाता है। इस तरह पर पाते हैं कि अतीत से वर्तमान तक गुदना सुन्दरता बढ़ाने का साधन रहा है। आज भी उसे जनजातियाँ बड़े चाव से अपनाये हैं, जबकि पढ़े-लिखे लोग गुदना का परिवर्तित रूप टेटू के माध्यम से अपने सौन्दर्य में वृद्धि कर रहे हैं।

बुन्देलखण्ड अंचल की सौर एवं कोंदर जनजातियों में अपनी मान्यताओं के साथ गुदना गुदवाने की परम्परा न केवल विद्यमान है, बल्कि वे उसे पूर्ण सम्मान से अपनाये हैं। पुरुषों की तुलना में स्त्रियाँ अधिक अब मशीन से मेलों में गुदना गुदवाकर अपने सौन्दर्य में वृद्धि करने की परम्परा का परिपालन कर रही हैं। गुदना गुदवाने में हल्की पीड़ा तो होती है, किन्तु रो-रोकर उसे गुदवाने का अपना अलग आनंद है। उमंग से बुंदेली धरा की सौर व कोंदर जनजातियाँ इस परिपाटी को आत्मसात् किये हैं, जिसमें उनकी अपनी जातीय स्मृतियाँ समाहित होने के साथ उनके अपने निहितार्थ हैं।

#### संदर्भ

- डॉ. काशी प्रसाद त्रिपाठी / बुन्देलखण्ड की सांस्कृतिक विरासत।  
डॉ. कृष्ण लाल हंस / बुंदेली और उसके क्षेत्रीय रूप।  
डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त / बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति का इतिहास।  
डॉ. परशुराम शुक्ल, डॉ. विभा शुक्ल / पत्रिका-बुंदेली बसंत।  
डॉ. ओम प्रकाश चौबे / सौर-बुन्देलखण्ड में निवासरत जनजाति का सांस्कृतिक अध्ययन।  
डॉ. श्यामसुन्दर दुबे / लोक: परम्परा, पहचान एवं प्रवाह।  
डॉ. श्यामसुन्दर बादल / बुंदेली का फाग साहित्य।

## गोंड गाथाओं का विश्लेषण

निरंजन महावर

### गोंडवानी

गोंडवानी गाथाओं की रचना परधान गायकों द्वारा की गई है। इन गाथाओं का प्रथम बार संकलन एवं प्रलेखन स्व. शेख गुलाब ने परधान गायकों से किया था, जिसे स्व. ठाकुर भाई नायक ने सन् 1965 में आदिम जाति कल्याण विभाग द्वारा प्रकाशित करवाया था। इस ग्रन्थ में छै गाथाएँ संकलित हैं : राजा पेमलशाह, राजा हिरदेशाह, हीराखान क्षत्री, बैहामारी, पाली बिरवा तथा राजा लोहगुंडी। राजा पेमलशाह गाथा के अनुसार गढ़ा मण्डला गोंड राजवंश के संस्थापक थे। उनका पुत्र हिरदेशाह एक शूरवीर गोंड नायक था, जिसने गढ़ा मण्डला को एक शक्तिशाली राज्य के रूप में स्थापित किया। गोंड गाथाओं में समय एवं काल की अवधारणा का स्वरूप अनन्तरूप में मिलता है। इस गाथा में पेमलशाह एवं हिरदेशाह के समय को 'सत जुगानी' अर्थात् सतयुग कहा गया है, जो भारतीय काल गणना के चार युगों में सर्वप्रथम माना जाता है। गाथाओं का आरंभ देवी-देवताओं के सुमरण से होता है, जो एक शैलीगत मान्य परंपरा है।

.....हाय राम का सुमरण करले रे भैया हो ५५

अब गाय के सुनार्थों राजा पेमलशाह ला भैया

तेखर बेटा हिरदेशाह की शूरबीरी ला दादा ५५

कैसे सतधारी गोंड राजा भै गै रे दादा

हाय ५५ पेमलशाह हिरदेशाह के किस्सा ला हो ५५

गोंड राजन में रे भैया

पेमलशाह राजा जाहिर भैगै है रे भैया

जैसे लरका हिरदे शाह रे भाई

जेखे नाम से कंप गै है दादा  
दिल्ली का रूम बादशाह  
उनकर कहानी ला गायके सुनाथों  
कान धर के सुन हो ५५  
सब पंच भैया रे हो  
सत जुगानी बात हवै  
जनम जुगाधन की  
कैसे बिरमा रे भैया रचे है संसार हो  
बाम्हन औ छतरी, गोंड रचे दादा

हो ५५ एक दिना बिरमा अपन मन मा सोच थै। इतहा बड़े संसार ला रच डारेव अखर ऐखर पालन का भार केला देंव। कोन्नों के जिम्मे तो लगाने ही।

गाथा का आरंभ गोंड जनजाति की सृष्टि उत्पत्ति कथा से होता है। ब्रह्मा ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा गोंड तीनों को बुलाकर पृथ्वी का भार सौंपना चाहते हैं। वे सर्वप्रथम ब्राह्मण से कहते हैं- सुन ले रे बाम्हन। तैं मोर लरकन मा सबसे जादा पढ़े लिखे हस, अखर तैं या पिरथी के भार सम्हार!

ब्राह्मण कहता है- 'मोर ले न बनही महाराज! मोला बात करवा ले पोथी बंचवाय ले। मैं काम करने का जानों। दूसर के बूता मा तो मैं पलथों, मैं कहाँ पालहूँ तोर संसार ला। नहीं दादा मोरसे या न बनही!' इसके उपरान्त ब्रह्मा क्षत्री को बुलाते हैं, और उसे संसार चलाने का भार सौंपना चाहते हैं।

छत्री कहथै- मोला मारकाट करायले दादा। या पालन के बोझ ला मैं नहीं बोह सकों। इतना कहके छतरी भग दै है हो ५५।

इसके पश्चात् बिरमा ने सीधे साधे गोंड को बुलाकर कहा- 'सुन रे गोंड बेटा। मैं अतनहा बड़े संसार के रचना कर डारेंव हों। लाखों-लाखों जीव जंतर बनाय डारेंव! टखर उनखर पेट कौन भरही या विचारतरी नहीं आवै!' बम्हना ला बुलायो वा नाही कर दइस, छतरी ला बुलायों, ओहू नाही कर दइस। अब तैं बचे हस बेटा! संसार के पालन केर जिम्मा लै लेते तो मोर फिकर मिट जातिस। गोंड तूरा नाही करवे तो जानतैं न रहै। हो तो महाराज जेन कहहो तैनै करहों, कहके ठाढ़े रहिस!

ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर कहा-

मोर संसार के तैं होते पलैया रे  
सब तोला रे बेटा किसान कहहीं दाऊ  
ले धरले नांगर और धर लै बैला  
रन भाटा धरती ला कोड़ कोड़ तूरा  
अन्न कमावे रे  
जीव जन्तर सब तोसे पल हीं रे दादा ५५

गोंड जनजाति की सृष्टि की उत्पत्ति कथा में उनके आदिदेव लिंगोपेन ने उन्हें कृषि कार्य में लगाया था। इस गाथा में हिन्दू प्रभाववश लिंगोपेन का स्थान ब्रह्मा ने अपना लिया है। गाथा में आगे मध्यभारत की सभी जनजातियों की उत्पत्ति गोंड जाति से ही बताई गई है। भील, बैगा, देवार, कोल, भारिया सभी गोंड के शरीर को मथने पर उत्पन्न दर्शाए गये हैं। देवताओं ने भील को जो धनुष बाण धारण किए हुए हैं, उसे नर्मदा के पार पर्वतों में रहने हेतु यह कहते हुए भेज दिया- 'नरबदा के उस पार डोंगरन मा रहबे और लूट मारके खाबे!' बैगा को यह कहते हुए नरबदा के उद्गम पर्वत श्रेणियों में (मैकल पर्वत) भेज दिया- 'नरबदा निकासु के डोंगरन मा काँदा कूँदा खोद खाद के खाबे।' ब्रह्मा ने कोल तथा भारिया से कहा- 'तुमन ले राज नहीं सम्हरे, जाव मोर गोंड तूरा के संगै संग रहहो और कबार (श्रम) करहो। अन्त में गोंड के शरीर से राजगोंड उत्पन्न हुआ। उसे देखकर ब्रह्मा ने कहा- हाँ या हवै राजा। कुर्रा धरे। कुर्रा के सबन ला एक रस्ता ले हाँकत ले जाहो।

हो ५५ तैं अब ईहाँ राज करबे रे बेटा।  
कहके बिरमा अपना लोक मा भगे हवे हो ५५  
अब तभिभच ले रे भैया  
ये गोंड राजा, राज गोंड भाई  
राज करन लगिन है रे दादा  
अब ये ही घराना में रे भैया  
राजा पेमलशाह जग जाहिर राजा भये हवै रे भैया  
शंकरशाह, दल्पतशाह रे दादा  
इन चारों भैया पेमलशाह के पैदा लये हैं रे हो ५५

गाथा में उल्लेख किया गया है कि पेमलशाह के शासन काल में एक बार भीषण अकाल पड़ गया था, जिसके कारण पशुओं की तथा जान माल की भारी क्षति हुई थी। संपूर्ण धन, अन्न, पशु इन सफा नाश भै गैन। गाथा में इस विपत्ति का वर्णन

इस प्रकार किया है -

या विपदा रे भैया रामजी पै परगै  
सीता के लाने बन बन रोइन  
या विपदा रे दादा लछमन पर परगै  
इन्दर कामनी बोकरा बनाय के राखिस  
या विपदा रे भाई पंडवन पर परगै  
नगर बैराट मा दादा नौकर बन के रहिन  
सोई विपदा राजा पेमलशाह पर परे हैं हो ५५  
हो ५५ कैसे विपदा पर गैहे भैया  
राजा मोरे पेमल शाह रानी मोरे पोहपाल  
दोनों झना दादा चिथरा न चिरकट  
तिनहा साही भैगेन डोंगरन के कांदाला  
खोद खोद खाथै।

गाथा में आगे राजा पेमलशाह तथा उसकी रानी के कष्टों का वर्णन किया गया है। परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए उन्हें जंगल से लकड़ियाँ काटकर कल्लाल की कल्लारी पर बेचकर अजीविका चलानी पड़ती है। आगे जादू देवकृपा आदि का वर्णन है। गोंडजाति के पराविश्वासों का तथा उनके मिथकों का समायोजन गाथा में पूर्ण कुशलता के साथ हुआ है। रानी पोहपाल भीषण कष्ट में अपने भाई के यहाँ जाने का निर्णय करती है। उसका मायका पातालकोट (छिंदवाड़ा) में है। उसके माता-पिता की मृत्यु हो चुकी है। एक भाई है भोजा बल्लारे। भौजाइयाँ उसकी इस दशा को देखकर उसकी खिल्ली उड़ाएँगी। परन्तु फिर भी वह साहस जुटा कर जाती है। खाली हाथ कैसे जाये, अतः वह अपने साथ कुछ कंदमूल लेकर प्रस्थान करती है। पातालकोट के दुर्गम मार्ग का गाथा में रोचक वर्णन किया गया है। इसी प्रकार से गाथा में पातालकोट का वर्णन भी हुआ है- चौफेरा ले पहार के दीवार साँही खिंचै हवै। जहाँ सूरज चंदा नहीं झाँझ सकै आदमी के तो गिनती का हवै।

रानी की दो भौजाइयाँ हैं, जो उसे अपमानित करती हैं और उसे मुर्गी के दड़बे में ठहरा देती हैं। यहाँ देवताओं के चमत्कार आदि का वर्णन किया गया है। रानी बड़ादेव का स्मरण करती है कि उसके वहाँ आने की खबर वे उसके भाई को दे दें। गाथा में शंकर को बड़ादेव कहा गया है। गोंड जनजाति के आदि देव

बड़ादेव का परिवर्तन शंकर या शंभू के रूप में गोंड राजवंशों के काल में हिन्दू प्रभाव से आरंभ हुआ।

रानी ने बड़ादेव का सुमरन किया -

हो ५५ यहाँ ऊपर सतखंडा में बड़ादेव शंकर झूला में झूल रहे हैं। सोने के पलना मा सोने के जंजीर लगे हैं। बड़ादेव को सेवक झुलाय रहे हैं। हो ५५ जब रानी पोहपाल सुमरन करे हैं बड़े देव के तेन कौन मन-सनिया आय गुहरायसी केखर ऊपर कष्ट गैसी। बड़ा देव उड़कर राजा के महल में जात हैं जो छै मासी नीद में सो रहे हैं। बड़ादेव ने राजा को जगाकर उसकी बहिन के कष्ट के विषय में बताया। उसने अपनी बहिन के साथ किये गये व्यवहार के कारण अपनी रानियों को प्रताड़ित किया और बहिन से क्षमा माँगकर वहाँ आने का कारण पूछा। रानी पोहपाल ने अपने भाई को याद दिलाया कि उसको दहेज में दी गई वस्तुएँ वह अपने साथ नहीं ले गई थी, अतः वह उन्हें लेने आई है। भाई ने पूछा कि वे कौन-कौन सी वस्तुएँ है? रानी ने बताया -

एक ठन चांदी भैसिया एक ठन मुंडी छेरी  
हीरा नगीना बैला सत गजरा दाना  
तेला न लैजे रहीं तोर ढिगा रहे आइस  
ओही दायजो ला भाई तैं मोला देदे रे भैया हो ५५

बहिन की बात सुनकर भोजा बल्लारे ने हँसकर कहा कि इतने बीराने पर वे पशु तो बूढ़े हो गये होंगे या मर खप गये होंगे। यहाँ बहुत से पशु हैं, तुम्हें जो भी पसन्द हो, उन्हें ले जाओ। बहिन ने कहा-

चांदी रे भैसिया मुंडी रे छेरी  
हीरा नगीना बैला भगवान रहे दादा  
इन खरे तो मारे बड़ादेव के वासा रहे  
या बात ला दादा भोजे बल्लारे जाने रे भाई  
या बात ला रानी पोहपाल जाने  
या बात ला पोहपाल जाने  
एखरे मारे रे भैया राजा टाल टूल करथै  
एखरे मारे रे दादा रानी पोहपाल अड़गैसी लेन के लाने हो ५५

रानी अपने दहेज की वस्तुएँ लेकर चलने लगीं तो बड़ादेव ने भी राजा भोजा बल्लारे से कहा कि उनका मन एक ही स्थान पर

रहते-रहते ऊब गया है, अतः वे भी रानी के साथ जाएँगे और जब भी वह उन्हें याद करेगा वे आ जायेंगे। रानी अपने दहेज के पशु तथा बड़ादेव को लेकर अपने घर आ गई।

गाथा में आगे अनेक उतार चढ़ाव आते हैं। राजा पेमलशाह की पत्नी को पारस पत्थर प्राप्त होता है और उसकी सहायता से वह पुनः समृद्ध हो जाता है। गाथा में दिल्ली के बादशाह के वहाँ आने का उल्लेख है, जो राजा को सलाह देता है कि वे लोग जहाँ रहकर खेती कर रहे हैं, वहाँ बहुत कम खेती योग्य भूमि है, अतः वे लोग गढ़ा मण्डला के चौरा दादर नामक स्थान पर चले जायें। उस स्थान पर खेती योग्य बहुत विशाल क्षेत्र उपलब्ध है। राजा अपने सभी जनों के साथ गढ़ा मण्डला के चौरा दादर नामक स्थान पर चले जाते हैं। राजा बड़ादेव तथा पारस पत्थर लेकर चौरा दादर पहुँच कर वहीं डेरा डाल दिया। बड़ादेव के कहने पर राजा पहाड़ से एक सात हाथ का साज वृक्ष का थून (लट्टा) लेकर आता है। बड़ादेव ने उसे एक स्थान पर गाड़ने को कहा। जब राजा ने उस थून को भूमि में ठोक कर गाड़ा तो वहाँ से खून की धार निकल आई। वह थून मसान के सिर में घुस गया था। राजा ने खून की धार देखी तो उस थून को उखाड़ लिया। तब बड़ादेव ने कहा-

*या ठीक नहीं करे रे भाई तैथून काहेला उखाड़ लये  
मैं तो अक्खस आप गड़वाये रहो जनम जुगाधन के रे राजा  
तोर राज न उखड़ तिस, अब का करबे रे बेटा  
जेन करम में बदे होथे वही होथे रे भाई  
तुम्हर गोंडन के राज कभू न कभू उखड़ जाही रे भाई।*

राजा ने चौरा दादर में एक महल बनवाया। वहाँ खेती होने लगी। राज्य की समृद्धि से आकर्षित होकर वहाँ लोग आकर बसने लगे और शीघ्र ही एक नगर बस गया। यह स्थान चौरागढ़ के नाम से प्रसिद्ध हो गया और पेमलशाह का राज्य बस गया।

## राजा हिरदेशाह

गोंडवानी की दूसरी गाथा राजा हिरदेशाह है। हिरदेशाह पेमलशाह का पुत्र था। वह गढ़ा मण्डला में एक यशस्वी राजा हुआ। उसके शासन काल में गढ़ा मण्डला एक शक्तिशाली राज्य बना। गाथा पोहपाल रानी द्वारा बड़ादेव की सेवा करने से बड़ादेव ने प्रसन्न होकर रानी को पुत्र प्राप्ति का आशिर्वाद दिया। रानी का

पुत्र रानी की अढ़ाई पसलियाँ तोड़कर उसके हृदय से उत्पन्न हुआ था, इसलिए उसका नाम हिरदेशाह रखा गया। गाथा में ऐसी अनेक दिलचस्प घटनाओं का उल्लेख हुआ है। जिस समय हिरदेशाह का जन्म हुआ, उस समय राज्य भर में अढ़ाई घंटे तक सोने-चाँदी की वर्षा हुई। सभी जनों ने सोना-चाँदी इकट्ठा करके अपनी-अपनी कोठी में भर लिया। अहीर वंचित रह गया। इसीलिए वे संपूर्ण ग्राम के पशुओं को चराकर अपनी आजीविका चलाते हैं। राजा पेमलशाह की समृद्धि से आकर्षित होकर उसके अन्य भाई शंकरशाह, बूड़नशाह, दलपतशाह भी वहाँ आकर बस गये। चौरा दादर में नगर बस गया और वह चौरागढ़ के नाम से प्रसिद्ध हो गया। हिरदेशाह शान-शौकत से रहते हुए सोलह बरस का हो गया। उसके पिता राजा पेमलशाह ने उसे समझाया कि वह अपने वैभव का अधिक प्रदर्शन न करे। यदि दिल्ली में बादशाह को यह पता चल जायेगा तो वह जान से मरवा डालेगा। हिरदेशाह ने सोने की जूतियाँ बनवाई थीं, जिन पर दिल्ली के बादशाह की तस्वीर बनी थी।

उनके राज्य में नेगी भगवत राय नाम का एक भाट निवास करता था। वह बारह वर्ष से राजा पेमलशाह के यहाँ नहीं गया था। वह अपना बाना लेकर चौरागढ़ राजा के यहाँ पहुँच गया। राजा ने उसका काफी आदर सत्कार किया और उसे मचिया पर बिठाया। नेगी के आने की सूचना कोटवारों के द्वारा सभी लोगों को भेज दी गई। नेगी ने अपने बाने की धुन पर संपूर्ण रात्रि गायन प्रस्तुत किया। विदाई के समय उसने राजा से हिरदेशाह की जूतियाँ माँगी। राजा ने कहा कि वह जितना सोना-चाँदी चाहे ले-ले, परन्तु उन जूतियों को न मांगे। परन्तु नेगी भगवत राय परधान अपनी बात पर अड़ा रहा। राजा ने सोचा कि यह परधान तो घुमन्तू है। यदि यह दिल्ली गया और वहाँ बादशाह ने ये सोने की जूतियाँ देख लीं तो वह उसे जान से मरवा देगा। राजा पेमलशाह को एक युक्ति सूझी। उसे अपने नगर में ही बसा लिया और उसके लिए भी अपने महल के सामने ही महल बनवा दिया।

हिरदेशाह अब सोलह वर्ष का हो गया था। वह अपनी कचहरी (दरबार) अलग लगाने लगा। नेगी भगवत राय चौरागढ़ में ही राजा के महल के सामने राजा द्वारा बनवाये गये महल में सपरिवार रहने लगा। गोंड गाथाओं में अनेक मिथक गुंथे हुए हैं, जिनमें अनेक उत्पत्ति कथाओं को कुशलतापूर्वक समावेशित किया गया है। जातियों की उत्पत्ति सम्बंधी मिथक का समावेश

राजा हिरदेशाह की गाथा में इस प्रकार हुआ है-

एक दिना बिरमा अपन छाती के मैल ला  
निकारे हवै दादा, निकार के मैल ला  
जिस बरतन मा फेंके है तेन सम्मत मा  
वा मैला से रे भैया छतरी पैदा लै लेन है रे भाई।

पैदा होते ही सब आपस में लड़ने लगे। मारकाट मच गई। ब्रह्मा ने उनसे कहा-

जाव रे तुम आपस मा ऐसनेच लड़ हो रहो।  
कौन दाब के रख हीं केला अर बतावों  
अब चीरे है गोड़ खों निकारे हवै खून रे दादा  
गोड़ से गोड़ पैदा लये हैं हो ५५

हो ५५ बिरमा बोले है गोंड़ से जाव बेटा। तुम मोर सबले पियारे हों। जा पिरथी के भारला तुमहिच अर सम्भार हो। सक ठन नागर दसि बिरमा, एक जोड़ा बैला दैस। सत गजरा दाना दइस और गोंड़ ला धरती मा पठाय दैस।

नेगी भगवत राय कुटिल था। उसने हिरदेशाह से कहा कि तुम्हारे इस भव्य महल में एक आकाशदीप होना चाहिए, तभी इसकी शोभा है। हिरदेशाह ने एक बहुत ऊँचा दीप स्तंभ बनवाया। राजा पेमलशाह ने उसे समझाया कि वह ऐसा प्रदर्शन न करे। कहीं दिल्ली के बादशाह को उनके वैभवपूर्ण जीवन शैली का पता चलेगा तो बड़ा संकट उत्पन्न हो जाएगा। परन्तु हिरदेशाह ने अपने पिता की सलाह को अनसुना कर दिया। दीप स्तंभ पर दीप प्रज्वलित किया जाने लगा। घूमन्तू भाटों के द्वारा दिल्ली में बादशाह को भी इसकी सूचना मिल गई। राजा पेमलशाह ने हिरदेशाह को समझाया।

हो ५५ राजा जब देखे है लरका अकास दिया बारे है  
तब बूढ़ा राजा आइस कहथै बेटा ज्यादा बड़े मा गिरन के  
डर लगे रहथै।  
ऐसना चला जी जोन कौनों के आँखी मान खटकजी!

जब भाटों ने दिल्ली में बादशाह तक यह सूचना पहुँचाई कि चौरागढ़ का राजा हिरदेशाह बहुत सम्पन्न है, तो बादशाह ने उसके राज्य पर सोलह करोड़ रूपयों का 'तलवाना' (राजस्व का

अंश) भरने का आदेश दिया और एक सैनिक अधिकारी को सैन्य टुकड़ी के साथ राजा हिरदेशाह के पास भेजा। वह धन देने में असमर्थ था, अतः उसे पकड़कर दिल्ली ले गये। गाथा अनेक रोचक तथा बूढ़ादेव और अन्य पराशक्तियों के कारनामों के प्रसंगों के कारण अत्यन्त रोचक हो गई है। गाथा के अनुसार बादशाह को सोलह करोड़ रूपये नहीं दे सकने के कारण उसे बादशाह के हाथी से लड़ने को कहा जाता है। 'यदि वह उस हाथी को परास्त कर देगा तो उसका तलवाना माफ कर दिया जायेगा और उसे मुक्त कर दिया जायेगा। उसने संघर्ष में हाथी को मार डाला। बादशाह ने उसे सम्मानित करने हेतु दरबार में आमन्त्रित किया। हिरदेशाह को बैठने हेतु एक आसन प्रदान किया गया। परन्तु जैसे ही हिरदेशाह उस आसन पर विराजमान हुआ, वह अपने भव्य आसन सहित धड़ाम से कुँए में गिर गया। बादशाह रोज उसे आवाज लगाकर पूछता था कि वह जीवित है या नहीं। इसी स्थिति में कुछ दिन बीत गये और वह बिना खाये कमजोर होता चला गया। एक दिन उसने बड़ादेव का स्मरण किया और उनसे प्रार्थना की कि वे उसकी रक्षा करें। बड़ादेव ने चूहा बनकर उस कुँए तक बिल खोद कर बचाया और उसे बादशाह की पुत्री के महल में दाखिल करवा कर कहा- 'ले बेटा तोर जोड़ी जाँवर ठिगा पहुँचाय दैयों। तैं जान अब नगदै ससुर पाये दिल्ली वारे बादशाह खों। मैं जाथों अपन नामनगर मा।' ऐसा कहकर बड़ादेव वहाँ से चले गये।

बादशाह की कन्या चिन्नामोती और हिरदेशाह एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। वह चिन्नामोती को अपना परिचय देता है कि वह चौरागढ़ का है और उसका नाम हिरदेशाह है। तुम्हारे पिता ने बुलाया था, इसलिए आए हैं। दोनों में प्रेम हो जाता है। महल में रहते हुए चिन्नामोती को एक पुत्र उत्पन्न हो जाता है। वह शिशु को छिपाकर रखती है। परन्तु एक दिन अचानक जब उसका भाई उससे मिलने आता है तो सारा भेद खुल जाता है। बादशाह अपने सैनिकों को आदेश देता है कि उसे पकड़कर, उसका कल्ल कर दे। तब उसका बेटा कहता है कि बहन को तो एक पुत्र हो गया है, अब उसे कैसे मारेंगे। बादशाह ने हिरदेशाह को दरबार में बुलवाया और कहा कि हम स्वीकार करते हैं कि तुम एक बड़े वीर हो। हम तुम्हे अपनी बेटी दे देंगे। बादशाह इसके लिये तीन शर्तें रखते हैं कि वह उन शर्तों को पूरा कर देगा तो वह उसे निश्चित ही दामाद मान लेंगे। वह बूढ़ादेव और चिन्नामोती की सहायता से उन

शर्तो को पूरी कर देता है। बादशाह हार मान लेता है और बेटी को हिरदेशाह के सुपुर्द कर देता है। वह उसे साथ लेकर अपने राज्य में लौट आता है।

होऽऽ हिरदेशाह के बिहाव चिन्नामोती से भैगे। हो हिरदेशाह एक महल बन वाइस रानी के रहन के लाने। आमैं चिन्नामोती रानी अपन सोदासौ सखियन के संग मा रहन लगिस या तरह से राजा हिरदेशाह के दिन सुख ले कटन लगिस रे भैयो ऽऽ।

*ओ ही महल ला आज दिना रानी महल कहथैं।  
अभी ले, नामनगर मा बने है।  
जैसना हिरदेशाह के दिन फिरे हवैं  
वैसना सबके दिन फिरै रे भाई हो ऽऽ*

### हीराखान छत्री

हीराखान छत्री एक ऐतिहासिक गोंड नायक है। यह गाथा दर्शाती है कि गोंड राजवंश के सदस्य स्वयं को छत्री कहने लगे थे। हीरागढ़ तथा बैरागढ़ में गोंड राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। हीरागढ़ में हीराखान छत्री तथा बैरागढ़ में माराखान क्षत्री दोनों भाई शासन कर रहे थे। गाथा के अनुसार इनके पिता का नाम रूजबाज क्षत्री तथा माता का नाम फड़की था।

उसी समय रैया सिंघोला में राजा तपेसरी शासन कर रहा था, जो एक गोंड था। उसकी रानी का नाम झालर बेली था। गाथा के अनुसार उनकी बड़ी बेटी का नाम कमलहीरो था। वह अति सुन्दर थी। उसके सौंदर्य की चर्चा दूर-दूर तक फैली हुई थी। उसके सौंदर्य की बात सुनकर माराखान क्षत्री ने निश्चय किया कि वह उसी के साथ विवाह करेगा। राजा तपेसरी उसके मामा हैं और मामा की बेटी से गोंड रिवाज के अनुसार विवाह करने का पहला अधिकार उसका ही है। ऐसा सोचकर वह रैया सिंघोला कमलहीरो से विवाह के लिए चल पड़ता है। उसने सोचा- 'मामा अर फआ हर मोला देखतै साइन अपन टुरी ला दै देही।' वहाँ राजा तपेसरिया ने उसकी हत्या कर दी। जब यह खबर हीराखान तक पहुँची कि उसके भाई माराखान को रैया सिंघोला में राजा तपेसरिया ने धोखा देकर मार डाला है, तो वह क्रोधित हो उठा। उसने निश्चय किया कि अब वह तपेसरिया की बेटी से विवाह करके अपने बड़े भाई की हत्या का बदला लेगा।

उसके दीवान ने सलाह दी कि रैया सिंघोला में बाजार भरता है, जहाँ दूर-दूर से लोग आते हैं। वहाँ तपेसरिया की बेटी भी आएँगी। वहीं से उसे उठाकर ले आएंगे। तुम उससे जबरन विवाह कर लेना। हीराखान को यह युक्ति पसन्द आ जाती है। हीराखान वैसा ही करता है और कमलहीरो को बाजार से अपहरण करके अपने राज्य में ले आता है।

गाथा में इस प्रसंग का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है-

*हीराखान कमल हीरो मन मन मा सोचैं  
दिल मा विचारैं बने हवैं जोड़ी  
हो मन भायगौ हीराखान के  
मन परगौ कमलहीरो के  
फिर का कहथैं-  
डोंगर पतेरा मा लग जैसी आगी  
तोर मोर मन लग चला भागी  
संग सहेलिन ला ईहाँ छोड़ दे  
मोर मन परगौ दाऊ सगे मा धरले।*

इस घटना की सूचना जैसे ही राजा तपेसरी के पास पहुँची, वह क्रोध से आग बबूला हो गया। गोंडो की सेना ने हीराखान का पीछा किया, परन्तु वह उनके हाथ नहीं आया और सुरक्षित कमल हीरो के साथ अपने राज्य में पहुँच गया। उनके बारह वर्ष आनन्दपूर्वक बीत गये। रानी कमलहीरो को अपने मायके की याद सताने लगी। उसने अपने से आग्रह किया कि वह कुछ दिनों के लिये उसे मायके में छोड़ आये। हीराखान कहता है कि वह उसे भगाकर लाया है। इस कारण उसके माता-पिता उससे नाराज हैं। उनका रैया सिंघोला जाना खतरे से खाली नहीं हैं। किन्तु रानी जिद कर लेती है और वह रानी के साथ वहाँ जाने के लिए विवश हो जाता है। जाने के पूर्व वह पूरी तैयारी करता है। अपने अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित होता है तथा अपने देवी-देवताओं का स्मरण करता है-

*आज राजा हीराखान भैया देवतन के सुमिरन करे है  
पाँव के चारण देव करिहा के करहाई  
छाती के छत पेल बैहर के रूण्ड पेल  
मुँह के मुँह चंगा आँखी के जागनी  
मूड़ के खप्पर धारी चल हो जा तैयारी।*



गाथा में इस बात का उल्लेख किया गया है कि रैया सिंघोला के राजपरिवार का गोत्र मरावी है। वे घोड़े पर बैठकर रैया सिंघोला पहुँचते हैं। गाथा में अनेक रोचक प्रसंगों का वर्णन किया गया है, जैसे मार्ग में सुरदानी राक्षस का मिलना, उसके साथ संघर्ष, उस राक्षस के बैरी की बेटी पीलीबाई का हीराखान को बताना कि उस राक्षस की शक्ति उसके नितम्बों में निहित है। राक्षस का वध, पीलीबाई द्वारा हीराखान से विवाह करने की इच्छा, जादू के द्वारा कमलहीरो को पलाश का फूल बना देना आदि। अन्त में हीराखान तथा उसकी रानी सभी बाधाओं को पार करके रैया सिंघोला पहुँचते हैं। वहाँ उन्होंने देखा कि नगर में स्त्रियाँ

ही स्त्रियाँ हैं, एक भी पुरुष दिखाई नहीं पड़ता। हीराखान को इस बात पर बहुत अचरज होता है। उन्हें देखकर कमलहीरो की माता रानी झगलर देवी दौड़कर अपनी बेटी को घोड़े पर से उतारती है। महल में हलचल मच जाती है। सब स्त्रियाँ खुशी से नाचने गाने लगती हैं, परन्तु हीरासिंह को वहाँ कोई भी नहीं पूछता। उसे घुड़साल में ठहरा दिया जाता है। उसे खाने में महुआ का आटा तथा भुट्टा का पेज पहुँचाया जाता है। जब कमलहीरो को इस बात का पता चलता है तो वह बहुत नाराज होती है। वह अपनी माँ से कहती है कि तेरा दामाद मेरा पति है। जो वह खायेगा उसमें से बचा हुआ ही वह खायेगी और वह भी उसके साथ घुड़साल में रहेगी। इसके

बाद हीराखान का भी आदर-सत्कार होने लगा और उसे महल में ठहराया गया। राजा हीराखान ने वहाँ गुपचुप इस बात का पता लगा लिया कि रैया सिंघोला के समस्त पुरुष भाटा बंगला गये हैं। भाटा बंगला में रैमुंडा, सफे मुंडा, कपे मुंडा तीन भाई कलार रहते हैं, जो राजा तपेसरी के दुश्मन हैं। उन्हें जीतने के लिए राजा के साथ सभी मर्द वहाँ गये हैं। बारह वर्ष से राजा तपेसरी ने भाटा बंगला पर घेरा डाला हुआ है, परन्तु उसे जरा सी भी सफलता नहीं मिली। मुंडा कलार के तीन सहयोगी हैं— बारह भाई अगरिया, तेरह भाई लोहासुर, चौदह भाई तमेसुर। इन सभी से राजा तपेसरी की दुश्मनी

हो गई है, इसलिए ये सभी मुंडा कलार के साथ तपेसरी का मुकाबला करने के लिए आ गये हैं।

राजा तपेसरी की सेना का रास्ता 'सोन बरहा' नामक जंगली सूअर ने रोक रखा है। उधर हीराखान क्षत्री ने सोचा कि तपेसरी की इस संकट की घड़ी में यदि वह उनका साथ देकर दुश्मन को पराजित कर देगा, तो उसके स्वसुर की नाराजगी मिट जायेगी और दुश्मन का राज्य भी उसके स्वसुर को मिल जायेगा। ऐसा सोचकर वह योद्धा के वस्त्रधारण कर अस्त्र-शस्त्रों सहित घोड़ों पर चढ़कर भाटा बंगला की ओर प्रस्थान करता है। घोघनाथ बाबा तथा 'बारापेन'

का स्मरण करता है। सर्वप्रथम उसका सामना सोन बरहा से होता है। उसे मारकर हीराखान आगे बढ़ता है। गोंड गाथाओं में दैवी एवं पराशक्तियों की सहायता से दुश्मन पर विजय या संकट से छुटकारा पाने के प्रसंग भरे पड़े हैं, चाहे वे पण्डवानी या रामायनी के प्रसंग हों या फिर गोंड राजाओं से सम्बन्धित प्रसंग हो। इस गाथा में भी भुतवा, सिंगी, मटिया, चुडैलिन डोकरी, बाबा घोघनाथ, जुबती मोहनी, बारापेन आदि अनेक पराशक्तियों की सहायता से हीराखान क्षत्री मुण्डा कलार को पराजित करने में सफल होता है। जादू या अभिचार गोंड गाथाओं का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है।



गोंड तथा मध्यभारत की

अनेक जनजातियों में लमसेना प्रथा प्रचलित है। जब कोई युवक स्वसुर को वधूमूल्य देने में असमर्थ होता है तो उस स्थिति में उसे वधूमूल्य की एवज में कुछ समय के लिए अपने भावी स्वसुर के यहाँ एक नौकर की तरह काम करके वधूमूल्य चुकाना पड़ता है। ऐसे गोंड रीति-रिवाजों का उल्लेख भी इन गाथाओं में प्रसंगवश समावेश पाया जाता है। युद्ध में विजयी होने पर हीराखान अपनी सबसे छोटी साली का हाथ मांगता है, तपेसरी की दो अविवाहित कन्याओं की सगाई सिरू- बीरू से हो चुकी है। जब उन्हें इस बात की जानकारी प्राप्त होती है कि राजा ने ऐसा वचन दिया है तो वे

हीराखान की उस समय हत्या कर देते हैं, जब वह नदी में स्नान कर रहा था। फिर पराशक्तियों की सहायता से वह पुनः जीवित हो जाता है। राजा तपेसरी सीरू-बीरू को सजा देना चाहता है, परन्तु हीरासिंह अपनी पत्नी के त्याग तथा प्रेम के कारण राजा की छोटी कन्या से विवाह करने का विचार त्याग देता है। उसकी रानी कमलहीरो ने प्रतिज्ञा की थी कि वह सीरू-बीरू के रक्त से अपने केश धोएगी, तभी अपना जूड़ा बांधेगी। अतः वह उनके हाथ काट देता है और उनसे निकलने वाले रक्त से बालों को धोकर कमलहीरो जूड़ा बांधती है और अपनी प्रतिज्ञा पूरी करती है। राजा हीराखान क्षत्री राजा तपेसरी तथा अन्य सभी को क्षमा कर अपने राज्य हीरागढ़ को प्रस्थान करते हैं।

## बैहामारी

सिंगारपुर के राजा का नाम श्री धरती राजा या पिरथी पत है तथा रानी का नाम पुंगारपुरसे। विवाह के बारह बरस बीत गये हैं। राजा श्री धरती का मन अपनी बहिन से मिलने के लिए व्याकुल हो उठा। उसने रानी से कहा कि माता-पिता की मृत्यु के बाद से वह एक बार भी बहिन को अपने यहाँ नहीं बुला सका। अतः चलकर उसे कुछ दिनों के लिए ले आये। उसकी बहिन घैलाकदामा की ससुराल झिंझरागढ़ में है। जैसे ही वह घोड़े पर सवार होकर वहाँ पहुँचता है, तो बहिन उसका स्वागत करती है। झिंझरागढ़ का राजा जलमनशाह उसका बहनोई है। वह जब अपनी कचहरी के काम निपटा कर अपने महल में पहुँचता है, तब उसकी भेंट उसके साले पिरथीपत से होती है। दोनों मिलकर बहुत खुश होते हैं और साले बहनोई आपस में हँसी-मजाक करने लगते हैं। कुछ समय के बाद जलमनशाह पिरथीपत से इतने वर्षों बाद अचानक आने का कारण पूछता है। पिरथीपत बताता है-

तैं सुन लेव रे भाँटो बारा बरस भैगेन  
बहनी हरी भाँटो मैके मुँह नहीं देखे आय  
तेन लिवाय ल आये हो हो ११ क

ज्योंही पिरथीपत बहन को लेकर सिंगारपुर पहुँचा तो उसकी रानी पुंगारपुरसे ने अपनी ननद का प्रसन्नतापूर्वक स्वागत किया और उसके लिए स्वादिष्ट पकवान बनवाये। एक दिन घैलाकदामा ने अपनी भाभी से कहा कि बहुत दिनों से हरदी बाजार नहीं देखा है, क्यों न एक बार वहाँ चला जाए। रानी अपने पति से अनुमति

लेकर दोनों ननद-भौजाई हरदी बाजार जाते हैं। वहाँ खुशी-खुशी घूमती हैं, खरीददारी करती हैं। उस समय दोनों आशापती (गर्भवती) थीं। दोनों बातों ही बातों में यह निर्णय करती हैं कि दोनों अपने कोख के बच्चों की आपस में सगाई कर दें।

अब दोनों ननद भौजाई निकार के हरदी ला भाई  
पथरा मा कूटन लागिन दादा हरदी के गीत गाय गाय के  
पानी मा घोरथैं हरदी! अब सीचथैं एक दूसर के ऊपर  
पेट के लरकन के रे दादा, हरदी। छिछोरी कर डारिन भैया  
अब सोचथैं अपन मन मा होऽऽ

उसके पश्चात् दोनों ने साल्हे वृक्ष की परिक्रमा लगाकर सम्बन्ध को पक्का किया। घर वापस जाकर उन्होंने राजा पिरथीपत को बताया-

रानी कहथैं सुनलेवो राजा  
हम दोनों झना एक बात कर डारेन हैं राजा  
पेट के लरकन के आज भँवरी पार लैन हैं हो।  
हो ११ साल्हे रूख तरी हम दोनों ननद भौजाई  
अपन अपन पेट के लरकन के बिहाव कर डारे हन

गोंड जाति तथा अनेक जनजातियों में मामा-फुआ के बेटे बेटियों में विवाह की प्रथा विद्यमान है। ऐसे सम्बन्ध को प्राथमिकता दी जाती है। राजा ने कहा- 'धन तैं ओ रानी। असलै तो करेहा। हमार तो लगहिच। दूध पलटारा तो करबेच करेलाच पही।' नौ माह पूरे होने पर पुंगारपुरसे ने पुत्र को जन्म दिया और झिंझरागढ़ में घैलाकदामा ने उसी समय एक कन्या को जन्म दिया। पिरथीपत ने अपने पुत्र का नाम बैहामारी रखा। जलमनशाह ने अपनी कन्या का नाम रामाटूरी रखा। दोनों राज्यों में खुशियाँ मनाई गईं।

एक दिन पुंगारपुरसे ने अपने राजा से कहा, बेटा बड़ा हो रहा है ननदोई के यहाँ जाकर उनकी बेटि का हाथ मांगो। कौन जाने उनको उस विवाह की बात मालूम भी है या नहीं। राजा पिरथीपत झिंझरागढ़ जाता है। वहाँ उसकी बहिन उसका उत्साह के साथ स्वागत करती है। जलमनशाह जब अपनी कचहरी से घर आता है तो साले से उसकी भेंट होती है। दोनों हँसी दिल्लगी करते हैं। उसके पश्चात् जलमनशाह उसके आने का कारण पूछता है, तब पिरथीपत बताता है कि वह उसके भान्जे बैहामारी के लिए उसकी

बेटी रामा को मांगने आया है। वह यह भी बताता है कि ननद भौजाई ने जब वे आशापती थीं, तभी उनका विवाह करवा दिया था। जलमनशाह ने कहा कि उसकी रानी ने तो यह बात उसे नहीं बताई। पिरथीपत ने कहा कि यह स्वीकार किया, परन्तु उन दोनों भौजाई और ननद ने ऐसा किया था। परन्तु जलमनशाह अपनी बेटी का रिश्ता नहीं करना चाहता था।

जलमनशाह ने योजना बनाई और वह शिकार करने के बहाने अपने साले को जंगल में ले गया और पीछे से भाले से उस पर आक्रमण कर उसकी हत्या कर दी। मरते समय पिरथीपत ने कहा- 'अखर असल के मोर दूरा बैहामारी होही तो बदला भंजाही। गाथा में जादू, देवी-देवताओं तथा भूत-प्रेतों एवं पराशक्तियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है, जैसा कि समस्त गोंड गाथाओं में देखने को मिलती है। राजा का घोड़ा दौड़ते हुए सिंगारदीप में पहुँचता है तो पुंगारपुसे ने देखा कि घोड़ा राजा के बिना ही आया है और वह खून से लथपथ है। उसने समझ लिया कि कोई अनिष्ट हुआ है। सिंगी (जादू द्वारा विचार करने वाला) ने बताया कि झिंझरीगढ़ में राजा की हत्या हुई है। राजा जलमनशाह शिकार खेलने के बहाने उसे जंगल में ले गया और धोखा देकर मार डाला। बैहामारी ने अपनी माँ को विलाप करते हुए देखकर पूछा कि क्या हुआ है। उसने बताया कि तुम्हारी फुआ की बेटी के संग तुम्हारी सगाई हुई थी। उस समय तुम दोनों पेट में थे। तुम्हारे पिता इसीलिए तुम्हारे लिए उसकी बेटी को मांगने गये थे। तुम्हारे फूफा ने उन्हे धोखा देकर मार डाला।

बैहामारी ने निश्चय किया कि वह अपने पिता की हत्या का बदला लेगा। उसने कहा - 'वह अपने बाप के बैरी के मूँड़ काटके और ओखर टूरी ला अपन डैकी न बनावों तो गोंड के बेटा न कहाहों!' बैहामारी जब झिंझरीगढ़ पर आक्रमण करने जाता है तो वह अपने साथ 'नौ सौ मटिया, सात सौ सिंगी, तेरह सौ भुतवा,

चुरैलन को ले जाता है। ये सभी भूत-प्रेत तथा अन्य पराशक्तियाँ हैं। गोंड जनजाति में जादुई पराशक्तियों में अत्यधिक विश्वास देखने को मिलता है। कोई भी युद्ध या लड़ाई इन पराशक्तियों की सहायता के बिना नहीं जीती जा सकती है। लड़ाई में राजा जलमनशाह मारा गया। बैहामारी रामाटूरी को पकड़कर सिंगारदीप ले आया और उसे अपनी माँ के पास बैठा दिया। रानी पुंगारपुसे ने बैहामारी और रामा का विवाह धूमधाम से सम्पन्न करवा दिया।

गाथा में अनेक उतार-चढ़ाव आते हैं। एक बैगा जादूगर अभिचार द्वारा उन दोनों के बीच आने वाले भारी दुराव को समाप्त करने के लिए अनुष्ठान हेतु दो बोटल मदिरा मांगता है, परन्तु रानी उसे मना कर देती है। इस बात पर कुपित होकर वह कटमोहनी अभिचार के द्वारा उन दोनों पति-पत्नि के बीच विमुखता उत्पन्न कर देता है। बैहामारी पत्नि की ओर देखना भी पसन्द नहीं करता। उसकी पत्नि उसका घर छोड़कर मोंडोगढ़ में अपने छोटे भाई के यहाँ जाने के लिए निकल पड़ती है। प्रस्थान करने के पूर्व वह उसी बूढ़े बैगा के पास जाती है। वह पुनः अभिचार से 'खरका डाँड, पनघट के मोहनी, डोंगर के मोहनी, गलीघाट के मोहनी, घर भीतर के मोहनी, पलका ऊपर के रद्दा खूँदन मोहनी, नदी नाकन मोहनी,

उचाट मोहनी, निचाल मोहनी, सब रंग मोहनी बनाके उन्हें अभिचारित कर रामाटूरी की कंघी में स्थापित कर देता है और कहता है कि उस कंघी को वह अपने शयनकक्ष में रख दे। उसके प्रभाव से राजा तुम्हारे पीछे-पीछे चक्कर लगाएगा। राजा उसे जाते हुए देखकर उसे पहचान नहीं पाता और उसके प्रति आकर्षित होकर उसका पीछा करते हैं। मार्ग में उस राज्य के राजा के दो बेटे शिकार खेलने आये हुए थे। वे उस पर मोहित होकर उसे अपने साथ घोड़े पर बैठाकर घर जाने के लिए भागते हैं। मार्ग में एक नदी पड़ती है। वे दोनों रामा को नाव में बैठाकर ले जाने लगते हैं। बैहामारी पीछा



करता हुआ वहाँ आता है। नाव में रामाटूरी को भगाते हुए देख वह अपने धनुष से एक बाण चलाता है। नाव में एक बड़ा सा छेद हो जाता है। नाव नदी में डूब जाती है और रामाटूरी भी नदी में डूब जाती है। बैहामारी रामा को पानी में डुबकी लगा-लगाकर ढूँढता है, पर वह नहीं मिलती। उसे एक विशाल मछली साबुत निगल लेती है। एक बैगा उस नदी से मछली पकड़कर अपनी और अपनी पत्नि की आजीविका चलाता था। वह विशाल मछली उसके जाल में फँस जाती है। उसका पेट चीरने पर रामाटूरी जीवित बाहर निकल आती है। उन बैगा दम्पति की कोई सन्तान नहीं थी। वे उसे बेटी बनाकर पालते हैं। बैहामारी अब तक यह जान चुका था कि वह युवती उसकी पत्नि रामाटूरी है और वह भी उसे जान चुकी थी।

बैहामारी उस बूढ़े बैगा के यहाँ जाकर इस शर्त पर लमसेना बन जाता है कि तीन वर्ष बीतने पर वह बैगा उस लड़की से उसका विवाह करवा देगा। इस बीच राजा के दोनों बेटों की नजर उस युवती पर पड़ती है और वे उसे जबरन पालकी भेजकर अपने महल में बुलवाते हैं। बैगा उसे भेजने को विवश हो जाता है। बैहामारी अपनी पराशक्तियों नौ सौ मटिया, सात सौ सिंगी, तेरह सौ भुतवा, चुरैलिनो की सहायता से राजा की सेना को परास्त करके अपने साथ ले आता है। रामा के आग्रह पर वह उन सभी मारे गये सैनिकों को जीवित करने हेतु सहमत हो जाता है। रामाटूरी ने बड़ादेव से प्रार्थना की कि वे उन सभी का पुनः जीवन प्रदान कर दें। बड़ादेव ने अपने तूँबे से सब पर अमृत छिड़क कर उन्हें जीवित कर दिया।

बैहामारी और रामाटूरी आठ दिन और नौ रात चलकर सिंगारदीप पहुँच गये। रानी पुंगारपुसे उन दोनों को पाकर प्रसन्न हो गई और वे सब आनन्दपूर्वक रहने लगे।

## पालीबिरवा

पालीबिरवा गाथा भी दो गोंड राजाओं के वैमनस्य पर आधारित है। इस गाथा में चांदोगढ़ (चाँदा या चन्द्रपुर) तथा पालीपुर गोंड राजाओं के मध्य वैमनस्य का कारण चांदोगढ़ के राजा द्वारा अपनी कन्या का विवाह पालीपुर के राजा की कन्या के साथ न करने से उत्पन्न हुआ है। गोंड राजाओं में स्थानों तथा राजाओं के नाम अनेक स्थानों पर बदल जाते हैं। और वे मिथकीय

स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। इन सभी गोंड गाथाओं में अतिरंजना, जादू, अभिचार, युद्ध में पराशक्तियों का उपयोग आदि देखने को मिलता है। अतिरंजना गाथाओं का स्वाभाविक गुण है। अताल कोट, पताल, भुजादंड, कजली कोट के बीच में पालीपुर नगर था, जहाँ तपेसरी राजा शासन कर रहा था। संभवतः यह खेड़ला या देवगढ़ के लिए कहा गया है। तपेसरी की रानी का नाम निंगालपालो है, जिसने एक पुत्र को जन्म दिया है, जिसका नाम पालीबिरवा रखा गया।

गोंड गाथाओं में उस जनजाति के रीति-रिवाजों के अनुरूप मामा-फुआ के पुत्र-पुत्रियों के बीच वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करना न केवल स्वाभाविक माना जाता है, वरन् उसे एक प्रकार से अधिकार स्वीकार किया जाता है। यदि मामा का पुत्र है और फुआ की पुत्री तो मामा के पुत्र का फुआ की पुत्री से विवाह का प्रथम अधिकार होगा। यदि कन्या के पिता या माता इसके लिए इन्कार करते हैं तो उसे धृष्टा पूर्ण तथा अपमानजनक व्यवहार माना जाता है। ऐसी स्थिति में अनेक बार वैमनस्यपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो सकती है और दोनों पक्षों में शत्रुता पनप सकती है। गोंड राजा भी इसके अपवाद नहीं हैं। गोंड गाथाओं में गोंड राजाओं के मध्य होने वाली कुछ लड़ाइयों का तो प्रमुख विषय भी यही है। गोंड गाथाओं में कुशलतापूर्वक राजाओं के नामों को बदलकर उन पात्रों को मिथकीय चरित्र बना दिया गया है। गाथाओं का एक स्वाभाविक चरित्र उनमें अतिरंजना का होता है। इन गाथाओं की रचना ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर परधानों द्वारा की गई है, जो गोंड जनजाति के भाट कहे जा सकते हैं।

पालीबिरवा गाथा में पालीपुर नगरी (संभवतया खेड़ला या देवगढ़) जो अतालकोट, पतालकोट, भुजादंड तथा कजली कोट के बीच में स्थित है, के राजा का नाम तपेसुर है। तपेसुर की रानी निंगालपालो है। उसने एक पुत्र को जन्म दिया है। उस बालक का नाम पालीबिरवा है। चांदोगढ़ (चाँदा या वर्तमान चन्द्रपुर) में रानी की पुत्री का नाम 'बाईबिलरिया' रखा गया है। निंगालपालो ने स्वप्न में देखा कि पालीबिरवा का विवाह बाईबिलरिया के साथ हो गया है। उसने इस सपने की बात अपने पति तपेसुर को सुनाई। पालीबिरवा बारह वर्ष का हो गया है। उसने विचार किया कि वह चांदोगढ़ जाकर अपने पुत्र के लिए अपने बहनोई भोजाबल्लारे से उसकी कन्या बाईबिलरिया का हाथ मांगेगा। राजा तपेसुर के वहाँ

पहुँचने पर उसके बहनोई भोजाबल्लारे ने उसका उत्साहपूर्वक स्वागत किया और उसके आने का कारण पूछा, तब तपेसुर ने बताया-

तैं सुन ले रे भाँटो तोर ठिगा हवै कन्या  
बाई बिरलिया रे भाँटो मोर ठिगा है दूरा  
पालीबिरवा रे भाई मैं सोचे रहों काहेला जाहीं  
दूसर जघा भाँटो अपन घर ही घर मा  
फिराय देतन भँवरी ते बेस रहै जो नहीं  
तेखर मारे दूरी ला माँगन रबों भाँटो  
मैं आये हों तोर दूरा मा लाये हवों दारू  
तेन ला मिल भेंट पीले जीजा सेमर के डाराला  
तोर अंगना मा गड़ाथों ५५  
आज से दूरी मा मोर हक भै गैरा हो ५५

भोजाबल्लारे को तपेसुर का प्रस्ताव पसन्द नहीं था। उसे लगा कि वह उसकी कन्या पर अपना हक जताना चाहता है। उसने षडयन्त्र करके मदिरा में माहुर विष पिलाकर उसे नदी में स्नान करने ले गया और वहाँ उसकी हत्या करके शव को नदी में फेंक दिया। घर पहुँचकर उसने अपनी रानी जो तपेसुर की बहिन थी, को बताया कि उसका साला क्रोधित होकर भाग गया है। उसने उसके घोड़े को भी भगा दिया। जब घोड़ा बिना राजा के पालीपुर पहुँचा तो रानी निंगालपालो को बहुत आश्चर्य हुआ, उसने करनशाह घोड़े से पूछा- कहाँ गंवाय आये रे करनशाह अपन मालिक बीरा ल ।

कहथै ले वो माता राजा ला कहाँ नहीं कहाँ  
लुकाय डारे है माता मोला कछु पता नहीं लगे आय  
आखर मोला माता डंडा मार के भगाय दैन हँ हो ५५

राजा तपेसुर का छोटा भाई राजा के बारे में पता लगाने के लिए चांदोगढ़ जाता है। वहाँ भोजाबल्लारे उसे भी मदिरा में विष पिलाता है और नदी स्नान करने ले जाता है और एक पत्थर से उसका सिर कुचल कर उसकी हत्या कर देता है। घोड़े करनशाह ने यह सब अपनी आँखों से देखा। वह दौड़ते हुए पालीपुर पहुँचकर सब हाल निंगालपालो को कह सुनाया।

पालीबिरवा उस समय शैशव अवस्था में था। रानी ने राजपाट

चलाने का कार्यभार संभाला। जब पालीबिरवा बारह वर्ष का हो गया, तब उसे अपने पिता एवं चाचा की हत्या का पता चला। गाथा के अनुसार उसकी माँ उसके पिता के नाम को नहीं बताती और कहती है कि वह स्वप्न से उत्पन्न हुआ है। उसे कुटनी डोकरी से ज्ञात हुआ कि चांदोगढ़ में उसके पिता की हत्या हुई थी। उसने माँ से सारी बातें सच-सच कहने के लिए विवश किया। उसकी माता ने फिर उसे सारी घटना बता दी। पालीबिरवा भोजाबल्लारे से लड़ने हेतु पराशक्तियों को अपने साथ लेता है।

पालीबिरवा की फौज में भाई मटिया  
और सिंगा रे मालिक  
नैहा परमान मटिया सिंगिन के दादा  
तुम सुन लो रे नाम रे सुनवैया  
अरन मटिया, बरन मटिया,  
बर्न डोर मटिया, खर्न डोर मटिया  
अघासुर मटिया, बघासुर मटिया,  
उतहा मटिया, छुतहा मटिया  
खुटान मटिया, लुटान मटिया, उड़ान  
मटिया, घसान मटिया  
ऐसे सात सौ मटिया संग तयार भये हँ रे भाई ५५  
अब मैं बताओ दादा नौ सौ रे सिंगी तयार भये हँ दादा  
उताही सिंगी, छुताही सिंगी अर्न डोर सिंगी,  
सुरतामल सिंगी जैतामल सिंगी,  
सुरतामल सिंगी जैसे नौ सौ भुतवा तयार भये हँ रे भाई।

दूसरी ओर राजा तपेसुर तथा रानी निंगालपालो बाईबिलरिया का सम्बन्ध लाँजीगढ़ में निश्चित करते हैं। पालीबिरवा एक बैगा का भेष धारण करके उनके महल के सामने जाकर आवाज लगाता है कि दवा ले लो- 'रकम रकम के दवाई हवै। खाँसी के, सरदी के, टोरन के, फोड़न, उझारन के, मारन के, जिवावन के। तुम ला जेन चाही ले लो।' उसकी आवाज सुनकर रानी उसे बुलाकर शगुन विचार करने के लिए बुलाती है। मध्य भारत में जनजातियों के बैगा गुनिया दवा-दारू के साथ ही झाड़-फूँक, शगुन विचार, मन्त्र-तन्त्र आदि कार्य भी करते हैं। पालीबिरवा शोध का अभिनय करते हुए शगुन बताता है -

तैं सुन लेवो रानी, सगुन मा कछू गड़बड़ जनाथै रे भाई

या दुल्हा संग मा जो नहीं बैठे,  
कैसे अचरज में आय गैन्हे है महतारी।

वह कहता है कि इस लड़की का सम्बन्ध तो कहीं अन्यत्र हुआ था। कहीं बात चली थी क्या? रानी ने बताया कि 'हाँ', पालीपुर में चली थी, परन्तु वहाँ तो सब मर-खप गये हैं। वह विघ्न दूर करने के लिए लड़की को सहेलियों के संग बुलवाता है और हिदायत देता है कि उनके साथ कोई भी पुरुष नहीं आना चाहिए। राजा की कन्या अपनी सहेलियों के संग मन्दिर में पहुँचती है। पालीबिरवा ने अपना चोला उतार दिया और अपने स्वाभाविक रूप में आ गया।

दूसरी ओर लंजीगढ़ की बारात नगर की सीमा पर पहुँच गई है। पालीबिरवा ने अपने भूत-प्रेत तथा अन्य पराशक्तियों का आवाहन किया। कैमूल, मक्खी तथा कौवों को ललकारा कि वे जाकर पता लगायें कि बारात में कैसे-कैसे लोग आए हैं, और उनके पास कौन से हथियार हैं। अन्त में युद्ध होता है और पराशक्तियों की सहायता से सभी सैनिक मैदान छोड़कर भाग जाते हैं। पालीबिरवा राजा की कन्या को अपना परिचय देता है- 'हो ५५ तैं सुन लेव कन्या! मैं आव पालीबिरवा। पालीपुर के राजा के लड़का। मोर मामा आय तोर बाप और तैं आस मोर सांगो। मोर बाप एक दिना अये रहे तोर बाप ठिगा तोला माँगें के लोने। तने तोर बाप ओला धोखा में मार डारिस। बारा बरस केर बात आये। अब मैं आये हवों तोला लेजन के लाने। राजू हस जो नहीं आस?' यह सुनकर बाईबिलरिया खुश हो गई और उसकी सभी सहेलियाँ नाचने गाने लगीं।

उनमें से किसी लड़की ने महल में जाकर इस घटना की सूचना दे दी। भोजाबल्लारे ने अपनी सेना को पालीबिरवा को घेर कर पकड़ने का आदेश दिया। पराशक्तियों की सहायता से युद्ध में वह विजयी हुआ। अन्त में भोजाबल्लारे भी मारा गया। वह बाईबिलरिया को लेकर अपने नगर को चला गया। पालीबिरवा की माता ने बहू को गले लगा लिया। सारे पालीपुर नगरी में आनन्द मनाया गया।

गोंड गाथाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण गाथाएँ लिंगोपेन तथा राजा लोहगुंडी की हैं। ये दोनों गाथाएँ गोंड जनजाति के पुरानायकों के विषय में हैं। लोहगुंडी राजा की गाथा का एक पाठान्तर अगरिया

जनजाति में भी मिलता है। वह इस गाथा से कहीं अधिक विशद है। अगरिया जनजाति गोंड जनजाति की ही एक उपजाति है। वे लौह खनिज का उत्खनन करके उसे गलाकर लोहा बनाते हैं तथा उस धातु से कृषि औजार तथा आखेट के हथियार एवं दैनिकीन उपयोग में आने वाली सामग्री बनाते हैं। गोंड सभी दस्तकार जातियों को अपने से नीचा मानते हैं, चाहे वे जातियाँ कभी उनमें से ही उद्भूत क्यों न हुई हों। इस गाथा को गद्य रूप में वेरियर एल्विन ने अपने ग्रन्थ अगरिया में विस्तार से प्रकाशित किया है। इस पुरागाथा का नाम लोगुंडीराज का राज्य (Kingdom of Logundi Raja) है। यह राज्य उदयपुर राज्य में लोहरीगढ़ के लोहरगाँव में स्थित है। वे ही अगरिया या चोख जाति के संस्थापक हैं। उनकी रानी का नाम हिंगमति है। वे लोहासुर नाम से भी प्रख्यात हैं, तथा कुछ अन्य लोगों में वे अगरसाय के नाम से भी जाने जाते हैं। इस गाथा में लौहकर्म से सम्बन्धित सभी वस्तुएँ देव रूप में उल्लिखित हैं, जैसे अगरसाय साबरसाय के पिता थे, जो लोगुंडी राजा के पिता थे। लोगुंडी राजा ज्वालामुखी के पिता थे, जो करिया कुँवर के पिता थे। भगवान ने साबरसाय को लोहरीपुर राज्य प्रदान किया, जो लौहकर्मियों या लुहारों का नगर था। लोगुंडी अपने बारह भाइयों में सबसे बड़े थे। परन्तु उनकी एक ही बहिन थी, जिसका नाम अंगारमति था और वह अत्यन्त रूपवती थी। साबरसाय की मृत्यु के उपरान्त लोगुंडी कोहरीपुर का राजा बना। गाथा के इस आरंभिक अंश में जो भी नाम आये हैं, वे सब देवताओं के नाम हैं। साबरसाय साबल है, जिससे लौह खनिज को खोदते हैं। ज्वालामुखी अग्नि है, जिससे लौह खनिज को गलाते हैं। करिया कुँवर कोयला है। अंगारमति अग्नि की देवी है। इस गाथा में भी अनेक स्थानों पर जादू का उल्लेख हुआ है। लोगुंडी राजा अपने भोजन में भी लोहे का आहार करता है। लोहरीपुर नगर का विस्तार चौबीस मील लम्बाई तक चौबीस मील चौड़ाई में फैला हुआ है। भगवान को इस बात का आश्चर्य है कि बारह वर्ष तक पड़ने वाले अकाल में भी लोगुंडी राजा अन्न मांगने नहीं आता। वे 'सुखी' से सलाह करते हैं जो कि एक टोनही है। उसने कहा कि वह ऐसा जादू जानती है, जिसके प्रयोग से वह तप्त लोहे को ठंडा कर सकती है। भगवान उस जादूगरनी (टोनही) को अपने साथ लेकर लोहरीपुर गये। उसने धधकते हुए मार्ग को अपने अभिचार द्वारा ठंडा किया, वह काला पड़ गया और उस पर वे चल सके। भगवान ने एक भिखारी का रूप धारण किया और वे सर्वप्रथम लोगुंडी राजा के छोटे भाई के

पास गये और उससे भोजन की मांग की। उस युवक ने एक थाली में रखकर तप्त लोहे के कुछ छड़े तथा कतरनें लाकर उनके सामने रख दीं। यही उनका चावल था। वह अक्षत (Virgin) लौह था और सुखी ने कहा कि वे बिना हाथ धोए भोजन नहीं कर सकते। अगरिया ने पूछा- 'यह धोना क्या होता है ? तब भगवान ने कहा क्या तुम नहाते धोते नहीं हो ?' नहीं तो- अगरिया ने उत्तर दिया। ओ हो! यह तो बहुत ही गंदी बात है! तुम कितने गंदे व्यक्ति हो! जाकर अपने हाथों को धो डालो और मेरे लिए भी थोड़ा पानी लेकर आना। अगरिया ने वैसा ही किया और ज्योंही उसने पानी को स्पर्श किया, उसकी शक्ति समाप्त हो गई और वह गर्म खाने में असमर्थ हो गया।

भगवान ने इसी चाल को सभी भाईयों के साथ अपनाया और अन्त में लोगुंडी के पास पहुँच गये। वह राजा लोहे के एक विशाल आसन पर विराजमान था, परन्तु भगवान ने उसे आसन से उतरकर उनके लिए जल लाने हेतु विवश किया। परन्तु जब वह जल लेकर आया, तब तक भगवान अन्तरध्यान हो चुके थे। उन सभी बारह भाइयों को भूख लगी थी और उन्होंने अपनी धोकनियों से लोहे को इतना गर्म किया कि वह पेज (पेय) बन जाये। पेज बनने पर ज्योंही उन्होंने उसे मुँह में लिया, उनकी मृत्यु हो गई। परन्तु उनकी बहन जो कि उन सभी की पत्नि थी, वह उस समय गर्भवती थी। उसने

थोड़ा सा ही गर्म लोहा ग्रहण किया था, वह उसकी दाह से इधर-उधर भागती हुई एक गोंड के घर में पहुँच गई। वहाँ उसके बरामदे में छाछ से भरा हुआ एक मटका रखा था, जिसमें वह कूद गई और शीतल हो गई। इस प्रकार से उसकी जान बच गई। चूँकि वे गोंड के छाछ के घड़े में डूबने के कारण बचे थे, इसलिए वे सदैव गोंडजनों के हाथ का खाना खाते हैं। अगरिया अपने आपको गोंडजनों का भाई बन्द मानते हैं। अगरिया जाति के विषय में आर.व्ही. रसेल एवं राय बहादुर हीरालाल का मत है- 'अगरिया एक अल्पसंख्यक द्रविड़ मूल की जाति है। गोंड जनजाति की

एक उपजाति है, जिसने लौह कर्म अपना लिया और एक पृथक जाति बन गई। इसी परिप्रेक्ष्य में हम पाते हैं कि लोगुंडी राजा की गाथा का महत्त्व गोंड जनजाति में भी उतना ही है, जितना कि अगरिया जनजाति में है।

## पण्डुवानी

पण्डुवानी गाथा लोक के एक महाकाव्य के समान है। इस गाथा का संकलन स्वर्गीय शेख गुलाब ने किया था इसका संपादन स्वर्गीय ठाकुर भाई नायक ने किया था, जिसे आदिवासी अनुसंधान विभाग एवं प्रशिक्षण संस्थान छिंदवाड़ा द्वारा सन् 1964 में दो खण्डों में प्रकाशित किया गया था। पण्डुवानी गाथा का मूल कलेवर तो 'महाभारत' का ही है, परन्तु इसके आन्तरिक ताने-बाने में गोंड मिथकों, उनके रीति-रिवाजों को तथा उनकी नृत्यशास्त्रीय मान्यताओं को इतनी कुशलता के साथ सम्मिलित कर दिया गया है कि वह गोंड जनजाति की गाथा के समान बन गई है।

पण्डुवानी की गाथा का नायक बलशाली भीम है तथा अन्य सभी पाण्डव भाईयों का चरित्र चित्रण सामान्य रूप से गौण दर्शाया गया है। पाण्डवों की माता का नाम कोतमा बताया गया है। गाथा में युधिष्ठिर का नाम तुडंग है। इन्द्रप्रस्थ का नाम जैतानगरी बताया गया है तथा

हस्तिनापुर का नाम हसना नगरी। महाभारत के अनुरूप ही पाण्डव पाँच भाई बताए गये हैं, परन्तु कौरव इक्कीस भाई। अर्जुन को एक निर्बल व्यक्ति बताया गया है। गाथा में किसी भी स्थान पर कृष्ण का उल्लेख नहीं हुआ है। अयोध्या के राजा रामचन्द्र का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है और उन्हें कुंती का भाई बताया गया है। पाण्डवों के पास आठ लाख गाये, नौ लाख बकरियाँ और अनगिनत हाथी थे, जिन्हें लेकर वे कजली वन में चराने जाते थे। गाथा में कुछ ऐसे खेलों का उल्लेख भी मिलता है, जो गोंडजनों में प्रचलित हैं, जैसे डंडा डहोरी खेल तथा पानी डुबकी खेल। गाथा में कौरवों



की माता का नाम गंधरनिन है। संपूर्ण गाथा भीम के शौर्य, जादू-टोन्हे तथा भूत-प्रेत और पराशक्तियों से भरी हुई है। पातालपुरी में वासुक नाग राजा का राज्य है। राजा वासुक नामक नाग है, जिसकी पुत्री सतजोगना है। महाभारत में हिडिम्बा नामक राक्षस का उल्लेख हुआ है, जिसकी बहिन हिडिम्बा थी, जो भीम पर मोहित हो गई थी और दोनों ने विवाह कर लिया था। हिडिम्बा से भीमसेन का एक पुत्र उत्पन्न हुआ था, जिसका नाम घटोतकच्छ था। गोंड गाथा में हिडिम्बा का नाम सतजोगना बताया गया है और उनके पुत्र का नाम भोजा बल्लारे बताया गया है।

गोंड गाथा में अनेक गोंड मिथकों का समावेश किया गया है। भीमलपेन गोंड जनजाति के वर्षा के देवता हैं, जो कालान्तर में महाभारत के शक्तिशाली चरित्र भीम में विलीन हो गये हैं। गाथा में एक स्थान पर भीम कौरवों को प्रताड़ित करते हुए कहता है कि बहुत तेज वर्षा होने वाली है। तुम लोग पेड़ों पर चढ़कर उनकी शाखाओं को कसकर पकड़ लो। फिर तेज वर्षा होने लगी। ओले भी पड़ने लगे। जिस वृक्ष पर कौरव चढ़े हुए थे, वह उखड़ कर काली चट्टान पर जा गिरा। गाथा कौरवजनों के षडयन्त्र से भरी पड़ी है, जिन पर महाभारत की छाप स्पष्ट दिखाई पड़ती है। भीम के भोजन में विष मिलाकर खेल-खेल में उसे खिलाया जाता है और जब विष का प्रभाव होने लगता है तो उसे समुद्र में फेंक कर डूबने के लिए छोड़ दिया जाता है। भीम के मृत शरीर को सतजोगना अपने पिता के अमृत कुंड से अमृत लाकर उसे जीवन प्रदान करती है। यहाँ गाथा में माला देवी नामक देवी का उल्लेख किया गया है, जो सतजोगना की आराध्य देवी थी। उसकी सहायता से भीम की प्राण रक्षा होती है और भीम के साथ उसका विवाह होता है।

मामा शकुनी तथा लाक्ष्यागृह का उल्लेख गोंड गाथा में भी हुआ है। लाक्ष्यागृह को लाखा महल कहा गया है। रात्रि में जब पाण्डव लाखा महल में विश्राम कर रहे थे, तब कौरवों ने उसमें आग लगाकर उन्हें मारने का षडयन्त्र रचा था। गाथा के अनुसार भीम ने एक लात मारी, जिससे पृथ्वी फट गई और भीम अपनी माता तथा भाइयों को लेकर पाताल लोक में निकल गया। कौरवों को विश्वास था कि वे सब के सब लाखा महल में जलकर मर गये होंगे। गाथा में अनेक स्थानों पर दानव, मटिया तथा भूत-प्रेतों आदि के साथ पाण्डवों के संघर्ष की कथाएँ सम्बद्ध हैं। भूत-प्रेतों ने

बकरा-बकरी बनाकर माला देवी के समक्ष बलि चढ़ाने की योजना बनाई। अन्त में भीम ने सबको मार डाला और माला देवी की पूजा का विध्वंस हो गया।

गाथा में कहा गया है कि कौरवजनों के अत्याचार के कारण माता कोतमा अपने पाँचों पुत्रों को लेकर जंगलों में भटकती रही और फिर एक स्थान पर अपनी कुटिया बनाकर रहने लगे। वे वन के कंदमूल फल खाकर तथा वन्य पशुओं का आखेट करके जीवनयापन कर रहे थे। एक दिन सहदेव ने अपनी पोथी बाँचकर बताया कि- 'शहर गिरदावली में राजा दुरपाल है। उसकी कन्या द्रोपदी है, उसका ब्याह अर्जुन के संग होगा, ऐसा यह पत्रा बता रहा है।' महाभारत में द्रोपदी के स्वयंवर की कथा के अनुरूप ही इस परधान गाथा में भी स्वयंवर का वर्णन किया गया है। माता की आज्ञानुसार द्रोपदी पाँचों पाण्डव भाइयों की पत्नि बनकर रहती है।

नगर बैराट में जहाँ पाण्डवों ने अपना अज्ञातवास बिताया था, उसकी स्थिति का वर्णन मध्ययुगीन गोंड राजवंशों के काल से संबंधित है। भीम अपनी माता से आग्रह करता है कि यों वन में भटकने से तो अच्छा है कि किसी शहर में चलते तो अच्छा था। वहाँ कोई न कोई तो नौकरी मिल ही जायेगी। माता कोतमा कहती है- 'बेटा कहाँ ले चलूँ। इस तरफ नगर परसावली है, जहाँ नाग ही नाग की बस्ती है। दूसरी तरफ सूरजगढ़ गहना का राज है, बारह वर्षों में पहुँचेंगे और यहाँ देश बुंदेलिया है, यहाँ भी बारह वर्षों में पहुँचेंगे। दूसरी ओर कजली वन है, जहाँ अंजनी पुत्र हनुमान निवास करते हैं। उस तरफ सुलपुर नगरी है, जहाँ हीराखान क्षत्री है। दिल्ली में रूप बादशाही है। हाँ एक जगह है- नगर बैराट, जहाँ संग्रामसिंह का राज है। यहाँ भले आदमियों की बस्ती है।' गाथा में आगे कीचक वध का वर्णन किया गया है, जो राजा संग्रामसिंह का साला था।

## महाधान की लड़ाई

पण्डुवानी गाथा में महाभारत के युद्ध को 'महाधान की लड़ाई' कहा गया है। शकुनी ने जब द्रोपदी को देखा तो उसके कुटिल मन में विचार आया कि इस सुन्दर स्त्री को तो कौरवों की पत्नि होना चाहिए। उसकी षडयन्त्रपूर्ण योजना के कारण कौरव और पाण्डवों में युद्ध हुआ। 'कौरवों के मन में कुविचार पैदा हुआ।



उन्होंने एक परवाना लिखा। उसमें लिखा कि तुम द्रोपदी को हमें सौंप दो। उसके बदले में हम तुम्हें तुम्हारा राज वापस कर देंगे। नहीं तो हमसे युद्ध करो। यदि ये भी सामर्थ्य नहीं, तो चूड़ी पहिन लो और यहाँ से निकल जाओ।' अब तो पंडवा सोच में पड़ गए। क्या किया जाए ? लड़ाई की जाय या द्रोपदी को देकर लड़ाई से पीछा छुड़ाया जाय। भीम को छोड़कर सभी भाई द्रोपदी को देने के पक्ष में थे। भीमसेन सहमत नहीं था। भीमसेन ने क्रोधित होकर अपना विकराल रूप दर्शाया। 'पहाड़ जैसा उसका शरीर हो गया, जमीन से आकाश तक वह बढ़ गया। जंगल की घाटी जैसा मुँह, डोंगरी जैसी बड़ी नाक, बड़े गगरे के समान उसकी आँखें, सूपड़े बराबर कान, भरूँ के समान उसकी मूँछें हो गई। भीमसेन भी शेर जैसा घुरघुराने लगा। भीम का रौद्र रूप देखकर उसके भाई भयभीत हो गये और उन्होंने निश्चय किया कि द्रोपदी को नहीं जाने देंगे।

आगे चलकर गाथा का रूप गोंड जनजातीय हो गया है। 'इधर द्रोपदी के मन में भय पैदा हो गया। वह सोचने लगी। मेरे कारण यह लड़ाई होगी। ये पाँच पंडवा और वे कहाँ इक्कीस भाई। ये कैसे जीत सकेंगे, फल यह होगा कि मुझे फिर इनके साथ दुःख उठाना पड़ेगा। अभी भी तो जंगल-जंगल मारे-मारे फिरना पड़ता है। गोबर मलते-मलते हाथों में किंगरी पड़ गई है। इनके साथ मैंने कोई सुख नहीं किया। वे इक्कीस हैं, राजा दुरजोधन हैं, राजमहल राजपाट सब है, उनके पास मुझे ज्यादा सुख मिलेगा। परन्तु वे पंडवा मुझे तो छोड़ेंगे नहीं, अतः इन्हें मौत के घाट उतार देना चाहिए। ऐसा सोचकर द्रोपदी एक काली जादूगरनी के पास गई और उससे खूब सा जहर ले आई।'

द्रोपदी ने भोजन में विष मिलाकर पाँचों पांडवों को खिलाया और उन सब की मृत्यु हो गई। 'पांडवों के मरते ही द्रोपदी ने एक घड़े में हल्दी घोली और उसे सिर पर रखकर कौरवों के यहाँ हसनापुर नगरी में चल दी। द्रोपदी ने उनके ऊपर हल्दी डाल दी। इससे कैवरा प्रसन्न हो गए। जिसके लिए ये सब लड़ाई की तैयारी हो रही थी, जब वही घर बैठे आ गई, तो खुशी तो होनी ही है।' द्रोपदी को एक गाय ने श्राप दिया था कि वह एक दिन इक्कीस पतियों की पत्नि बनेगी, क्योंकि गाय का पीछा करते हुए नौ नाटे (सांड) लगे थे, जिसे देखकर द्रोपदी को हँसी आ गई थी।

अपने पाँचों पुत्रों को मृत पाकर माता कोतमा सहायता के

लिए रामचन्द्रजी के पास गई। रामचन्द्रजी ने अपनी बहिन का आदर सत्कार किया। रामचन्द्रजी ने जैता नगरी आकर अमृत छिड़ककर सबको जीवन प्रदान किया। रामचन्द्रजी ने भीम से कहा कि तुम कैसे वीर हो! तुम्हारी स्त्री को दूसरे कोई ले गये। धिक्कार है तुम्हारी जिन्दगी को। भीम अकेला ही द्रोपदी को लेने जाता है। भीम का विकराल रूप देखकर कैवरा डर गये। द्रोपदी ने उनसे कहा कि वे डरें नहीं, वह उससे निपट लेगी। आगे गाथा अनेक मोड़ और उतार चढ़ाव लिए हैं, जिसमें जादू, पराशक्तियों के प्रति अनुष्ठान आदि के प्रयोग हैं। द्रोपदी ने देवी का विकराल रूप धारण किया और कहने लगी- 'पाँडवों को खाऊँ, कौरवों को बचाऊँ। अन्त में उसे शांत करने के लिए भीम ने अपनी छिंगली अंगुली काटकर द्रोपदी के जलते हुए खप्पर में चढ़ाई, तब जाकर वह शान्त हुई और उसका भाव बदल गया। वह कहने लगी- कैवरा को खाऊँ, पंडवन को बचाऊँ।'

आगे गाथा में भीम ने सहदेव से पूछा कि इस युद्ध को कैसे जीता जाय, तुम अपनी पोथी पतरा देखकर बताओ। सहदेव ने अपने पोथी पतरा देखकर बताया -

कहथैं रे सहदेव सुन लेव रे भैया  
कलजुगही कलजुगहा लोग लुगाई  
दुइ झना दादा ढँलवाँ रे पुर माँ  
रहत हवैं दादा उन्हीं बताहीं  
जीत हार के भेद रे भाई  
ऐसा बोल रहैं हैं सहदेव रे दादा।

क्या बोल रहे हैं सहदेव ? कहथैं सुनो रे भैया हरो ढुलवाँपुर मा दुई झना रहथैं। एक हवै कलजुगही दूसर हवै कलजुगहा। दोनों लोग लुगाई आय। उनला लान के खोदरा खोद के या खेत मा खुदरा मा धाँध देवो। उन्हीं भेद बताहीं जीतन को हो ५५ ।

गोंड गाथाओं में काल की अवधारणा अत्यधिक दिलचस्प है। इनमें सभी युग जैसे सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलयुग के पात्र एक साथ दिखाई पड़ते हैं और वे एक ही समय में विद्यमान हैं। इसके साथ ही अनेक देवी-देवता, उपदेवता तथा भूतप्रेत भी इसी समय में विद्यमान हैं। यहाँ काल की अवधारणा खण्डों में विभाजित नहीं है।

भीम कलजुगही तथा कलजुगहा को पकड़ने जाता है। उन दोनों का तथा कलयुग का वर्णन बहुत ही दिलचस्प है। 'होऽऽ का देख रहे हैं भिम्मा ? एक लुगवा छेरी चराय रहे हैं। ओरूर लुगाई खटिया ऊपर मजे में बैठे हैं। लुगवा ओला चिलम भर कर पियाय रहे हैं। पाँव दबाय रहे हैं और बीच-बीच में छिरिया भी लौटाय रहे हैं।'

'हो ऽऽ भीमा सोच रहे हैं। येही आय कलजुगहा देखायों। कैसना सेवा कर रही सो मेहरिया की।' कलजुगहा अपनी पत्नी की सेवा में लगा है। उसे खटिया पर बैठाकर चिलम भर कर दे रहा है। चूल्हा जलाकर भोजन पकाता है। उसे थाली में परोसकर खाना खिला रहा है। उसके लिए बिस्तर बिछा कर उसे गोद में उठाकर सुला रहा है। तिल्ली तेल से उसके पैरों की मालिश कर रहा है। वह खटिया पर इस तरह सोता है कि उसे धक्का न लग जाये। परधान गायक ने कलजुग का ऐसा दिलचस्प चित्रण किया है।

भीम दोनों को लाता है और उन्हें युद्ध क्षेत्र में उस स्थान पर गड्ढा खोदकर धड़ तक गाड़ देता है और उन्हें मिट्टी से ढककर उन पर दीपक जलाकर कहा कि रात्रि में तुम जो कुछ भी देखो, उसे दिन में हमें सच-सच बतलाना। रात्रि में एक हेजड़ा और एक हेजड़ी वहाँ आते हैं और बतियाने लगते हैं - 'ओही बखत मा हेजड़ा कहथै-पंडवन ला खाहूँ। हेजड़ी कहथै- नहीं कँवरन ला खाहूँ।' हेजड़ा कहता है कि पाण्डव तो पाँच है और कौरव इक्कीस हैं। यदि ये मरेंगे तो हमारे इक्कीस दिनों के भोजन का इन्तजाम हो जायेगा। हेजड़ा के पूछने पर वह बताती है कि यदि इस खम्बे को उखाड़ कर कोई उसे उल्टा करके गाड़ सके तो उनकी जीत निश्चित है। कलजुगहा और कलजुगही ने उनकी बातें सुनी और दूसरे दिन भीम को रात्रि की घटना के बारे में बतलाया भीम ने वैसा ही किया और कलजुगहा तथा कलजुगही को भगा दिया।

सभी देश के राजा-महाराजा अपनी-अपनी सेना के साथ युद्ध में सम्मिलित होने आ गये, कुछ कौरवों की ओर से तो कुछ पाण्डवों की ओर से। भोजा बल्लारे (घटोत्कच्छ) भी युद्ध में शामिल होने आ पहुँचा। गाथा में महाभारत की कथा के अनुसार ही भगवान उससे उसका सिर मांग लेते हैं और उसे दोनों दलों की सेनाओं के मध्य एक स्तंभ पर रख देते हैं। युद्ध के मैदान में द्रोपदी अपने दिव्य रूप में खड़ी हो जाती है और कहने लगती है- 'कौरवों

ला खाऊँ पंडवान ला बचाहूँ।' बड़ादेव को सहदेव ने परवाना लिखकर युद्ध में सहयोग प्रदान करने के लिए भिजवाया-

*अजुध्या जी में भगवान ढिगा डुण्डा महल में लछमन ढिगा  
झिंझरी महल में सीतामाई ढिगा बदन महल में राम ढिगा  
करेली वन में महादेव ढिगा कारी पर्वत में हनुमान  
द्वारकापुरी में नारद मुनी बलभद्र राजा  
कलसापुर में गोरखनाथ पंपापुर में अंगदबली  
देश बुंदेला में मंजुरामल बिजली नगर में बिजरामल  
सबला परवाना भजे गए है हो ऽऽऽ*

'होऽऽ आठ दिन नौ रात लड़ाई चलि स। फौज फाटा, लाव लश्कर, हाथी घोड़ा सब जूझ गैन। सब सिपाही सूरमा मर कट गैन! सब राजा मारे गैन। इक्कीस भाई कँवरा मारे गैन। बच गैन पाँच पण्डवा, द्रोपदी और माता कोतमा। होऽऽ अब भगवान नजर फेरे है लश्कर के ऊपर। सब मरे हर जी उठी न। सब राजा जी उठिन। कँवरा अर जी उठिन। होऽऽ कँवरा उठके मीज चुटैया उसके भागिन के लौट के नहीं देखिन! द्रोपदी पंडवन ढिगासा यगै।' भगवान ने भोजा बल्लारे का सिर वहीं गाड़ दिया, जिससे एक नारियल का पेड़ उत्पन्न हो गया। उसी वृक्ष के नारियल देवताओं को चढ़ाये जाते हैं।

*पूरै भैगै भाई महाधान रे दादा  
जैसे पंडवन के बनीस वैसनई सब के बने रे दादा  
जै सीताराम जी की हो ऽऽ*

## पण्डुवानी भाग-2

पण्डुवानी के भाग दो में पाँच अध्याय हैं। पहले अध्याय में सहदेव के विवाह का वर्णन है, दूसरे अध्याय में भीम पुत्र नन्दुवा के विवाह का वर्णन है, तीसरे और चौथे अध्यायों में भीम पुत्र लालाह बरना के विवाह का वर्णन है तथा पाँचवे अन्तिम अध्याय में कलजुग देव का वर्णन है।

माता कोतमा की इच्छा हुई कि सहदेव का विवाह हो जाता तो अच्छा होता। ब्राह्मण ने पोथी पतरा देखकर बताया कि कैलासुगढ़ में साठ सौ संन्यासी तथा सवा सौ नागा रहते हैं। उनकी बेटी कमलापत रानी है। उसके साथ सहदेव की जोड़ी बैठ रही है।

कैलासुगढ़ जाने के लिए तुडंग अर्जुन तथा नकुल सभी आनाकानी करते हैं। तब भीम मरदाना ही वहाँ जाने के लिए तैयार होता है। इस गाथा में अनेक उतार चढ़ाव के साथ, जादू-टोना आदि के प्रयोग से भरे पड़े हैं, जैसे कि अन्य सभी परधान गाथाओं में देखने को मिलते हैं। भीम इन्द्र को परवाना भेजकर रथ मंगाता है और उसमें रानी कमलापत को बिठाकर जैतापुर के लिए प्रस्थान करता है। इधर काली जादूगरनी नौ लाख सखियों के साथ जाकर संन्यासियों को बताती है कि एक जोगड़ा कमलापत को भगाकर ले गया है, तब साठ सौ संन्यासी चिमटा, तीर, सूला लेकर उसके पीछे भागते हैं। भीम आम के एक वृक्ष के नीचे आराम कर रहा था। उन्होंने भीम की चिमटों से पिटाई शुरू कर दी। भीम को उन साधुओं ने एक कुँए में बन्द कर दिया और उसे एक शिला से ढक दिया। माता कोतमा को आशंका होती है कि भीम किसी संकट में पड़ गया है और वह चारों भाइयों को उसे ढूँढने के लिए भेजती है। वे उसी कुँए के पास पहुँचते हैं, जो शिला से ढँका हुआ था। उस पर भीम के वस्त्र पड़े हुए थे। पाण्डवों से वह शिला नहीं सरकती। उसके पश्चात् उनकी तथा उनके सहयोगी बैराट के राजा संग्रामसिंह, बुंदेलिया राजा मोचरामल तथा गिरदावली के राजा दुरपाल की फौजफाट लाव लश्कर के साथ उस स्थान पर पहुँचती है। माता कोतमा रो-रो कर बता रही हैं कि भीम कैलासुगढ़ में जाकर जूझ गया है। उसका कहीं कोई पता नहीं मिल रहा है। जब वे सब भी असफल हो जाते हैं, तब माता कोतमा हनुमान के पास जाती हैं। हनुमान उन्हें देखकर उन्हें कन्धे पर बैठाकर अपनी माता अंजनी के पास ले जाते हैं और कहते हैं- 'मौसी आये हवै।' दोनों बहनें मिल रही हैं। अंजनी पूछती हैं- 'कैसे मा आये वो बैया।' कोतमा माता सब हाल बताती हैं। हनुमान ने जब भीम के बारे में यह सुना कि उसे कुँए में बंद करके उसे एक चट्टान से ढँक दिया गया है और उस पर एक वृक्ष खड़ा कर दिया गया है, जिन्हें हटाने में सभी योद्धा और सेनाएँ असफल हो गई हैं तब वह बहुत क्रोधित हुए और वहाँ पहुँचकर भीम को मुक्त किया। परन्तु भीम की मृत्यु हो चुकी थी। हनुमान ने भीम के शरीर को पत्तों में लपेट दिया और जैतापुर में भीम की मृत्यु की खबर पहुँचाई। पाण्डव भीम के दाह संस्कार की तैयारी में जुट गये, परन्तु हनुमान भगवान के पास पहुँच कर भीम की रक्षा का उपाय करने के लिए आग्रह करने लगे। गाथा के इस अंश में हनुमान भगवान को मामा कहकर

संबोधित करता है। गोंड जनजाति में मामा और भान्जे का संबंध अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है, क्योंकि मामा की कन्या से विवाह करने का प्रथम अधिकार भान्जे का ही होता है। भगवान ने हनुमान को बेल काष्ठ का डंडा तथा अमृत प्रदान किया, जिनसे भीम को पुनर्जीवन प्राप्त हुआ।

गाथा में आगे कहा गया है कि भीम का पुत्र नंदुआ कमलापत रानी को लेने जाता है। भीम को नन्दुआ का पत्र मिलता है तो वह भी उसकी सहायता हेतु चल पड़ता है। दोनों की भेंट कजली वन में होती है। भीम कमलापत रानी को लेकर जैतापुर पहुँचता है और उससे सहदेव का विवाह सम्पन्न होता है।

## रामायणी

गोंड गाथाओं की परंपरा अत्यंत समृद्ध है। इन गाथाओं में कुछ गाथाएँ तो महाकाव्यों पर आधारित खण्डकाव्य सदृश्य आख्यान हैं, तथा कुछ बड़े आख्यान उनके देवताओं से संबंधित हैं। इन आख्यानों के अतिरिक्त गोंड राजाओं तथा नायकों से संबंधित आख्यान हैं। महाकाव्यों से संबंधित आख्यानों में पण्डुवानी तथा रामायणी प्रमुख हैं। रामायणी का मूल ताना-बाना रामायण पर आधारित है, परन्तु इसमें गोंड जनजाति की धार्मिक आस्थाओं का पर्याप्त समावेश हुआ है। यह आख्यान प्रमुख रूप से लक्ष्मण पर केन्द्रित है, जिसमें लक्ष्मण की सत परीक्षा वर्णित है। इस गाथा में सात अध्याय हैं, जो सभी लक्ष्मण की सत परीक्षा से संबंधित हैं। लक्ष्मण को इसीलिए जति या यति का सम्मान प्रदान किया गया है। गाथा का आरंभ लक्ष्मण की सत परीक्षा- लक्ष्मण और इन्द्र कामनी किया गया है। इस गाथा का दस्तावेजीकरण एक परधान गायक से स्वर्गीय शेख गुलाब द्वारा आदिम जाति अनुसंधान एवं प्रशिक्षण संस्था, छिंदवाड़ा द्वारा करवाया गया था, जिसे स्वर्गीय ठाकुरभाई नायक ने सन् 1964 में प्रकाशित किया था।

अजुध्या नगरी मां राम के बासा  
 झिंझरी महल मां सीता माता  
 डुण्डा महल मां लछमन सतलोकी की  
 कैसे वास कर रहे हैं भैया  
 हो जे खे सत के नैहा परवाना रे  
 गली चलत तिन ना टोरे  
 पर तिरिया से मुख नहीं बोलै

बांझी रूख के छैयाँ नहीं खूदें  
 तिली खेत मां दिशा नहीं फिरें  
 अन्ध कुँआ झांक के नहीं देखें  
 हो झै बताबे मोर मालिक  
 हाय SS ऐसे हैं सतलोकी लछमन रे  
 जिसके पहरा मा वारा गूड़ा चन्दा सूरज  
 तेरा गूड़ा ढलवाँपुर के दानव  
 बाघ भालू के पहरा लगे है पँवर दुवार  
 बारा डाली भँर माँछी तेरा डाली कुतयार माँछी  
 चौदा डाली दुगाछी पन्दरा डाली बिच्छू  
 सोला डाली बरैया भन्नावै भैया  
 हो SS ऐसा पहरा मा लछमन रहथै रे भाई  
 हाय SS जे सतलोकी लछमन रे  
 सीस नाग के खुरा लगे हैं  
 धमन नाग के पाटी लगे हैं  
 रेशम के गुथना गुथे हैं  
 बिच्छफन के खीला ठठे हैं  
 एक अजगरी मुड़ेसा री दाई  
 मह मंडल नाग के भरे है रजैया  
 चींटी साँप के बांधे हैं दुपट्टा  
 हो SS जे लछमन सतलोकी रे भाई

गाथा के इस आरंभिक पद में लक्ष्मण को अविवाहित (ब्रह्मचारी) बताया गया है, जो डिंडामहल में निवास कर रहे हैं। गोंडी भाषा में डिंडा का अर्थ अविवाहित है। उसकी रक्षा अनेक विषैले सर्प तथा जीवजन्तु कर रहे हैं। गाथा में आगे कहा गया है कि एकान्त में रहने के कारण ऊब से बचने के लिए लक्ष्मण ने बढई से एक किंदरा (वाद्ययन्त्र) बनवाया। उसने उसे अपने महल में ले जाकर टांग दिया और बारह वर्षी निद्रा में लीन हो गया। किंदरा इस बात से दुखी है कि उसे बजाया नहीं जा रहा है, और दुखी होकर उसने लक्ष्मण को स्वप्न में प्रकट होकर कहा कि वह वहाँ से चला जायेगा। लक्ष्मण का स्वप्न टूटता है और वह उसे बजाने लगता है। अपने अठारह वाद्य के साथ किंदरा भी बजाने लगता है। संगीत के साथ ही परेवा (पक्षी) भी नौ सौ फंड की परेवा नेवरा पहन कर, पंखों में घुंघरू बांधकर, चोंच में मंजीरे को दबाकर छन-छन-छन नाच रही हैं। गाथा में लक्ष्मण के वाद्य यंत्रों

का वर्णन इस प्रकार किया गया है – पाँव मा बाँधे हवै नेंवरा,  
 ऊंगठन मा बांधे है मजीरा, टिकरन मा धरे हवै ढोलकी, कम्मर  
 बांधे है धुन धनिया, पहुँचन मा बांधे हवै खंजरी, कानन मा बांधे  
 पोहे चटकीला, नथना मा खोंचे हवै बंसरी, हाथ मा धरे हैं मनमोहन  
 किंदरा, हो अठारा बाजों का सिंगार करके तैयार भये हैं लछमन  
 हो।' लक्ष्मण के महल के समस्त दरवाजे तथा खिड़कियाँ बन्द हैं।  
 संगीत को वहाँ घुटन महसूस हो रही है। उसने (संगीत ने) जोर से  
 धक्का मारकर महल के कंगूरे को तोड़ दिया और संगीत की ध्वनि  
 इन्द्रलोक तक पहुँच गई।

संगीत की ध्वनि को सुनकर देवताओं के आँसू बहने लगे।  
 इस संगीत के प्रभाव से इन्द्र की बेटी इन्द्रकामनी भी नृत्य करने  
 लगी।

राजा इन्द्र की बेटी रे भैया  
 नाच रहे इन्द्र कामनी रे दाऊ  
 साठ जोड़ी संग सहेली रे हीरा  
 महलों में बासा करे रे भाई  
 शंकर झूला मा झूले रे बाबू  
 बजा के धुन पोंहचे हवै ऊँहा  
 तलख बलख भये हवै दादा

इन्द्र कन्या विचार करती है कि जिस व्यक्ति का संगीत  
 इतना मधुर है, वह स्वयं कितना आकर्षक होगा। उसे उसकी  
 सखियाँ सलाह देती हैं कि वह उसे किसी भी प्रकार से लुभाकर ले  
 आये। इन्द्र कन्या श्रृंगार करके वहाँ जाती है। इस पद में उसके  
 श्रृंगारिक आभूषणों का वर्णन किया गया है –

करथै सिंगार इन्द्र कामिनी रे भैया  
 पैरन मा नागर पाटी पैरी  
 टखुवन मा गिलर गुलर चुटका  
 कम्मर मा चकाली सार करधन  
 गरेमा गज मोती के हीरा  
 होरा हाँथ के सारी  
 कैसे भैया जग उजयारी।

हो चोली का नाँव चारम चीरा, चारी खूँट मा बरथै हीरा।  
 झनकी के झनकारा, रतन पियारा, सिरकी सांकर, मांग सेंदुर, आँखी

कजलवां, मुँह का मुहनियाँ, कानों के कनियारी, मोल के बिंदिया – मछेव छतना तरकी, सेमद फूल के फुंदरा, ऐँठ के मारे जूरा।

उसने अपने आपको मन्त्रबिद्ध करके कुरी बाज का रूप धारण किया और आकाश में मंडराने लगी। वहाँ बैगा ने जाल बिछाया हुआ था। वह इन्द्रकन्या पर मोहित हो गया। उसने किसी प्रकार उससे मुक्ति पाई और महल में पहुँच गयी, जहाँ लक्ष्मण पलंग पर सोये हुये थे। लक्ष्मण की सुन्दरता देख वह मोहित हो गई और उसे जगाने का प्रयास करने लगी। जब सारे प्रयत्न करने पर लक्ष्मण की नींद नहीं टूटी तो उसने अपने समस्त वस्त्रों को फाड़-फाड़ कर उस कक्ष में फैला दिया। सारे आभूषणों को तोड़-तोड़ कर फैला दिया। आभूषणों के मनके-मोती सब उस स्थान पर फैल गये और 'अंतरा माछी' (मक्खी) बनकर छिपकर किले में बैठ गई।

गाथा में आगे सीता के महल का उल्लेख किया गया है। सीता को लक्ष्मण की याद आती है और वे लक्ष्मण को देखने हेतु उसके महल में जाती हैं। लक्ष्मण के द्वार पर पहरा लगा है और द्वार बंद है। पहरेदार उन्हें प्रवेश करने देते हैं। लक्ष्मण के कक्ष की दशा देखकर वे सोच रही हैं –

सत धारी लछमन  
बरत धारी लछमन  
पवन धारी लछमन  
बान धारी लछमन  
कैसे मा सत डुलगे  
तोला का भैगे SSSS

उन्होंने सोचा रामचन्द्र को जाकर सब हाल बताना चाहिए। यदि अपने देवर लछमन का विवाह करवा दिया होता तो उचित होता, परन्तु अब वे काबू के नहीं रह गये।

सीताजी ने रामचन्द्र से लक्ष्मण के विषय में आशंका जताते हुए जो दृश्य वहाँ देखा था, उसका बखान किया। रामचन्द्र ने कहा कि उनका भाई लक्ष्मण तो सतवन्ती है। उसका चरित्र ऐसा नहीं है। तब सीता ने कहा कि तुम स्वयं जाकर देख आओ, मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है। यह सुनकर रामचन्द्र ने परवाना भेजकर सभी पाण्डवों को जैतापुर से बुलवाया। सहदेव ने परवाना पढ़कर

सभी भाइयों को बताया कि रामचन्द्र ने बुलवाया है, न जाने क्या काम आ पड़ा है। यहाँ यह बात दृष्टव्य है कि गोंड गाथाओं में काल की अवधारणा इतिहास के समान एक सीधी रेखा की भाँति नहीं है। यहाँ महाभारतकाल तथा रामायण काल के चरित्र एक ही समय में उपस्थित हैं।

पाँचों पाण्डव अपने-अपने आयुध लेकर राम के दरबार में पहुँचते हैं। राम पाण्डवों के साथ प्रेमपूर्वक मिलते हैं। उन्हें सम्मानपूर्वक बिठाते हैं। रामचन्द्र ने डिंडा महल में लक्ष्मण के आचरण के विषय में उन्हें बताया और भीम से वहाँ जाकर वास्तविकता का पता लगाने को कहा-

अब चले हवे भीम मर्दाना रे दादा  
पाँच-पाँच कोस के एक-एक डग धरथै भाई  
डोंगरी पहारन ला कूदत जाथै रे दादा  
कछुरेंगे, कछुदौरै, उड़ै पहुँच गैसे डुंडा महल मा

होऽऽ झाँके जब भिम्मा। पर्क ने लौट परे है भिम्मा। हे भगवान या लछमन ला का भैगे रे। कैसे मा अपन सत ला गवाँय बैठी सी, आय के रामचन्द्र ला सुनाय रहे हैं।

यह सब सुनकर सभी देवता, पाँचों पाण्डव, सीता, नारद मुनि, वासुक राजा अपनी फौज और अस्त्र-शस्त्रों के साथ डुण्डा महल की ओर प्रस्थान करते हैं। सभी राजा और प्रजा भी चल पड़ी है। लक्ष्मण की नींद टूटती है और वे भौचक्का होकर सबको देखते हैं। रामचन्द्र वहाँ बिखरे हुए वस्त्रों को देखकर पूछते हैं कि बताओ ये वस्त्र किस लड़की के हैं। लक्ष्मण को ज्ञात होता, तभी तो वह बताता। नारद मुनि कहते हैं कि लक्ष्मण को अपने सत की परीक्षा देनी होगी। गाथा में आगे लक्ष्मण की अग्नि परीक्षा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। एक लोहे का महल बनाकर उसके चारों ओर आग लगाई जाती है। अन्त में लक्ष्मण चैन से किंदरा बजाते हुए बाहर निकलते हैं।

ईहां लछमन चैन से किंदरा बजाय रहे हैं रे भैया S  
नौ सौ फड़की परेवा छुनर नाच रहे हैं भाई  
ऊँहाँ रामचन्द्र रोय रोय के आंसू बहाय रहे हैं दादा  
सग देवता, कँवरा, पँडवा बेहाल भै जाथै रे भाई  
वासुक देव रामचन्द्र ला समझाय रहे हैं हो S

होऽऽ निकरे हैं लक्ष्मण छकात नैं तेंन सम्मत मा रामचन्द्र दौड़ के छातो से लगाय लैस अपन भाई ला। होऽऽ लछमन सबन से दौर-दौर मिलन लागि।

अब पूरी भै गे सत की परिच्छा  
खरा उतरिन लछमन  
सत धारी लछमन  
बरत धारी लछमन।

लक्ष्मण की सत परीक्षा के द्वितीय अध्याय में इन्द्र कामिनी की लक्ष्मण को मोहित करने की चेष्टाओं का वर्णन किया गया है। वह अतरा मक्खी बनकर लक्ष्मण के विश्राम कक्ष में भनभनाती हुई उड़ने लगती है। लक्ष्मण निद्रालीन हैं और उनका किंदरा खूटी पर लटक रहा है। इन्द्र कामिनी रानी का रूप धरकर लक्ष्मण को जगा रही है-

जग जा रे बैरी  
चुटुक मोरी कोधी  
देख तो ले संगी  
तोर लाने साथी  
में तो मरे जाथों  
चुटुक आँखी खोले के देख तो लरे मोरे डहर  
जिव जुड़ाय जाय संघी आव! नहीं ठगों।

आगे की गाथा में अभिचार, जादू-मन्त्र आदि के प्रयोग भरे पड़े हैं। इन्द्र कामिनी लक्ष्मण को बकरा बनाकर उसे कान से पकड़कर इन्द्र लोक उड़ा कर ले जाती है और उसे खूँटे से बांधकर रखती है। लक्ष्मण परेशान होकर एक दिन अपनी भौजी सीता का स्मरण करता है। स्वप्न में प्रकट होकर लक्ष्मण उनसे कहता है कि इन्द्र कामिनी ने उसे बकरा बनाकर बांध लिया है। उसे शीघ्र मुक्त नहीं कराया गया तो वह मर जाएगा। रामचन्द्र ने परवाना भेजकर पाण्डवों को बुलवाया। सहदेव ने अपनी पोथी बांधकर बताया कि इन्द्र कामिनी लक्ष्मण को बकरा बनाकर रखे हुए है। दिन में उसे बकरा बनाकर खूँटे से बांध देती है और रात्रि में मनुष्य बनाकर उसे नचाती हैं।

रामचन्द्र ने पत्र लिखकर सभी देवी-देवताओं को बुलवाया है। महादेव-पार्वती, कौरव-पाण्डव, हनुमान सभी आ गये हैं।

रामचन्द्र ने अपने लाव-लशकर के साथ इन्द्रलोक पर चढ़ाई कर दी है। नारद मुनि की सलाह पर 'आज रात्रि में जितने भी जीवित बकरे हैं उन्हें मार डालो', भीम ने ऐसा ही किया। लक्ष्मण चूँकि रात्रि में मनुष्य रूप में था तो उसे बचा लिया गया। नारद के साथ पाण्डवों ने नृत्य तथा तमाशा करके इन्द्र को प्रसन्न किया और उससे इनाम के रूप में एक बकरे की मांग की। इस प्रकार से लक्ष्मण को मुक्त करवाया। रामचन्द्र-लक्ष्मण से मिलकर बिलख-बिलख कर रोने लगे। लक्ष्मण पर हाथ फेरते ही संपूर्ण जादू का प्रभाव समाप्त हो गया।

इन्द्र कामिनी को जब लक्ष्मण के जाने की जानकारी मिली तो वह क्रोध से आग बबूला हो गई, और बाज बनकर रामचन्द्र के रथ का पीछा करने लगी और उनके रथ में पहुँच गई। उसने चोंच मार-मारकर रामचन्द्र को नोंच डाला। रथवान के हाथ से घोड़ों की रास छूट गई और रथ धरती पर उतर गया और सीता रानी के स्थान पर पहुँच गया। बाज ने रानी का रूप धारण कर सीताजी को बालों से पकड़कर उनसे संघर्ष करने लगी। सभी लोग उन्हें संघर्ष करते हुए देख रहे थे। फिर नारद मुनि की युक्ति काम आई। उन्होंने इन्द्र कामिनी से लक्ष्मण का विवाह रचाने का छल किया। विवाह पूर्व बड़ादेव की पूजा के लिए उसे अन्दर के प्रकोष्ठ में ले गये और होम देने हेतु अग्नि लाने का बहाना करके लक्ष्मण उसे वहीं छोड़ आया। लक्ष्मण ने उसे कसम दिलाई कि वह उसके आने तक उसी स्थान पर बैठी रहेगी और उसने प्रकोष्ठ का दरवाजा बन्द कर दिया।

अठारह खंड के महल का धंधे रहगै भाई  
अब रोय रोय पछताय रहे हैं इन्द्र कन्या हो ऽऽ

सब देवता अपने-अपने स्थान को प्रस्थान कर गये। इन्द्र कामिनी महल के अन्दर नागिन के समान फुंफकार रही है।

रामायणी के तीसरे अध्याय में लक्ष्मण के विवाह का वर्णन है। लक्ष्मण का विवाह तिरियाफूल से होता है, जो इन्द्र राजा की दुर्बल कन्या है। सीताजी सोचती हैं कि लक्ष्मण विवाह योग्य हो गया है। उसका विवाह हो जाना चाहिये। वे लक्ष्मण से कहती हैं कि तुम सतधारी हो। तुम्हारी बहुत प्रशंसा सुन रखी है। उसमें कितनी सच्चाई है, कितनी झूठ है। लक्ष्मण कहता है कि क्या आपको इसमें शंका है। सीताजी कहती हैं - शंका है तभी तो वे उसके पास

आई हैं। वे कहती हैं-

तैं सुनले देवरा

इन्दर राजा के लड़की

दुर्बल कन्या

बोली मा सैना

चाल मा कबुतरी

सोह की मोहनियाँ

चंदा सूरज उनहारी

ओला देख के रे देवरा

अपन सत भी अटल रहते

तब तो सतधारी लेख तौं तोला हो

लक्ष्मण कहता है कि भौजी मैं उसे लेकर आऊँगा। मैं उस कन्या को हाथ तक नहीं लगाऊँगा। मैं अपने सत की परीक्षा तुम्हें दूँगा। गाथा में आगे अनेक घटनाओं का वर्णन है। मार्ग में एक साधु उसे दुर्बल कन्या के विषय में जानकारी प्रदान करता है। इसी साधु के सहयोग से इन्दर कन्या तक पहुँचता है। गाथा में अनेक घटनाओं का उल्लेख किया गया है। अभिचार के प्रयोग द्वारा दुर्बल कन्या फूल बन जाती है। लक्ष्मण के आग्रह करने पर वह सरोवर के जल में डूबकर फूल बनकर दिखाती है। उसी समय भौरा आकर उस फूल को तोड़कर उड़ जाता है। लक्ष्मण उसके पीछे-पीछे भागता है। उसे सभी स्थानों पर ढूँढता है- पर्वतों पर, इन्द्र लोक में, पाताल लोक में। उसे ढूँढते हुए बारह वर्ष बीत जाते हैं फिर भी वह उसे ढूँढने में असमर्थ रहता है। वह पुनः उसी साधु बाबा के पास जाकर उपाय पूछता है। साधु ने बताया कि वह भौरा

उसे कजरीवन में ले गया है और उसने उसे बांस के भीरा में छिपा रखा है। जब वह फूल लेकर भागने लगा तो असंख्य भौरों ने उसके ऊपर आक्रमण कर दिया। उसके संपूर्ण तन पर भौर लिपट गये हैं। इस कष्ट से उसके प्राण निकल गये। लक्ष्मण धरती माता से विनती करने लगा -

हे धरती माता मोला शरन देदे

मैं तो मरे जाथों नहीं बचों माता

फट जा वो धरती मैं तो समाय जाऊँवो हो 55

धरती फटती है और लक्ष्मण उसमें समा जाता है। वहाँ वह सीताजी का स्मरण करता है। सीताजी को सपना आता है कि लक्ष्मण के प्राण संकट में है। वे रामचन्द्र को सपने के बारे में बताती हैं। रामचन्द्र ने सहायता हेतु पाण्डवों को बुलाया। भौरों ने भीम पर भी आक्रमण कर दिया। अन्त में हनुमान ने लक्ष्मण को मुक्त करवाया।

उधर तिरिया फूल से दुर्बल कन्या बन गई। सीताजी ने लक्ष्मण का विवाह दुर्बल कन्या से करवा दिया। इस तरह लक्ष्मण का सत पूर्ण हुआ।

रामायणी की सभी गाथाओं में लक्ष्मण के सत की परीक्षा होती है और सभी में वह सफल होता है। इसीलिए संपूर्ण गोंडवाना में लक्ष्मण की मान्यता जति (यति) के रूप में है। लक्ष्मण जति की यह गाथा देवार गाथा गायकों तथा परधानों ने संपूर्ण गोंडवाना में प्रचारित की है। रामायणी के नायक राम न होकर यहाँ लक्ष्मण माने गये हैं।

नोट : प्रस्तुत आलेख लेखक के प्रकाशित होने वाले ग्रंथ 'गोंड जनजाति' का अंश है। इसका किसी भी अन्य व्यक्ति के द्वारा उपयोग वर्जित है।

## भिलाली गीतों में प्रेम

गजेन्द्र आर्य

कौमुदी के समान सौम्य, शांत तथा अकिल्बिष लोककलाएँ आज भी वन-प्रदेश में अपनी आभा बिखेर रही हैं। आम्र मंजरियों पर कोयल की कुहू-कुहू..., रात्रि में श्रृंगाल की हुकू-हुकू..., मयूरों का केकारव, पक्षियों की चहचहाहट, ढोल-मांदल की हुमकती ध्वनि, बंशी की मचलती धुनें और नृत्य से थिरकता वनांचल बरबस ही अपनी तरोताजगी से झुरमुटों की ओर खींचता है। इन ध्वनियों के बीच एक और ध्वनि सुनाई देती है, भिलाली गीतों की। भिलाली गीत का अनुनाद कर्ण कुहरों में पड़ते ही व्यक्ति सक्रिय हो जाता है, पूरा गीत सुनने की मजबूर होना ही पड़ता है। उबाहट का टेटुआ दब जाता है, थकान औंधे मुँह जा गिरती है, आनंद का अभ्युदय होता है और निस्सीय ऊर्जा की अनुभूति होती है। ऐसे होते हैं प्रेम-गीत।

आलोच्य गीत का उद्दीपन, वसंत ऋतु में धार-अलिराजपुर के वन-क्षेत्र की प्राकृतिक सुषमा है। भाव इतने मार्मिक की सुनने वाले उत्फुल हो जाते हैं। भावुक व्यक्ति की छाती पर तो यह चढ़ बैठा है। गीत की प्रभावोत्पादकता इतनी बढ़िया है कि बैठा हुआ व्यक्ति बैठे-बैठे ही ऐसे हिलता है, जैसे घोड़े पर बैठा हो। ढोलगिया-फेफरिया की संगत होती है, तब तो आनंद अत्यधिक प्रगति करता है। सुनने वाला छटपटाने लगता है, पैर अपने आप उठने लगते हैं, उंगलियों से चुटकियाँ बजना शुरू हो जाती हैं और मन बोल उठता है- 'मैं तो नाचूँगा'।

जब वसंत की बयारें चलती हैं, तब सागवान, पलास, महुआ..., के पेड़ों पर कोपलों के प्रादुर्भाव की तैयारियाँ शुरू हो जाती हैं। महुआ के पेड़ों से महुआ फल गिरना प्रारंभ हो जाते हैं। वनवासी ब्रह्ममुहूर्त में उठकर सिरहने रखी टोकरी को उठाते हुये उल्लसित मनोयोग से महुआ फल बिनने चल पड़ता है। मार्ग में वसंत की रतिगंध मंत्रमुग्ध कर देती है। निस्तुष उत्कण्ठा पैर पसारने लगती है।



परिणामस्वरूप उसके कोकिला कण्ठ से वसंत प्राणवन्त होकर फूट पड़ता है। वस्तुतः अन्तस्थल की खदान से भावों के बहुमूल्य मोती, शब्दों के रूप में निकलने लगते हैं। अतः वह विदेहीमूत होकर उल्लास के समुद्र में गोते लगाते हुये, झूम-झूम के गीत गाता है। गीत के उद्भव की पृष्ठभूमि यही है-

उजाड्या बन मा महुड़ी घणी टपके  
जो चिरलों चोरी जे, चुरी माथे पोड़से।  
पला झाड़ न थुड़ मा, डुकाई रहयो चिरलों  
वारू-वारू महुड़ी भाळी रहयो ओ।  
एनी डाले, पली डाले हिन्डी रहयो चिरलों।  
वारू-वारू महड़ी खाई रहयो ओ।  
रंगिलो फुलको ने आंगणे रोमे घाघेरो  
जुवार्यो लुगडों रूळी रहयो ओ।  
आयणी काजे भाळी ने चिरलों नैना राळे  
आवजी-आवजी नानी भोगर्या मा जासु ओ।

गीत में दो स्थलों का वर्णन है। प्रथम स्थल वन का है, जिसमें उजड़े हुये वन में महुआ फल गिरने, उसे पंछी द्वारा देखने, खाने और चुराने की बात का उल्लेख है। दूसरा स्थल गाँव का है, जिसमें प्रेम-प्रसंग है।

महुआ फल बिनने वाला युवक कहता है - 'उजड़े हुये वन में महुआ फल बहुत गिर रहे है। यह जो नटखट पंछी है, महुआ फल चुरा ले जाता है, चोरी मेरे माथे पड़ेगी।'

युवक समझ गया कि पंछी गड़बड़ है। वह आगे कहता है- 'दूसरे पेड़ के नीचे पंछी छुपा हुआ है। वहाँ से उत्तम-उत्तम महुआ फल देख रहा है।'

युवक ने पंछी की चोरी पकड़ ली है। वह आगे फिर कहता है- 'इस डाली से उस डाली पर पंछी घूम-फिर रहा है। अच्छे-अच्छे महुआ फल खा रहा है।' जब महुआ फल का समय ढलने लगता है, तब वनांचल के क्षितिज पर विवाहों का केसरिया ध्वज लहराने लगता है। सजे-धजे युवक-युवतियाँ, बड़े-बूढ़े व नन्हे-मुन्हे सभी में हर्ष व्याप्त हो जाता है।

यहाँ दूसरा स्थल है। युवक, गाँव की बात करते हुये कहता है- 'रंगीन पोलका व घाघरा पहनकर आँगन में नृत्य हो

रहा है। वधू की साड़ी लटक रही है।'

जब हम चलचित्र देखते हैं, कहानी पढ़ते हैं या कोई संस्मरण सुनते हैं, इन प्रसंगों में आद्यन्त नायक के रूप में स्वयं को देखते हैं। यहाँ पर भी ऐसा ही हुआ। युवक स्वयं को पंछी के रूप में प्रस्तुत करते हुये आगे कहता है- 'समधन पक्ष की लड़की को देख पंछी आँखें उछाल रहा है। आगामी भगोरिया में जरूर आना।' महुआ फल बिनने वाला युवक भावाभिभूत है। उसे जरूर किसी से प्रेम हुआ है। उसने अपनी प्रेयसी को आगामी भगोरिया में बुलाया है। कितना रोचक तथ्य है, इसलिये कि भगोरिया से भाग कर प्रणय-सूत्र में बंध जायें।

गीत में आया 'बन' शब्द तद्भव है। 'बन' शब्द लुप्त होने की कगार पर है। 'बन' के स्थान पर 'जंगल' शब्द प्रचलित हो चुका है। भिलाली भाषा में कई तत्सम-तद्भव शब्द उपलब्ध हैं। 'रोमे' शब्द भी लगभग लुप्त हो चुका है। 'रोमे' के स्थान पर 'खेलें' शब्द का प्रचलन शुरू हो चुका है। नई-नवेली पीढ़ी को इन शब्दों का ज्ञान नहीं रहा है। 'जुवार्यो लुगडो' में गम्भीर व रोचक आशय छुपा हुआ है। जुवार्यो यानी जुवार जैसा 'लुगडो' अर्थात् साड़ी। जिस साड़ी के ऊपर ज्वार जैसी बिन्दियाँ छपी हों उसे 'जुवार्यो-लुगडो' कहते हैं। इस साड़ी को महिला अपने जीवन में केवल एक बार ही पहनती है, स्वयं के विवाह में। इसका प्रचलन भी समाप्ति की ओर है।

भिलाली गीत का प्रवाह इतना है कि खलखलाता हुआ निर्बाध गति से आगे बढ़ जाता है। वन्य प्राणियों के प्रति मानवीय संवेदनाओं का प्रकटीकरण हुआ है। नगरीय समूह वनवासियों को सदैव नासमझ समझता आया है, यह उनके निरीक्षण की कमी है। इस गीत में पंछी की चपलता का मार्मिक परिदृश्य उल्लेख करता है कि वन बन्धुओं की सूक्ष्मदृष्टि पंछियों के मनोभाव पढ़ने में सक्षम थी, फिर नासमझ कैसे हुये?

भिलाली गीतों की अहमियत आज भी उतनी ही प्रासंगिक है, जितनी घनीभूत अन्धेरे में ज्योति की। यह उस ज्योति का ही प्रभाव कहिये, जो अंधकार के लतातन्तुओं को तोड़, यात्री को गन्तव्य तक पहुँचाती है। भिलाली गीतों का लिखित स्वरूप नहीं है, वाचिक परम्परा है। यह एक कण्ठ से दूसरे कण्ठ तक वैसे ही आ रहे हैं, जैसे जलराशि जड़ से मूल, मूल से तने, तने से डाली

और डालियों से पत्तियों तक पहुँचती है। गीत कब रचे गये, यह बताना कठिन है। समय के खौलते तेल ने इन गीतों को इतना परिपाक कर दिया कि हर कोई इनका स्वाद चटकारे भर-भर के लेता है।

एक ओर आम्रमंजरियों पर कोयल कुहू-कुहू ..., करने लगती है, तो दूसरी तरफ विवाह भी गुमसुम-गुमसुम नहीं होते, बल्कि उल्लास की दुंदुभि निनाद करने लगती है। इधर पेड़ों पर नई कोपलें छा जाती हैं, उधर गर्मी से झुलसे मुखमण्डलों पर नई दीप्ति इठलाने लगती है। जब मांदल 'भाकुम भक, भाकुम भक...', बजता है, तब व्यक्ति में मंद-मंद कँपकपी शुरू हो जाती है। जब फेफरिया सुर लगता है, तब व्यक्ति के पैर डगमगाने लगते हैं और जब कुंडी और थाली अपनी मधुरता बिखेरने लगती है, तब युवक 'बु-बु..,' बबकारियाँ और युवतियाँ कुर्रर्र... कुर्राटियाँ मारते हुये नाचने लगते हैं।



प्रीति जब चरमोत्कर्ष पर होती है, तब प्रेमी सुध-बुध खो बैठता है। भावनायें उफनने लगती हैं। दबाने पर अंदर ही अंदर सुरंगें बनाने लगती हैं। जब सुरंगें नहीं बनती, तो शब्दों का रूप धारणकर बाहर आने लगती हैं और यहीं से गीत शुरू होता है। अन्तस्थल में प्रीति का उद्गम द्योतक है इस तथ्य का कि विचारों के बिना मस्तिष्क, पेड़ों के बिना भूमि और प्रेम के बिना जीवन बंजर है। वास्तव में भिलाली गीतों में जिन भावों की अभिव्यक्ति हुई, उन्होंने अपना प्रभाव व्याप्त किया। भावोज्वलता का स्पन्दन स्तोतव्य है, जो मनोमालिन्य दूर कर देता है और यही कारण रहा कि प्रत्येक वर्ग ने शिरोधार्य किया। इस गीत की संरचना देखिये-

कड़वी लिमड़ी नु साहल्लु सेव्यों घणो,  
आयणी आई जा नि काई साहल्लु सेव्यों घणो।

नीळी जामली मा बगल्यो पाणी पीतो जाय,  
आसीकाय भाळे ओ आयणी मारो भायो जाय।  
रातलो झगल्यो पेरतो मारो भायो जाय,  
आसीकाय भाळे ओ आयणी मारो भायो जाय।  
तारी बावड़ी नु पाणी उडावतो जाय  
आसीकाय भाळे ओ नानी तारो लाडो जाय।

सरसरी दृष्टि खोजती है, कहाँ छुपा है? सामने क्यों नहीं आता? जब प्रेमी सहमता हुआ सामने आता है, तब प्रेयसी सकपका जाती है, मदोन्मत्त हो जाती है। उस पर टकटकी ही लगाये रखती है, पगलाई सी बगुले की तरह। इस दृश्य को युवक की बहन ने देखा, रहस्य समझते देर नहीं लगी। युवक की बहन, उस युवती को छेड़ते हुए कहती है- 'कड़वे नीम की छाया बहुत शीतल है। आयणी यहाँ आ जाओ, वहाँ क्या कर रही हो?'

युवक पानी पीकर जाने लगा, युवती

उसे पुनः देखने लगी। युवक की बहन फिर बोली- 'हरे जाम के नीचे पनिहारा है, जहाँ शुद्ध शीतल जल है। उस जल को सुंदर सा बगुले जैसा लड़का पीकर जा रहा है, उसे तुम भावभरी दृष्टि से क्या निहार रही हो, वह मेरा भाई है?' आगे पुनः कहती है- जिसने लाल कमीज पहन रखी है, जो उसके ऊपर बहुत सुंदर लग रही है। ऐ लड़की! उसे इस प्रकार प्यार भरी दृष्टि से क्या देख रही हो? वह मेरा भाई जा रहा है।'

युवक की बहन ने उस युवती को मन ही मन अपनी भाभी बना ली, अब स्पष्ट कहती है- 'तेरी बावड़ी का पानी जो उड़ाता हुआ जा रहा है, ऐ लड़की! उसे भावुकतापूर्ण क्या देख रही हो? वह तुम्हारा भावी पति है।'

वैवाहिक अवसरों पर इस गीत का आनंद उठाया जाता

है। नृत्य होता रहता है और आँखों ही आँखों में बात होती जाती है। भावनाएँ, भावनाओं को टटोलती रहती हैं, मंद-मंद मुस्कानें बिखरती चली जाती हैं। 'कड़वी लिमड़ी नु साहल्लु..,' मुख्य पंक्तियाँ जैसे ही समाप्त होती हैं, वैसे ही फेफरिया बजता है। फेफरिया जैसे ही रुकता है और 'नीळी जामळी..' गाने लगते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है 'कही मर न जायें।' सरसर करता हुआ गीत सरकता ही जाता है और रुकता है वहाँ, जहाँ अलौकिक आनंद की चमक मुखमण्डलों पर स्पष्ट दिखती है।

वनवासी लोक संस्कृति का पर्व भगोरिया, जिसके दर्शन को उमड़ पड़ता है अथाह जन-समूह, सात समन्दर पार से भी खिंचे चले आते हैं लोग। इस सांस्कृतिक पर्व में जो भी सम्मिलित होता है, उल्लास के रंग में रंग जाता है, आनंद के रस में डूब जाता है।

चारों ओर फैली सुरम्य घाटियाँ, पुष्पों - फलों से लदे पेड़-पौधे। शुद्ध सात्विक जलवायु, औषधियुक्त बेलें, घास तथा कन्दमूल तथा चहुँओर फैला सुषमा का संसार। खाइयों, चट्टानों, वृक्षों, दुर्गम मार्गों तथा वन्य जीव-जन्तुओं के सान्निध्य वास करते हैं जो लोग, इसीलिये कहा गया 'वनवासी' लोग। जिनका विशिष्ट पर्व है भगोरिया, परिणय भगोरिया का एक भाग है।

प्रेम नहीं होता तो यह संसार नहीं होता, घृणा की लपलपाती अग्नि में जलकर भस्मीभूत हो जाता। जब अन्तस्थल में प्रीति की कोपलें फूटती हैं, तब स्मृतियों की बयारें चलने लगती हैं, सपनों के पंछी फुदकने लगते हैं, उमंगों की चाँदनी छिटकने लगती है और फिर चहुँओर कुछ न कुछ बदला-बदला सा प्रतीत होता है। चाहत हिचकिचाते हुये कहती है- 'लो पान खा लो।' बेवशी मुस्कराते हुये पान खा लेती है, बस अब कुछ मत कहो। यही आशा, यही विश्वास, यही टीस, यही अभिव्यक्ति, यही जीवन, यही प्रीत वनवासी लड़के-लड़कियों को परिणय-सूत्र में कसकर बाँध देती है।

भगोरिया में जब नृत्य टोलियाँ अपना लालित्य बिखेरने लगती हैं, तब लोगों की सांसें थम जाती हैं। लड़कों के हाथों में धनुष-बाण, लड़कियों के हाथों में घुँघरू, रूमाल और तरह-तरह के आभूषणों से विभूषित। लड़के-लड़कियाँ साथ-साथ नाचते हैं। गीतों की सुरभित झकझोर देती है। नृत्य की इतनी मुद्रायें की

आँखें फटी की फटी रह जाती हैं। पूरे हाट में घूम-घूम के झूम-झूम के नाचते हैं। एक साथ पैर-हाथ उठते, एक साथ पलटते, कहीं कुछ गड़बडी नहीं। जनसमुदाय उल्लसित हो उठता है। सुर, ताल और शब्द मन मोह लेता है। गीत के शब्दों का रस देखिये-

रातराणी रातली पुरई  
बान्डी घाघरी नाचणे टेवाय रोहली ओ।  
रातेलो पान ओ नानी  
बान्डी घाघरी नाचणे टेवाय रोहली ओ।  
भगुर्या मा आई ओ नानी  
बान्डी घाघरी नाचणे टेवाय रोहली ओ।  
हाट मा आई ओ नानी  
बान्डी घाघरी नाचणे गोळ्वाई रोहली ओ।  
रातराणी नु रातोपान  
बान्डी घाघरी नाचणे टेवाय रोहली ओ।  
पान ते खादो ओ नानी  
पान खाय ने वारलु गोळ्वाई रोहली ओ।

इस गीत में भगोरिया का प्रेम-प्रसंग है। वनवासी बाला का सौन्दर्य, नृत्य के प्रति रूचि तथा प्रेम की अभिव्यक्ति में पान की अहमियत को दर्शाया है। बान्डी घाघरी से आशय नृत्य करते समय कमर से घुटनों तक फुन्दे लकटने से है।

मुखड़े का अर्थ- 'रातरानी के फूलों जैसी महकती यह लालिमायुक्त बाला कितनी सुंदर है। नृत्य भी बढ़िया कर रही है। गोल-गोल घूमने वाली मुद्राओं की प्रस्तुति रोचक लग रही है।'

पहला तथा दूसरा अंतरा- 'भगुर्या के हाट में फुन्दे लटकाकर बार-बार नाच रही है। घुटनों तक रंग-बिरंगे फुन्दे लटकाकर नाचती ही जा रही है, जैसे नाचने की आदत सी हो गई है।'

तीसरा तथा चौथा अंतरा - 'दिन तो दिन अपितु रात में भी जो महकती है, ऐसी सुन्दर लड़की के हाथ में पान है। इसे किसी से प्रेम हुआ है, यह पान उसी को खिलायेगी। यह पान भी खा रही है, इसको किसी का प्यार स्वीकार है। इसीलिये यह तल्लीन होकर नाचती ही जा रही है।'

## भीलों के विश्वास

डॉ. रामसिंह यादव

मध्यप्रदेश की दक्षिण-पश्चिम सीमा पर इंदौर संभाग के अंतर्गत 'झाबुआ' शहर है। झाबुआ में ज्यादातर भील-भिलालों-पटलियों आदि का बाहुल्य है। यहाँ भीलों के टोने-टोटके और अंधविश्वास पर प्रकाश डाला जा रहा है। जादू टोने और टोटके झाबुआ के आदिवासी जंगलपुत्रों का अभिन्न अंग है। जंगल-वन-पहाड़ और टपरो में रहने वाले इन लोगों में जन्म से लेकर मरण तक देवी-देवताओं, भूत-प्रेतों तक टोने-टोटके, जादू-मंत्र, झाड़-फूंक आज भी प्रचलित है।

खा-खोल्लो, सले भमारो, ताव तेजरो, भरिए।

भरिए मालवा जाजे।

थोड़ा गधाजी गाऊँ पुराजे।

गरुमाता नी आँख ओडते।

जाजे धारनी डोकरी कठले

यह है भीलों का प्रसिद्ध टोटका 'रोंगटा' दीपावली के एक दिन पहले काली चौदस (नर्क चतुर्दशी) को रात्रि जलती हुई (धुँआ देती) लकड़ी लेकर भील अपने पशुओं के ध्यान में उपरोक्त पंक्तियाँ बोलते हुए रोंगटा करते हैं। भीलों का यह टोटका रोगों और पशुओं में महामारी की रोकथाम करता है। इस मंत्र का अर्थ है- खाँसी, खसरा, सर्दी, जुकाम, बुखार, तेजारी सम्पन्न मालवे में जाना, घोड़े-गधे का हगना बंद हो जाना, गाय माता गौ की आँख खोल देना, सभी अलाय-बलाय घर की डोकरी के पास जाना।

जादू, टोने-टोटके आदिवासियों के जन-जीवन का अभिन्न अंग है। वन्य जीवन से जुड़े इन भील-भिलालों और पाट्ल्यों में

जन्म से मरण तक, देवी-देवताओं से लेकर भूत-प्रेतों तक विभिन्न क्षेत्रों में झाड़ू-फूंक, टोने-टोटके प्रचलित हैं। इन्हीं गहन विश्वास के कारण भील समाज में बड़वे की स्थिति महत्वपूर्ण बन जाती है। बड़वा भील समाज में ओझा या सयाने झाड़ू-फूंक करने वाले आदमी को कहते हैं। जो प्रेत-बाधाओं को झाड़ूने-फूंकने का कार्य करता है। इसी बड़वे से संबंधित एक प्रचलित टोटका है- 'डाकिनी का टोकटा'।

जब किसी गाँव में कोई प्राकृतिक प्रकोप, बीमारी या पशुरोग फैल जाता है, तो गाँव के लोग एक मुट्ठी ज्वार अपने घर की स्त्री से सात बार या इक्कीस बार उतार कर बड़वे के पास कपड़े की गाँठ में बाँधकर ले जाते हैं। (शहरों में इसे मूठ दिखाना कहते हैं, जो किसी योग्य अथवा जानकार को दिखाई जाती है) बड़वा लाए हुए अनाज के दानों की जाँच-परख करता है और फूँक मारकर मंत्रोच्चार करते हुए ताम्बे के सिक्के पर तीर द्वारा नक्शा बनाकर देता है, जिसके आधार पर गाँव के लोग डाकन या बुरी नजर वाली औरत की खोज करते हैं। ऐसी महिला को ढूँढकर उसे गाँव से बाहर कर दिया जाता है। इस प्रचलित अंधविश्वास के कारण ऐसी महिलाओं के साथ नृशंसतापूर्वक व्यवहार एवं उसके परिवार वालों या रिश्तेदारों की हत्या तक के प्रकरण सामने आए हैं।

### होवन माता की चलावनी

भीलों का यह प्रसिद्ध टोटका है। यह एक प्रकार की तांत्रिक क्रिया है, जो रबी फसल की बोवनी के समय संपन्न होती है। इसका उद्देश्य अच्छी भरपूर फसल और वर्ष भर गाँवों से प्राकृतिक आपदाओं को दूर रखना होता है। इस कार्य की सम्पन्नता के लिए पूरे गाँव से चंदा इकट्ठा किया जाता है, जिसे गाँव के प्रधान (तड़वी) को सौंप दिया जाता है। रविवार या मंगलवार का

दिन निश्चित किया जाता है और चलावनी की कार्यवाही एक दिन पूर्व से प्रारंभ हो जाती है। एक छोटी सी खिलौना बैलगाड़ी बनायी जाती है, उसमें छोटे-छोटे पहिये, बैलों की धुरी और बैल भी लगाए जाते हैं। उस पर भूसे के कुछ पुतले बनाकर रखे जाते हैं, जो आदिवासियों के देवी-देवताओं के प्रतीक होते हैं। इन खिलौना बैलों को लालरंग की झंडियों से सजाया जाता है। 'चलावनी' के दौरान गाँव के लोग अपने घरों की साफ-सफाई नहीं करते, वे खेतों पर काम करने भी नहीं जाते। 'चलावनी' के लिए तड़वी, बड़वा और गाँव के दो चार युवक गाँव की सीमा (सिगाडा) पर एकत्रित हो जाते हैं। चलावनी में स्त्री का जाना वर्जित है।



तड़वी, बड़वे द्वारा बतायी गयी पूजन सामग्री यथा नारियल, लोभान, अगरबत्ती, कपूर, सिंदूर, फूल, पानी का बर्तन और शराब की बोतल लेकर बड़वे के सामने बैठ जाता है। बड़वा मंत्रोच्चार करना आरंभ करता है और साथ आए व्यक्ति मडीया बजाने लगते हैं। बड़वा शरीर को जोर-जोर से हिलाना प्रारंभ करता है। इसे घुनना कहा जाता है। देवी की प्रविष्टि के बाद बड़वा वर्ष भर के लिए भविष्यवाणी करता है और चेतावनियाँ देता है। यदि देवी नाराज होती हैं तो

तड़वी देवी की मन्त करना होती है। यह बड़वे के शरीर में प्रतिष्ठ देवी को शराब पिलाता है। यह पूजन रात्रि भर चलता रहता है, दूसरे दिन सुबह से दोपहर तक चलावनी का मुख्य कार्यक्रम संपन्न होता है।

बड़वा खिलौना बैलगाड़ी जिसे 'खप्पर' कहा जाता है, की पूजा करता है। इसके बाद बलि के लिए लाए गए बकरे की पूजा होती है। बकरे पर पूजा का पानी और शराब छिड़की जाती है। यदि ऐसा करने पर बकरा कान हिला दे तो इसे बलि की स्वीकृति माना जाता है। किन्तु उसके ऐसा न करने पर अपशुन माना जाता है और बलि के लिए दूसरा बकरा लाया जाता है।

बकरे की बलि के पश्चात् भील युवकों का दल बकरे का खून खप्पर में भरकर सिर वहीं छोड़कर धड़ और खप्पर के साथ गाँव के चारों ओर (गाँव की सीमा के बाहर-बाहर) परिक्रमा करते हैं। गाँव के लोग इसके दर्शन कर पानी, तिल, उड़द, मक्का के दाने फेंक कर इस यात्रा की पूजा करते हैं। दल पुनः उस स्थान पर पहुँचकर बकरे को भूनता है और प्रसाद पाता है। इसके साथ ही गाँव की विपत्ति-बीमारी बाहर हो गयी है, ऐसा माना जाता है। चलावनी का यह टोटका आजकल अधिक प्रचलित है।

रोग, पशुओं की बीमारी, फसलों की सुरक्षा के साथ ही साथ भील-भिलालों में एक और टोटका प्रचलित है, जो फल न दे या कम फल देने वाले पेड़-पौधे के फलने-फूलने से संबंधित है। यदि किसी के यहाँ पेड़-पौधों में यह शिकायत हो तो संबंधित व्यक्ति रविवार, मंगलवार या गुरुवार को कृष्णपक्ष में उस पेड़ के कच्चे फल सिंदूर अगरबत्ती के साथ राख का एक घेरा बनाकर आम रास्ते में रख देता है। यह मान्यता है कि इस प्रकार के टोटके से पेड़ खूब फल देने लगता है।

भीलों के बच्चे के जन्म के समय से ही टोने-टोटके शुरू हो जाते हैं। जन्म और कैशोर्य अवस्था तक के कुछ प्रचलित टोटके इस प्रकार हैं- प्रेत बाधा से बचाने के लिए नवजात शिशु एवं प्रसूता के पास एक तीर रखा जाता है। प्रसूति गृह में शिशु और माता के पास हमेशा परिवार का कोई न कोई सदस्य रहता ही है, उसे अकेला नहीं छोड़ा जाता। शिशु की प्रसूति के समय से ही प्रसूति कक्ष (जो प्रायः पशुओं के बांधने का स्थान) होता है, के बाहर अग्नि प्रज्वलित कर दी जाती है। ये जन्म के दस दिन तक (सूर्य पूजा या सूरज पूजन) तक लगातर निरन्तर जलती है।

शिशु जन्म के बाद पहली दीवाली पर मक्का के ढेर पर शिशु को लिटाया जाता है और पूजा करते हैं। इसी समय बच्चे की माता शिशु के पास के गड़े हुए बाँस पर अपना एक लहंगा उल्टा टाँग कर उस पर एक लोटा रख देती है। इस पूजा विधि

द्वारा वन, धरती, वायु, अन्न एवं सूर्य देव की पूजा की जाती है और बालक को 'भूमि पुत्र' मान लिया जाता है। बारह वर्ष से पूर्व की आयु तक भील बालक को उसकी भुजा और कलाई पर गर्म तीरों से दागा जाता है। इसके पीछे यह विश्वास है कि वह दौड़ने में शक्तिशाली होगा और मरने पर बिना किसी रुकावट के तीर के समान भगवान के पास पहुँच जाता है। एक अन्य मान्यता के अनुसार कलाई और भुजा पर तीर के दागने की प्रक्रिया से उनकी धनुर्विद्या अधिक प्रभावी और भेदक बनती है।

### खोडियार माता की जातरा

अपंग या विकलांग भील लोग झाबुआ नगर में स्थित खोडियार माता की जातरा की मन्ते मानते हैं। ये जातरा प्रति गुरुवार को होती है। मान्यता पूरी हो जाने पर लकड़ी के हाथ-पैर आदि बनाकर माता के मंदिर में चढ़ाये जाते हैं। झाबुआ क्षेत्र के आदिवासी देवी के अनन्य उपासक हैं। रोगटा में भी वह अपनी समस्त आपदाओं का समर्पण धारनी डोकरी धर की प्रसिद्ध माता टेकरी पर करते हैं। उनकी मान्य और आराध्य देवियों अम्बा, कालिका, चामुण्डा, सीतला माता जैसे नामों के अतिरिक्त खोनमाता (पशुओं की संरक्षिका देवी) सावन माता (कृषि की संरक्षिका देवी), जसमा माता (धन-सम्पदा की देवी) को पूजते हैं। इसी के साथ शम्भूमाता (शिव का नारी रूप), चौरण माता (चोरी और डकैती में सफलता देने वाली देवी), नकटी माता (शूर्पणखा) की पूजा भी प्रचलित है।

**मूठ चलाना**- भील भूत-प्रेत आदि पर तो अत्याधिक विश्वास करते ही हैं, साथ ही व्यक्तिगत स्वार्थ साधना के लिए तांत्रिक गुरुओं की तरह अपने शत्रु या प्रतिद्वन्दी को नुकसान पहुँचाने के लिए जादू, टोने-टोटके का प्रचलन भी पाया जाता है। इसमें बहुप्रचलित है- टोना, 'मूठ चलाना' या 'मूठ मारना'। मूठ चलाना किसी बड़े तांत्रिक या बड़वे के साथ किया जाने वाला एक तांत्रिक प्रयोग है, जो शत्रु के किसी आसन्न अनिष्ट अथवा मारने के लिए किया जाता है।

## भिलाला जनजाति

गुलाबसिंह डावर

भिलाला जनजाति मध्यप्रदेश के धार, झाबुआ, बड़वानी, खण्डवा आदि जिलों में पाये जाते हैं। ये स्थायी कृषि करते हैं। गोत्र का नामकरण वृक्षों और पशुओं पर आधारित होते हैं। समान गोत्र में विवाह वर्जित है। ये हिन्दू धर्मावलम्बी हैं। तीज-त्योहारों में होली, दीपावली, भगोरिया, नवई, डहा आदि को प्राथमिकता देते हैं। संगीत के उपकरण बांसुरी, भेरिया, पावला है। सुख-दुःख में मंत्रज्ञाता (बड़वा) ही इन्हें नियंत्रित करता आया है। परस्पर मिल-जुलकर कार्य करते हैं। एकांकी और संयुक्त परिवार होते हैं। घर-झोपड़ी कच्चे खपरैल, घास-फूस से या मिट्टी से बने होते हैं। कहीं सीमेंट व ईंट के मकान भी होते हैं। कुँए, नहर, तालाब, नदी, नाले सिंचाई के साधन हैं। गेहूँ, कपास, सोयाबीन, मूंगफली प्रमुख फसलें हैं।

भिलाला के बारे में मान्यता है कि ये सुसंस्कृत भील हैं। ये अपने आपको भूरिया, डाबर, रावत, चौहान, मण्डलोई आदि कहकर साधारण भीलों से पृथक मानते हैं। भिलालों में बहुसंख्यक भोपावर (निमाड़ से मिला हुआ क्षेत्र) में रहते हैं। कहा जाता है कि प्राचीनकाल में राजपूतों ने भील प्रदेश में अपना आधिपत्य स्थापित किया और भील कन्याओं से विवाह करके मैत्री भाव को दृढ़ बनाया। इस सम्बन्ध से उत्पन्न संतानें ही भिलाला कहलाई। इस क्षेत्र के भिलाले अपने आपको दरबार कहलाना प्रतिष्ठा समझते हैं। तो कई शुद्ध राजपूत कहते हैं। 'प्रसिद्ध औंकार मान्धाता मंदिर की देखरेख की पुश्तैनी जिम्मेवारी भिलाला सरदारों की थी। सन् 1165 ई. में भारतसिंह नामक राजपूत ने इस क्षेत्र को दुर्दान्त दस्यु नाथू भील को पराजित कर इस मंदिर को जन सामान्य के लिए सुरक्षित किया था। किंदवन्ती है कि भारतसिंह और दस्यु राजा की कन्या से उत्पन्न पुत्र आगे चलकर भिलाला प्रमुख बने।

प्रत्येक जनजाति की अपनी संस्कृति, जीवन पद्धति और परंपरा है। भिलाला जनजाति की भी अपनी एक अलग पहचान है। शारीरिक गठन की दृष्टि से ये आदिवासी प्रतीत नहीं होते। सुन्दर आकृति वाले ये उदार और निर्भीक होते हैं। समान गोत्रों में विवाह

सम्बन्ध वर्जित है। इनकी विवाह पद्धति हिन्दुओं के समान है। मांगलिक कार्यों का संपादन पुरोहित के द्वारा होता है। राम, शिव, नर्मदा माँ, हनुमानजी एवं गोत्र के देवी-देवताओं को मानते व पूजते हैं। रामदेव, तेजाजी, सिंगाजी आदि लोक देवताओं को भी ये लोग पूजना नहीं भूलते हैं। गाय, कुत्ता, गिलहरी तथा बिल्ली को मारना ये पाप समझते हैं। विवाह में दायजे की रकम होती है, लड़की के पिता को कुछ रकम देनी पड़ती है। दिनोंदिन बढ़ती राशि से गरीब भिलाला परंपरागत विवाह से कतराने लगे हैं। ऐच्छिक विवाह होने लगे हैं, जिनमें मनचाहे साथी के साथ पलायन कर गृहस्थी बसा लेते हैं। बाद में पंचायत इन्हें सामाजिक मान्यता प्रदान कर देती है। समाज को भोज या हर्जाना स्वरूप कुछ राशि

जिसे 'झगड़ा' कहा जाता है, देना अनिवार्य है। लोकसंगीत में ढोल, कुण्डी और कांसे की थाली उपकरण हैं। ढोल प्रायः अत्यधिक भीड़ भरे उत्सव-समारोहों जैसे भगोरिया, इंदल आदि में बजाया जाता है। विवाहादि अवसरों पर नृत्य नंगी तलवारों एवं अन्य हथियारों के साथ किया जाता है। पाली



नृत्य में पुरुष-पुरुष, स्त्री-स्त्री और स्त्री-पुरुष दो पंक्तियों में विभक्त होकर होले-होले तो कभी तेज गति से नाचते हैं। ये नृत्य प्रायः विवाह के अवसर पर अधिक होते हैं। अन्य उपकरणों में बाँसुरी, केन्द्रिया भेरिया प्रमुख हैं। इन्हें बरसात के दरम्यान भील-भिलाला समुदाय व्यापक स्तर पर बजाया करते हैं। उपकरण भिन्न-भिन्न आकारों-प्रकारों में होते हैं, लंबी-छोटी, पतली-मोटी आदि। इसे स्वयं ये लोग बाँस से बनाते हैं। भिलालों के अनुसार इनके समाज में डाकिने भी होती हैं, जो कभी किसी का अहित कर सकती हैं। विकृत संतान को ये लोग दुष्टात्मा मानते हैं। सामान्यतः भिलालों में गोद लेने की प्रथा प्रचलित है। वहीं दूसरी और घर जंवाई रखने की प्रथा भी है। बलिप्रथा इन लोगों में

आज भी विद्यमान है। केश विन्याश एवं गोदना लगभग समाप्त है। वर्षा न होने की स्थिति में उजवणी, गल व चूल चलना, दिवासा, भूर/गोट, भगोरिया, नाय, गाय-गोयरी, दितवारिया नवाई आज भी विद्यमान है।

इनकी सामाजिक संरचना में टोटम चिन्ह (गोत्र चिन्ह) का भी अत्यधिक महत्त्व है। गोत्र निर्धारण किसी पशु-पक्षी या पेड़-पौधों के नाम के आधार पर होता है। गाँव में पंचायत के मुखिया का नियंत्रण होता है। ये वंशानुगत पटेल या सरपंच प्रतिष्ठित नागरिक होते हैं। इनके निर्देशन में ही सामाजिक कार्य सम्पन्न होते हैं। भिलाला अपने घर या गृहस्थी का कोई कृत्य

(काम), खेत-खलिहान की खेड़ाई-गुड़ाई और उत्सव आयोजनों में असमर्थ रहता है, तो गाँव के सभी लोग मिल-जुलकर बगैर कुछ लिये-दिये ही सम्पन्न कर देते हैं। यह प्रथा भिलाला बोली में ढासिया कहलाती है। बदले में ऐसे व्यक्तियों को स्वेच्छा से एक जून का भोजन ही उसका फल है। वक्त आने पर उसे भी ऐसे

मौके पर हाथ बंटाना पड़ता है। अपने यहाँ उत्सव की आर्थिक असामर्थ्य की दशा में वह सारे गाँव से चंदा एकत्रित कर अपना कार्य सम्पन्न करता है। समाज में मृतक को जलाने एवं दफनाने की प्रथा है। लौटते समय नहा-धोकर वापस आ जाते हैं। मृतक का कार्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार दसवें या बारहवें दिन नुक्ता (पगड़ी) कर किया जाता है। कुछ परिवार के लोग नाई से मुण्डन करवाते हैं, तथा सारे समुदाय के लोगों को भोजन खिलाते हैं।

पश्चिमी मालवा, विंध्याचल, नर्मदा घाटी एवं सतपुड़ा की तलहटी में स्थित इस क्षेत्र की भूमि कंकरीली, पथरीली है। नर्मदा घाटी की जलोढ़ मिट्टी अपने आपमें अनूठी है। इस क्षेत्र



में अनेक ऐसे मानव समूह निवास करते हैं जो आज भी सभ्यता के आदिम स्तर पर हैं, जिन्हें विकास के समीकरण भी मालूम नहीं है। रोजमर्रा की जिंदगी जीते ये लोग दुःख में भी सुख की अभिव्यक्ति रखते हैं। प्रायः इनके निवास जंगलों में है। बस्ती से दूर जंगल में किसी नदी के किनारे बसे हैं। जीवन का सुख-दुख बड़वा ही नियंत्रित करता है। गाँव में वंशानुगत तौर पर बड़वे ही हर किस्म के रोग-व्याधि का उपचार करते हैं। कई सुखद अवसरों पर इन्हें पूर्वज आत्माओं का भार आता है।

भिलाला अपने पारिवारिक जीवन को प्रारंभ करने के पूर्व अपना मकान बनाने की चेष्टा करता है। भिलालों के आवासीय मकानों में झोपड़ी एवं कच्चे खपरैल वाले मकान प्रमुख हैं। व्यक्ति अपनी जीवन उपलब्धि, धन ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति बहुधा अपने निवास के माध्यम से करता है। भिलाले लोग अधिकांश अलग-अलग फाल्याओं में बिखरे हुए रूप में रहते हैं। प्रायः 04 से 05 किलोमीटर के क्षेत्र फैले हुये होते हैं। ये लोग अपने घर स्वयं के खेतों में बनाकर रहते हैं। घर सामान्यतः घास-फूस से या मिट्टी से बने हुए कच्चे होते हैं। कहीं-कहीं सीमेंट एवं ईंट से बने मकान भी होते हैं। पशुओं को बाँधने या रखने की व्यवस्था उन्हीं लोगों के पास है, जिनका आर्थिक स्तर ऊँचा होता है। अन्यथा उसी मकान के कुछ भाग में पशु तथा कुछ में अपना निर्वहन किया जाता है। मकानों में फर्श कच्चा होता है, जिसकी लिपाई-पुताई मिट्टी मिश्रित-गोबर से की जाती है।

सामान्यतः गेहूँ एवं मक्का की रोटी, उड़द की दाल, अरहर की दाल, बाजरे की रोटी, मक्का का राब आदि इनके खान-पान का हिस्सा है। मांगलिक अवसर पर मीठा दलिया, मुर्गा, बकरा तथा शराब का उपयोग भी करते हैं। वहीं दूसरी ओर नुक्ती, शक्कर बेसन मिश्रित लड्डू, चकती, आलू की सब्जी, पूरी व्यंजन का उपयोग करने लगे हैं।

भिलाला जनजाति कपड़ों के पहनने के शौकीन हैं। युवक प्रायः घुटनों तक धोती, कुरता, कमीज एवं वृद्ध पुरुष सिर में साफा अवश्य बाँधते हैं। स्त्रियाँ प्रायः घाघरा, लुगड़ा धारण करती हैं। स्त्रियाँ गहनों की बड़ी शौकीन होती हैं। मस्तक पर टीकी, भम्मर, गले में साकल्या, कान में झेला, झुमका, भुजा में बाजूबंद, कमर में करधनी, कलाई में चुड़ला, पैर में पायल, पैर की

अंगुलियों में बिछिया तथा चाँदी की कड़ी, पैर के अंगूठे में अनवट जैसे आभूषण पहनती हैं।

धापला निमाड़ के रहने वाले भिलाले बस्तीवाला भिलाले से स्वयं को बाहर से आया हुआ बताते हैं। इन लोगों की रिश्तेदारी या रोटी-बेटी व्यवहार बस्तीवाला भिलालाओं से है, किंतु भीलों, बारेलाओं व पटलियों से नहीं। कई बस्तीवाले भिलालों से ज्ञात हुआ कि ये बस्तीवालों से ही वैवाहिक सम्बंध रखते हैं। ये अधिकांश खेती करते हैं। इनकी बोली हिन्दी और निमाड़ी सी जान पड़ती है।

राट्या भिलाले भी इसी क्षेत्र के निवासी हैं। इनके रहन-सहन में यत्किंचित अंतर है। स्त्रियाँ घाघरा और कमीजनुमा झगली पहनती हैं। इस झगली पर ओढ़नी डालना वे नहीं भूलती। पुरुष धोती-कुर्ता, पजामा पहनते हैं किंतु टावेल के आकार में धोती लपेटे हुये भी देखे जा सकते हैं। नवयुवक पेंट-शर्ट युवती साड़ी-पेटीकोट पहनती हैं।

भिलाले अपने परम्परागत व्यवसाय कृषि से अपना जीविकोपार्जन करते हैं। इनके श्रम का सर्वाधिक भाग कृषि में लगा है। पहले वह वनोपज संग्रह, आखेट आदि में लगा था, लेकिन वर्तमान में वनों के हास एवं प्रतिबंधों के पश्चात् कृषि की ओर स्थानान्तरित हुए हैं। कृषि के अलावा पशुपालन, मजदूरी और सेवा शामिल है।

इस समाज में परिवार एकांकी और संयुक्त प्रकृति के पाये जाते हैं। एकांकी परिवार में माता-पिता एवं उनके अविवाहित बच्चे साथ रहते हैं, जबकि संयुक्त परिवार में माता-पिता के साथ विवाहित बच्चे से लेकर दो या तीन या उससे भी अधिक पीढ़ी के लोग रहते हैं। इस जनजातीय समाज में एकांकी परिवार की प्रथा प्राचीनकाल से चली आ रही है। बच्चा विवाह योग्य हुआ कि विवाह करके परिवार से अलग कर दिया जाता है या वह स्वयं ही परिवार से अलग रहने लगता है। लेकिन वर्तमान में इस समाज में शिक्षा के साथ जागरूकता में वृद्धि और परिवारों में निर्भरता के परिणाम स्वरूप संयुक्त परिवारों में वृद्धि देखने में आ रही है। अगर कोई कृषि या अन्य क्षेत्र में विकास कर अच्छा जीवन-यापन करने लगता है, तो दूसरे लोगों में ईर्ष्या होने लगती

है। अगर परिवार में माता-पिता के साथ उनके विवाहित बेटे साथ रहते हुए अच्छा कमा रहे हों, तो अन्य लोग उनमें द्वेष उत्पन्न कर उन्हें परिवार से अलग करने का प्रयास करते हैं। अज्ञानतावश इस तरह की बातें दिमाग में जल्दी ही घर कर जाती हैं, परिणामस्वरूप परिवार का विभाजन हो जाता है। परिवार के विभाजन के साथ ही संसाधनों का भी बंटवारा हो जाने से, सभी सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हो पाती और विकास-ह्रास में बदलने लगता है। इनके पास भाषा एवं लिपि का विकास नहीं हो पाया है, मौखिक साहित्य व अन्य परम्पराएँ पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ती हैं। जब तक कोई रूकावट या बाधा नहीं होती, तब तक ये अन्य जनजातीय परिवार के संपर्क में नहीं आती।

भिलाला जनजाति के पास सिंचाई साधन में कुँए, नहर, तालाब, नलकूप या नदी नाले हैं। जल निकालने के पुराने साधन मोठ या रहट का उपयोग प्रायः गरीब भिलाले करते हैं। सम्पन्न भिलाले किसान आधुनिक साधनों का उपयोग करते हैं।

कृषक भिलालों में सिंचाई सुविधा वाले कृषक गेहूँ, कपास, सोयाबीन तथा सिंचाई सुविधा न होने वाले कृषक कपास के साथ ज्वार, मूंगफली और सोयाबीन का उत्पादन करते हैं। कुछ कृषक गेहूँ, कपास, सोयाबीन के अतिरिक्त कपास, मक्का, सोयाबीन, गेहूँ एवं ज्वार सोयाबीन+मूंगफली का उत्पादन मुख्य रूप से करते हैं। आर्थिक रूप से सम्पन्न भिलाले कृषक मुख्य रूप से नगदी फसलें यथा कपास, सोयाबीन, मूंगफली और गेहूँ का उत्पादन व्यापारिक दृष्टिकोण से करते हैं। जबकि गरीब भिलाले अपने परिवार का पालन-पोषण और भोजन हेतु मक्का ज्वार, बाजरा, उड़द, तुअर को प्रमुखता देते हैं।

भिलालों में अशिक्षा और अज्ञानता के कारण अंधविश्वास का बोल-बाला है। इस समाज में अनेक तरह की भ्रांतियाँ व्याप्त

हैं। जादू टोना, शगुन-अपशगुन, देवी-देवताओं में अत्यधिक आस्था एवं किसी तरह की बीमारियों या हानि को उनके कष्ट होने से जोड़ना आदि अंधविश्वास आज भी इस समाज में विद्यमान है। जनजातीय भिलाला समाज में पराशक्तियों पर गहरा विश्वास होता है। पराशक्तियों को वशीभूत करने के लिए साधना पर विश्वास किया जाता है। यह परंपरा भील-भिलालों में पाई जाती है, जिसे पिठोरा कहा जाता है। पिठोरा का चित्रण कर उसकी पूजा-पाठ करते हैं। कृषि उत्पादन में निम्नता, कीटों का प्रकोप, वर्षा का न होना, खेतों में आग लगना, फसलों में कीटों का प्रकोप आदि को भी ये अंधविश्वास या किसी न किसी देवी-देवता या पूर्वज आत्माओं के प्रति आस्था और विश्वास से जोड़ते हैं। उन्हें डर बना रहता है कि किसी देवी-देवता या मृत आत्मा को ठेस न पहुँचे। कृषि में उत्पादन की कमी को भी धरती माता का नाराज होने से जोड़ा जाता है। सर्प या हिंसक पशुओं के काटना रातामाई देवी के नाराज होने का प्रतिफल माना जाता है। अग्नि देव नाराज होकर आग लगा देते हैं एवं इन्द्र देव के नाराज होकर पानी नहीं बरसाने जैसी भ्रान्तियाँ भी यहाँ व्याप्त हैं। खेतरपाल बाबा खेत की रखवाली करते हैं। कुलदेवी अगर रुष्ट हो जायेगी, तो परिवार में बीमारियाँ बढ़ जायेंगी आदि कई नाना प्रकार की अंधविश्वास से जुड़ी बातों पर विश्वास करते हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अभावग्रस्त होते हुए भी इन्हें अपने जीवन से प्रेम है। अपने जीवन पद्धति को ये कभी भी घृणा से नहीं देखते, बल्कि उस पर गर्व ही करते हैं। यही आदर्श और लोकमंगलकारी क्रियाएँ किसी क्षेत्र विशेष को सांस्कृतिक सम्पन्ना से निहाल कर देती हैं। इनकी सांस्कृतिक परम्पराएँ बिना किसी रोक-टोक से प्रतिवर्ष हर्षोल्लास के साथ विधिवत् सम्पन्न होती हैं।

## संदर्भ :

- डॉ. एम.एल.वर्मा / भीलों की सामाजिक व्यवस्था  
 डॉ. शिवकुमार तिवारी / मध्यप्रदेश के आदिवासी  
 राजेश कुमार गुप्ता / भारत में आरक्षण नीति  
 आशीष भट्ट / लोकतांत्रिक विकेन्द्रीकरण एवं जनजातीय नेतृत्व  
 डॉ. शिवकुमार तिवारी / मध्यप्रदेश की जनजातीय संस्कृति  
 डॉ. एम.एल.वर्मा / भीलों की सामाजिक व्यवस्था

## प्रकृति और जनजाति

श्रीमती संतोष धुर्वे

आदिवासियों का जीवन चक्र आदिकाल से प्रकृति के साथ-साथ चला आ रहा है। आदिवासियों की जीवनशैली प्राकृतिक होती है, इसलिए इन्हें प्रकृति पुत्र या वन पुत्र कहा जाता है। इनके जीवन पद्धति में प्रदूषण जैसी कोई व्यवस्था नहीं है। ये सबसे शुद्ध हवा, शुद्ध अनाज, बिना रासायनिक खादों के उपयोग के कृषि कार्य करते हैं, सिर्फ गोबर को ही खाद के रूप में उपयोग करते हैं। शुद्ध कन्द-मूल, फल, जड़ी-बूटी आदि का चिकित्सकीय प्रयोग करते हैं। इनके देवी-देवता वन्य प्राणी या पेड़-पौधे ही होते हैं। इसलिए इन्हें नुकसान पहुँचाने के बजाय ये इनका संरक्षण करते हैं। प्राचीन कालीन ऋषि-मुनियों ने इन्हीं वनवासियों के संरक्षण में तप किये हैं, उनके विशुद्ध अनुभवात्मक ज्ञान वेद-पुराणों में वर्णित भी हैं। आर्यों ने भारत में आकर वनवासियों की जीवन शैली अर्थात् उनके सांस्कृतिक तत्वों का सूक्ष्म रूप से अध्ययन करने पर ज्ञात किया कि आदिवासी संस्कृति पर्यावरण संरक्षण में अहम भूमिका निभाती है। वर्तमान पर्यावरणीय समस्याओं को देखते हुए जोर देकर कहा जा सकता है कि पर्यावरण प्रदूषण को रोकना है तो आदिम तरीकों को अपनाना होगा।

आदिवासी संस्कृति की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालने के पूर्व पर्यावरण का आशय जानना आवश्यक है। पर्यावरण वातावरण का बाहरी परिमण्डल (आवरण) हैं, जिसे शाब्दिक अर्थ में स्पष्ट कर सकते हैं। पर्यावरण शब्द परि+आवरण दो शब्दों के योग से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है- चारों ओर से घिरा हुआ आवरण। पर्यावरण शब्द का उपयोग प्राकृतिक क्षेत्र के अलावा सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में भी होता है। पर्यावरण जैविक एवं अजैविक घटकों का एक समूह है, जो पारस्परिक प्रक्रियाओं द्वारा मानव तथा अन्य जीव-जन्तुओं को प्रभावित करता है। पृथ्वी एक विशिष्ट संतुलन के साथ ऑक्सीजनयुक्त वायुमण्डल से घिरी हुई है। हरित पथ ऑक्सीजन का निर्माण करता है और ओजोन परत सूर्य की पराबैंगनी किरणों को छान कर पृथ्वी पर आने देती है। इससे उपयुक्त पर्यावरण का विकास होता है। मानव का प्राकृतिक पर्यावरण से घनिष्ठ संबंध है तथा मानव विकास में पर्यावरण की अहम भूमिका है। पर्यावरण मानव जीवन का सशक्त स्रोत है, तथा इससे गतिशील पारस्थितिकीय तंत्र विकसित होता

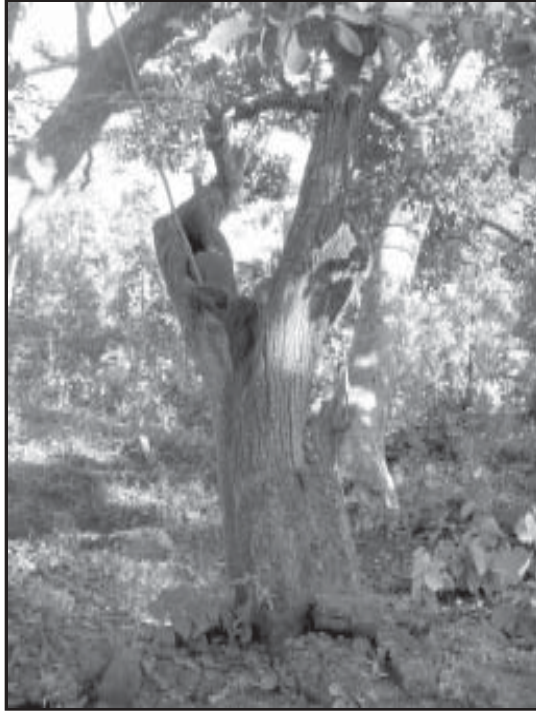
है। मनुष्य अपने कार्यकलापों से प्राकृतिक पर्यावरण को प्रभावित करता है, तथा आवश्यक परिमार्जन एवं परिवर्तन लाता है। इस प्रकार एक विशिष्ट संस्कृति विकसित करने के लिये प्रेरित करता है और इसीलिए समाज में सामाजिकता आ सकी है। इस संबंध में मानवशास्त्री मैलोनॉस्की ने कहा है कि 'संस्कृति पर्यावरण का मानव निर्मित भाग है।'

वस्तुतः आदिवासी संस्कृति सामाजिक एवं सांस्कृतिक मानवशास्त्र की विषयवस्तु है। विश्व में पर्यावरण की समस्या सबसे बड़ी चुनौती है, क्योंकि आज संपूर्ण विश्व पर्यावरण प्रदूषण की समस्या से ग्रसित है। कारण-जनसंख्या वृद्धि कार्बनडाई ऑक्साइड युक्त गैसें, वनों एवं पेड़-पौधों का नष्ट होना, विभिन्न वैज्ञानिक अनुसंधान तथा सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं नैतिक मूल्यों का पतन पर्यावरण प्रदूषण के लिए उत्तरदायी है। भारत के सामने पर्यावरण प्रदूषण की समस्या से कहीं बड़ी समस्या पश्चिम की उपभोक्तावादी भौतिकवादी सभ्यता के दुष्परिणामों की है, जिन्हें अपनाकर भारतीयों ने अपने सामाजिक मूल्यों, परंपरा एवं संस्कृति के मूलभूत आयामों को चोट पहुँचाई है। परिणामस्वरूप बहुत से वन नष्ट हो जा रहे हैं। अतः पर्यावरण संरक्षण एवं संवर्धन हेतु प्राचीन संस्कृति, आदर्श मूल्यों एवं परम्पराओं के प्रति पुनः जनचेतना उत्पन्न करना आवश्यक है।

पर्यावरण पर पड़ने वाले प्रभावों पर ध्यान देना। संरक्षण का यही प्रथम सिद्धांत है। पर्यावरण संरक्षण से हमारा तात्पर्य है पानी, मिट्टी, हवा, वन्य जीवन, वन तथा खनिज आदि का आवश्यकतानुसार उपयोग करते हुए उनका रख-रखाव करना संरक्षण का बुनियादी लक्ष्य है। प्राकृतिक संसाधनों का उचित इस्तेमाल ही संरक्षण का बुनियादी लक्ष्य है। पर्यावरण संरक्षण का आदिवासी संस्कृति से प्रत्यक्ष संबंध है।

पर्यावरण संरक्षण के मूल स्रोत सांस्कृतिक तत्त्व एवं लोक परम्पराएँ रही हैं। प्रचलित लोक परम्पराओं की पृष्ठभूमि में

आदिवासियों के देवी-देवता हैं। आदिवासियों के विश्वास अनुसार उनके देवता (बोंगा) देवी (ऐरा) और प्रेत (रोआ या मुआ) एवं टोटम इन्हीं प्राकृतिक तत्त्वों जैसे - पेड़-पौधे, पशु-पक्षी आदि में निवास करते हैं, जिनकी पूजा-अर्चना एवं धार्मिक अनुष्ठान विभिन्न अवसरों पर संपन्न किया जाता है। आदिवासियों के पवित्र पूजा स्थल साल के वृक्ष के नीचे अवस्थित रहते हैं। जीवन में वृक्षों का अवदान ईश्वर के वरदान के समान वंदनीय रहा है। प्रकृति के अस्तित्व के आधार वृक्ष हैं और वृक्षों के बिना प्रकृति एवं उसके पर्यावरण की कल्पना नहीं की जा सकती है। लोक साहित्य में वृक्ष से जुड़े अनेक मिथक, कथा, गीत आदि आदिकाल से विद्यमान हैं। बाँस है तो साँस है- यह कहावत पर्यावरण प्रेम को प्रकट करती है। यही नहीं बाँस के अंकुरण एवं फूल से वर्षा एवं अकाल होने की भविष्यवाणी की जाती है। आदिवासी महिलाओं के शरीर पर गोदनों के रूप में पेड़-पौधों की आकृति गोदी जाती है। ये गोदने प्रकृति के प्रतीक चिन्ह हैं। भित्ति चित्रों में भी वृक्षों का अंकित देखने को मिलता है। आदिवासियों के सभी संस्कार, अनुष्ठान, त्योहार, नृत्य, गीत, पूजा, मनौती व मंगलाचार तथा अन्य क्रियाकर्म पर्यावरण विज्ञान के सहचर हैं। वृक्षों के प्रति आदिवासियों के मन में श्रद्धा ही नहीं, बल्कि मित्रभाव, देवभाव, धर्म एवं अध्यात्मभाव है। पहली फसल पकने पर उस अनाज को समूह गान, नृत्य



एवं देवी-देवताओं का स्मरण कर समर्पित करने के पश्चात् ही स्वयं के लिए उपयोगी मानना प्रकृति स्तुति ही है। आदिवासियों में व्याप्त धार्मिक भावना और अध्यात्म के प्रति आस्थाओं ने प्रकृति की पवित्रता को बनाए रखने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

गोंड समुदाय अपने इष्ट बड़ा देव को साल एवं पीपल वृक्ष के नीचे अवस्थित करते हैं। यही कारण है कि पीपल के वृक्षों को काटना पाप समझते हैं। कृष्ण स्वयं को वृक्षों में पीपल (अश्वत्थः) कहते हैं। बुद्ध के लिए बोधि वृक्ष पीपल तप एवं ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रेरणादायी रहा है।

## महाकवि ईसुरी

डॉ. नाथूराम चौरसिया

ईसुरी लोक के महाकवि थे। आपने हजारों फागों की सर्जना की है। लोक के विषय तथा उनके जीवन की व्यक्तिगत अनुभूतियाँ उनकी रचनाओं के माध्यम से साकार हुई हैं। इनकी रचनाओं में इनका नाम तो अवश्य मिलता है, किन्तु जीवन के बारे में कोई महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध नहीं होती। आपने अपने जीवन के बारे में कहीं कुछ नहीं लिखा है। आपने एक ओर जहाँ अपने अन्तर्मन पर पड़े विभिन्न प्रभावों को साहित्य के माध्यम से अभिव्यंजित किया है, वहाँ न तो आपने आत्मश्लाघा ही की, और न ही अपने जन्म-काल, जन्म-स्थान और जीवन की अन्य बातों के सम्बंध में कुछ कहा है। जैसाकि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि आपके फाग साहित्य में पत्नी, पुत्री एवं अंतरंग मित्र तथा कार्य-क्षेत्र का ही परिचय प्राप्त होता है। निम्नलिखित फागों में इनके काव्य-साधना स्थल बघौरा का परिचय इस रूप में दृष्टिगत होता है-

सब कोऊ रजउ खौं देखन दौर, रजउ देखें औरै।  
रजउ कौ मनुआँ धन कौ वारौ, रहत एक ही ठौरै।  
मानस की केतान बात है, देवतन के मन औरै।  
तुमें सनेही ऐसे चाहत, ज्यों चाहत सिंव गौरै।  
हाल दिनन में जासैं ईसुर, बसती बसत बगौरै।

उपर्युक्त फाग में ईसुरी के बघौरा में निवास करने का संकेत मिलता है, तथा रजऊ नाम से हमारा परिचय होता है।

बिगरी तबियत देत दिखाई, आज नींद न आई।  
 सुमरत सीताराम परे रये, कटी न रात कटाई।  
 गाँव बगौरा रजउ न एंगर, कौ दुख लेत बटाई।  
 बिन रघुनाथ प्रान की पीरा, मिटती नई मिटाई।  
 'ईसुर' कात कौन कौ को है, बिटिया भई पराई।

उपर्युक्त फाग में इनकी बीमारी की स्थिति एवं बघौरा निवास करने का उल्लेख है। साथ ही एक पुत्री के बारे में भी सूचना प्राप्त होती है, जिसकी शादी हो चुकी है। साहित्य महोपाध्याय श्री श्यामसुंदर बादल ने इनकी चार पुत्रियों का उल्लेख किया है, जबकि उपर्युक्त फाग में एक ही पुत्री का उल्लेख मिलता है।

तन-मन दोऊ जनें गम खाये, करो फैसला चाये।  
 नाँय बगौरा कौ मैडो है, बड़े गाँव कौ माये।  
 माँझ पहरिया में झगड़ा है, तूदा फिरत बनाये।  
 फिरत खतौनी औ खसरा लये, लाला जू बतयाये।  
 कानीगो जू कान में लगके, सबखौ मंत्र बताये।  
 हो गये हैं हैरान बिचारे, कानौ किये बताये।  
 अपनी लाँच खायवे खौं वे, नांय की माँय मिलाये।  
 गाड़ी-गड्डी ढड़कत नइयाँ, आँगन विना लगाये।  
 अपनी बात जमावे खौं वे, लौगन खौं दबकाये।  
 जिनके नइयाँ चून-चयन कौ, उनसेँ लाग मँगाये।  
 लम्परदार चतुरभुज जू के, हम कारिन्दा आये।  
 पन्द्रा-सोरा दिन भये ईसुर, डिपटी जू खौं आये।

उपर्युक्त फाग में बड़े गाँव और बघौरा की पहाड़ी की मध्य की सीमा के संबंध में उल्लेख है। दोनों गाँव के लोग पहाड़ी पर अपना-अपना अधिकार सिद्ध करना चाहते थे। इस रचना से भी ईसुरी के बघौरा निवास की सूचना मिलती है। यह फाग बुंदेलखण्ड के ग्राम्य जीवन में पंचायतों के मूल-मंत्र का काम करती है।

दोऊ कर परमेसुर सै जोरें, करौ कृपा की कोरें।  
 ठठरी पै धरकै लै जइयौ, रजउ कोद की खोरें।  
 हम न हुइयें दिखइया देखें, लगी प्रेम रस डोरें।  
 दैय चौतरा बना चतुरभुज, इतनी खातर मोरें।  
 हो बै कऊँ पै मरै ईसुरी, किलेदार के दोरें।

उपर्युक्त रचना में अपने आश्रयदाता किलेदार चतुर्भुज के प्रति अगाध प्रेम का प्रदर्शन है। साथ ही इनके निवास स्थान ग्राम बघौरा के प्रति भी प्रेमाभिव्यक्ति फूट पड़ी है।

यारौ इतनौ जस कर लीजौ, चिता अंत न दीजौ।  
 चलत श्रम कौ बहत पसीना, भसमकौ अंतस भीजौ।  
 निगतन खुदै चेटका लातन, उन लातन मन रीजौ।  
 वे सुसतीं न होयें रात-दिन, जिनके ऊपर सीजौ।  
 गंगा जू लौं मरै ईसुर, दाग बगौरा दीजौ।

उपर्युक्त रचना के कारण ही आलोचकों में इस भ्रांति का जन्म हुआ कि ईसुरी का जन्म-स्थान बघौरा था। यह भ्रांति पूर्णतया असत्य है। इनका मन यहाँ के लोगों से घुल-मिल गया था। और यहाँ उन्हें सर्वसाधारण का प्रेम तथा सम्मान मिला था, जिसके कारण वे अपनी जन्मभूमि मेड़की से भी अधिक बघौरा से प्यार करने लगे थे। इस रचना से भी केवल बघौरा के प्रति इनके प्रेम पर ही प्रकाश पड़ता है।

जौ लौं रये पगन सें नीके, आये-गये सबही कें।  
 भये इक ठौर रंज के मारे, जानई सकत किसी कें।  
 इतनी खबर लैय जी भरगओ, प्रेम कौ पानी पीकें।  
 आना आठ गाँव कौ हिस्सा, मजा मिलकियत जीकें।  
 बने बघौरा रात ईसुरी, कारिन्दा बीबी कें।

सन् 1957 की क्रांति में एक अंग्रेज महिला की रक्षा करने के कारण अंग्रेजों की ओर से श्री गोबरधन गंगा पुत्र को बघौरा ग्राम पुरस्कार स्वरूप प्राप्त हुआ। इसकी जमींदारी से आठ आना (अर्द्ध भाग) उसने पं. चतुर्भुज किलेदार को और चार आना (चतुर्थांश) रोशन खाँ को तथा चौथाई भाग श्री काले खाँ कामदार आलीपुरा स्टेट को बेंचे थे। किलेदार ने अपनी जमींदारी की व्यवस्था का भार ईसुरी पर छोड़ रखा था। समय परिवर्तन के साथ चतुर्भुज किलेदार पर रज्जब अली सेनीटरी इस्पेक्टर का कर्ज हो गया था। जब वे उसे न चुका सके, तो जमींदारी कुर्क हो गई और रज्जब अली के अधिकार में आई। कुछ समय बाद रज्जब अली का देहावसान हो गया, तो उनकी पत्नी आबादी बेगम बघौरा की जमींदारी की स्वामिनी बनी। ईसुरी इन्हीं बेगम साहिबा के यहाँ कारिन्दा का कार्य करने लगे। उपर्युक्त रचना में

ईसुरी द्वारा इन्हीं की नौकरी तथा अपने बीमार होने की विवशता तथा रज्जब अली की ओर संकेत मिलता है।

चायें तुम सिवाय न औरें, और पै जी न दौरें।  
छुये ने हाँत हँसे न खेलै, जिन सिर बाँदी मौरें।  
जिनके संगे परी भाँवरें, परे नई इक ठौरें।  
येई सैं ईसुर कुछ दिनन सें, बसती बसत बगौरें।

उपर्युक्त फाग में अपनी पत्नी के प्रति प्रेम एवं बघौरा निवास का उल्लेख हुआ है—

जब सैं दार उरद की खाई, कफ ने दई दिखाई।  
कफ के मारें फटीं पसुरियाँ, ताप सोउ चड़ आई।  
धीरे पंडा रौन लगे जब, हमें न आई राई।  
लिख कैं पाती दई बगौरा, उतैं सैं आई लुगाई।  
रामनगर में परे ईसुरी, कर रये वैद दवाई।

उपर्युक्त रचना में इनकी बीमारी के साथ-साथ पत्नी का भी उल्लेख मिलता है, जो बघौरा में रहती थीं। इनकी फागों के सुरीले गायक एवं प्रिय मित्र श्री धीरे पण्डा की भी सूचना मिलती है। साथ ही रामनगर (टीकमगढ़) का भी उल्लेख हुआ है।

मैं तो दुआरपाल हूँ तेरा, तैं मालक है मेरा।  
जाँची नई और की देरी, दरवाजे दओ डेरा।  
कुतवाली दई देत रहत हाँ, रामनगर कौ फेरा।  
ईसुर हमें कौन कमती है, बनै काऊ के चेरा।

उक्त रचना में रामनगर में मात्र आते-जाते रहने का संकेत मिलता है।

तरसैं दोऊ नैन मन मेरा, मुख देखैं खों तेरा।  
जौ लों जी कौ काम सटोना, दयें रात भौं टेरा।  
हमें फाँस कैं अपुन चले गये, जा दई राम अबेरा।  
सुंदरिया कैं रात ईसुरी, राम नगर में डेरा।

उपर्युक्त रचना में भी रामनगर में आने-जाने का तथा सुंदरिया के यहाँ रुकने के स्थान पर प्रकाश पड़ता है। शोध यात्रा के समय सीगौन (निवासी-95) वर्षीय श्री दीनदयाल मिश्र, श्री मथुरा प्रसाद नायक निवासी बघौरा, पं. दामोदर प्रसाद एवं श्री

चंदन सिंह प्रधान तथा धवरा (हमीरपुर) निवासी श्री भूपत सिंह, जो जगजीत सिंह जूदेव मुसाहिब के प्रपौत्र हैं, श्री निहालसिंह दौरिया निवासी श्री जवाहर लाल यादव आदि ने बताया कि जिन दो नर्तकियों ने ईसुरी की फागों का प्रचार गा-गाकर किया, उनमें एक बहिन का नाम सुंदरिया तथा दूसरी का नाम गंगिया था। यह दोनों अतीव सुंदरी थीं। इनमें सुंदरिया ज्येष्ठ थी, जो रामनगर में रहती थी। गंगिया, पडुवा (हमीरपुर) जिसकी दूरी धवरी से लगभग 10 कि.मी. है, रहती थी। कहा जाता है कि ईसुरी इन दोनों पर आसक्त थे। इसी कारण वे रामनगर आया-जाया करते थे। इनके संबंध की फागें आगे दी जायेंगी।

जिदना गुरन तुमें औतारो, विध ने अच्छर मारो।  
ऐसी नौनी रूप रंग की, नख सिख से सिंगारो।  
उन पै अपनो जोर नई है, पनमेसुर सैं हारो।  
ईसुर बेई पार लगाहैं, जिनने बनो बिगारो।

यह फाग ईसुरी ने अपनी पुत्री गुरन के सम्मुख वैधव्य संकट उपस्थित होने पर लिखी थी। इस रचना से भी स्पष्ट होता है कि इसके मात्र एक ही पुत्री थी। क्योंकि अन्यत्र कहीं भी किसी पुत्री का नाम नहीं आया और न ही कोई संकेत मिलता है।

जौतन कर दओ राम निरासा, की-की करिये आसा।  
कीनों गजब गीरीबन ऊपर, जावैं कहाँ निकासा।  
बारन कैसौ खेल मिटा दओ, करकैं तनक तमासा।  
ईसुर प्रान लेत काये न, दुखिया तक की आसा।

कहा जाता है कि ईसुरी का एक चौदह वर्षीय पुत्र कालकवलित हो गया था, जिसके संबंध में उन्होंने अपनी मनोदशा उपर्युक्त फाग में व्यक्त की थी, किंतु मैंने ईसुरी से संबंधित सभी स्थलों की आवश्यकतानुसार अनेक बार यात्राएँ कीं, परन्तु किसी ने इनके पुत्र होने का संकेत तक नहीं दिया। यह मत पूर्ण रूप से भ्रमात्मक है कि इनके एक पुत्र था, जो अल्पायु में ही काल-कवलित हो गया था।

हम पै डार गई मोहनियाँ, गोरे बदन की धनियाँ।  
बाँह बरा बाजूबंद सोहैं, कर में जड़ी ककनियाँ।  
नख-सिख सैं सब गानौ पैरो, पाँवन में पैजनियाँ।  
ईसुर कात चिता पै धर दओ, तोखों आज रजनियाँ।

श्री श्यामसुंदर बादल ने अपने 'बुंदेली का फाग साहित्य' नामक ग्रंथ में उपर्युक्त फाग का उल्लेख किया है तथा इसी के आधार पर इन्होंने ईसुरी की पत्नी का नाम राजा-बेटी स्वीकार किया है। जब मैंने अपनी शोध यात्रा के समय इनकी ससुराल ग्राम सीगौन की यात्रा की, तो 95 वर्षीय श्री दीनदयाल मित्र, जो ईसुरी को अपना फूफा मानते थे, उन्होंने बताया कि ईसुरी की पत्नी का नाम श्यामबाई था। बघौरा एवं धवरा निवासियों ने भी इनकी पत्नी का नाम श्यामबाई स्वीकार किया है।

स्यामा भई दोज कौ चन्दा, डार गरे में फन्दा।  
रातई-दिन येसैं रातीं, ज्यों गरे माँय गल गंदा।

इन पंक्तियों का श्री रामचरण हयारण 'मित्र' ने अपने 'बुंदेलखण्ड की संस्कृति और साहित्य' ग्रंथ में उल्लेख किया है। उन्होंने इसे ईसुरी द्वारा रचित और प्रामाणिक रचना माना है। अतः ईसुरी की पत्नी का नाम श्यामबाई सिद्ध होता है।

ईसुरी के समकालीन साहित्यकारों में श्री धीरे पण्डा तथा श्री द्विजलाल का नाम उल्लेखनीय है -

ईसुर तज कैं गये सररीरा, हती न कौनऊँ पीरा।  
होतन भोर प्यास लग आई, पियो गरम कर नीरा।  
अगहन सुदी सातें ती उदना, बार सनीचर सीरा।  
सम्बत् उन्नीस सौ छियासठ में, उड़ गओ मुलक भंभीरा।

उपर्युक्त फाग को श्री कृष्णानंद गुप्त (ईसुरी की फागें : भाग 1 पृ. 8) श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' (ईसुरी प्रकाशः फाग सं. 263) एवं श्री रामचरण हयारण 'मित्र' (बुंदेलखण्ड की संस्कृति और साहित्य, पृ. 236) ईसुरी के प्रिय मित्र धीरे पण्डा की रचना बताते हैं तथा इसी फाग को पाठान्तर के साथ ही श्री श्याम सुंदर बादल ने अपने ग्रंथ 'बुंदेली का फाग साहित्य' में इस प्रकार दिया है-

कैसें उड़ गओ सबद सररीरा, हती न कौनऊँ पीरा।  
भुन्सारेँ जब खाँसी आई, पियो गरम कर नीरा।  
सम्बत् उन्नीस सौ छियासठ में, उड़ गओ मुलक भंभीरा।  
घरी दोक दिन चड़ै ईसुरी तजौ बावरौ जीरा।

उपर्युक्त फाग को बादलजी ने श्री धीरे पण्डा की रचना माना है, परन्तु इन्होंने अपनी पुस्तक में ईसुरी के सम-सामयिक कवि श्री द्विजलाल जी की रचना भी उद्धृत की है, जो इस प्रकार है-

दोहा - अगन बदी सातें सनउ, हती न दिल में पीर।  
बड़ी भोर प्यासा लगी, पियो गरम कर नीर।  
चौकड़िया - ईसुर तज दये प्रान सररीरा, हती न दिल पीरा।  
बड़ी भोर सैं प्यास लगी ती, पियो गरम कर नीरा।  
अगन वदी सातें ती उदना, बार सनीचर सीरा।  
उन्नीस सौ छियासठ सम्बत् में, उड़ गओ मुलक भंभीरा।  
कर्यें द्विजलाल ईसुरी न रये, सबै लगो घुन कीरा।

श्री धीरे पण्डा ईसुरी के प्रिय मित्रों में से एक रहे हैं। मुझे बघौरा के निकट स्थित बड़े गाँव के निवासियों ने बताया कि द्विजलाल मिश्र नाम के कवि थे, जो तुकबंदी किया करते थे। वे ईसुरी को अपना गुरु मानते थे। इसकी पुष्टि बघौरा निवासियों ने भी की है। हो सकता है कि धीरे पण्डा की रचना के आधार पर ही इन्होंने उपर्युक्त रचना की हो। विक्रम सम्बत् 1966 के पंचांग के अनुसार उपर्युक्त रचना ही ठहरती है। इस प्रकार ईसुरी की मृत्यु तिथि अगहन कृष्ण सप्तमी दिन शनिवार सम्बत् 1966 अर्थात् सन् 1909 निश्चित होती है।

जन्मांक			
श० १	सू०	११	
२	बु०	१२	१०
	रा०		६
३			
सं० ४	के०	६	सं० ८
	५		

हमें ईसुरी की जन्म कुण्डली उपलब्ध हुई है, जिसके आधार पर उनके जन्म-तिथि एवं पिता तथा जाति आदि का परिचय प्राप्त होता है। यह जन्मकुण्डली मुझे पं. श्री राजाभैया बिजावर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। पं. श्री राजाभैया को यह जन्म-पत्री महाराजा बिजावर श्री सावंत सिंह जू देव के बावर्ची श्री



वाकर खानसामा से प्राप्त हुई थी। स्वर्गीय वाकर खानसामा के बारे में मुझे जो जानकारी प्राप्त हुई, वह इस प्रकार है-

श्री वाकर खानसामा ग्राम-मौदहा (उ.प्र.) के निवासी थे। वे सम्बत् 1922 में श्री जंगजीत सिंह जूदेव मुसाहिब धवरा के यहाँ कार्य करने आये। इसकी पुष्टि धवरा निवासियों तथा मुसाहिब जू के प्रपौत्र श्री भूपतसिंह तथा उनके द्वारा संग्रहीत कागजातों से होती है। इस प्रकार श्री वाकर, ईसुरी के साथ ही कई वर्षों तक मुसाहिब जू के यहाँ कार्य करते रहे। उनकी तथा ईसुरी की घनिष्ठता इतनी बढ़ी कि ये ईसुरी को अपना गुरु मानने लगे। उनकी स्मरण शक्ति अच्छी थी, इसीलिये ईसुरी की अनेक फागों इन्हें कंठस्थ थी। ये स्वयं तुकबंदी भी करने लग गये थे। श्री बाबूलाल जी भटनागर एवं बिजावर पैलेस में उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह जानकारी मिलती है कि खानसामा संवत् 1920 के लगभग बिजावर गये और वे वहाँ 1947 तक रहे। इसके पश्चात् वे खजुराहो रेस्टहाउस में रहे और कुछ दिनों बाद मौदहा में उनकी मृत्यु हो गई। खानसामा के लड़के आजकल वहीं पर खेती-बाड़ी करते हैं। खानसामा बिजावर में पं. श्री राजा भैया के मुहल्ले में ही रहा करते थे और इनसे घनिष्ठता भी हो गई थी। पं. श्री राजा भैया को श्री खानसामा से ही जन्म कुण्डली प्राप्त हुई थी और ईसुरी के जन्म-काल की एक रचना भी उन्हीं से प्राप्त की थी, जो इस प्रकार है-

दोहा - संवत् अठारा सै अठान्वै, दिना हतो गुरूवार।  
चैत सुदी दसमी रई, लओ ईसुर औतार।

चौकड़िया - गुरू ने जैसो हमें सुनाओ, फाग बना कैं गाओ।  
संवत् अठारा सौ अठान्वै कौ, सुभ संवत् जब आओ।  
चैत सुदी दसमी दिनै गुरू को, भोले ने सुत पाओ।  
गंगा उर सौं उपजे ईसुर, बाकर सवहिं सुहाओ।

उपर्युक्त रचना ईसुरी की जन्म तिथि, जन्म संवत् साथ ही माता एवं पिता के नाम पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है।

ईसुरी के फागों के संग्रहकर्ताओं द्वारा प्रस्तुत जानकारी इस प्रकार है- ईसुरी प्रकाश - श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' ने अपने संग्रह के कवि परिचय में लिखा है- ईसुरी का जन्म सं.

1881 में हुआ। इनका जन्म स्थान मेड़की नामक ग्राम था। ईसुरी का पूरा नाम ईसुरी प्रसाद था। इनके पिता श्री भोले अरजरिया तिवारी (जुझोतिया ब्राह्मण) थे। ईसुरी तीन भाई थे। सदानंद उर्फ अधार, रामदीन और ईसुरी। इनकी पत्नी का नाम श्यामाबाई था। केवल एक पुत्री थी, जिसका नाम गौरीबाई था। श्यामाबाई की मृत्यु 5 वर्ष में हो गई। ईसुरी ने विलासी पाठक को दत्तक पुत्र के रूप में स्वीकार किया था। इन्होंने ईसुरी की मृत्यु अगहन शुक्ल सप्तमी 1966 मानी है।

श्री द्विवेदी जी ने ईसुरी की जन्म तिथि के लिये मात्र ओरछेश के मत को दुहराया है, जिसका कोई स्पष्ट आधार नहीं दिया है। उनका यह कथन कल्पना पर आधारित है। अतः इसे विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। साथ ही ईसुरी ने किसी को गोद लिया था, यह बात पूर्ण रूप से असत्य है। ईसुरी से संबंधित स्थलों की अनेक यात्राएँ की, किसी भी व्यक्ति द्वारा इस बात को स्वीकार नहीं किया गया।

श्री कृष्णानंद जी गुप्त ने अपने संग्रह के कवि परिचय में ईसुरी का जन्म संवत् 1895 के आस-पास माना है। गुप्त जी ने इसकी प्रामाणिकता के लिये कोई ठोस आधार प्रस्तुत नहीं किया है।

इतिहास तथा आलोचनात्मक ग्रंथ या शोध ग्रंथ में हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षोडश भाग, बुंदेली का फाग साहित्य, 'लोकगीतों का विकासात्मक अध्ययन,' विन्ध्य के लोक -कवि, 'बुंदेली लोकगीत एवं ईसुरी पर विशद अध्ययन' 'बुंदेलीखण्ड की संस्कृति और साहित्य' एवं 'मित्रबंधु विनोद' का नाम प्रमुखता से आता है।

हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षोडश भाग में श्री कृष्णानंद गुप्त ने ईसुरी के सम्बंध में लिखा कि इनका जन्म संवत् 1891 तथा मृत्यु संवत् 1966 में हुई। जन्म-स्थान झाँसी जिले में मऊरानीपुर के निकट मेड़की है।

श्री गुप्त ने ईसुरी के जन्म संवत् के निर्धारण में दो मतों का सहारा लिया है। इससे स्पष्ट होता है कि श्री गुप्त जी स्वयं सत्य तक पहुँचने में असमर्थ रहे। इसके लिये इन्होंने कोई प्रमाण

प्रस्तुत नहीं किया। ऐसी स्थिति में दो पृथक-पृथक मतों के कारण उनके द्वारा निर्धारित किये गये जन्म संवत् को कदापि स्वीकार नहीं किया जा सकता।

साहित्य महोपाध्याय श्री श्यामसुंदर बादलजी ने अपने ग्रंथ बुंदेली का फाग साहित्य में ईसुरी के जन्म संवत् को उनके मृत्यु संवत् से निकालने का प्रयास किया है। उसे प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। श्री बादल जी ने ईसुरी की चार पुत्रियों का होना बताया है, किंतु ईसुरी की रचनाओं में केवल एक ही पुत्री 'गुरन' का नाम आया है। अन्य किसी पुत्री का नहीं। मुझे भी शोध-यात्रा के समय चार पुत्रियों की जानकारी उपलब्ध हुई।

डॉ. कुलदीप ने अपने शोध प्रबंध 'लोक गीतों का विकासात्मक अध्ययन' में ईसुरी के जन्म के बारे में लिखा है - ईसुरी का जन्म संवत् 1896 में झाँसी जिले के मऊनीपुर गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री भोलानाथ अड़जरिया (तिवारी) था। इनका बचपन लुहर गाँव में बीता था। इनकी मृत्यु 1966 में हुई। ईसुरी बुंदेलखण्ड के लोक कवि थे। वे आशु कवि थे।

पुष्ट आधारों के अभाव में इस मत को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। पिता तथा बचपन के बारे में अवश्य कुछ जानकारी मिलती है। साथ ही ईसुरी की आशु-कवित्व प्रतिभा का भी परिचय मिल जाता है।

प्रो. श्रीचन्द्र जैन ने 'विन्ध्य के लोक कवि' नामक पुस्तक में लिखा है- बुंदेलखण्ड के सर्वप्रिय जनकवि श्री ईश्वरी प्रसाद (ईसुरी) का नाम बुंदेली साहित्य में अमर है। आपका जन्म संवत् 1895 (लगभग) में मऊरानीपुर के निकटस्थ मेड़की नामक ग्राम में हुआ था। आपका बाल्यकाल आपके मामा श्री जानकी के

दुलार में व्यतीत हुआ। ईसुरी के दो बड़े भाई सदानंद और रामदीन थे। अवस्था प्राप्त होने पर आपका विवाह सीगौन ग्राम में श्यामबाई के साथ हुआ। सलौनी श्यामा के सम्पर्क से ईसुरी के जीवन प्रवाह ने एक नया मोड़ लिया, किंतु इनकी धर्मपत्नी, गुरनबाई नामक एक कन्या को ईसुरी की गोद में रखकर सदैव के लिये विमुक्त हो गई।

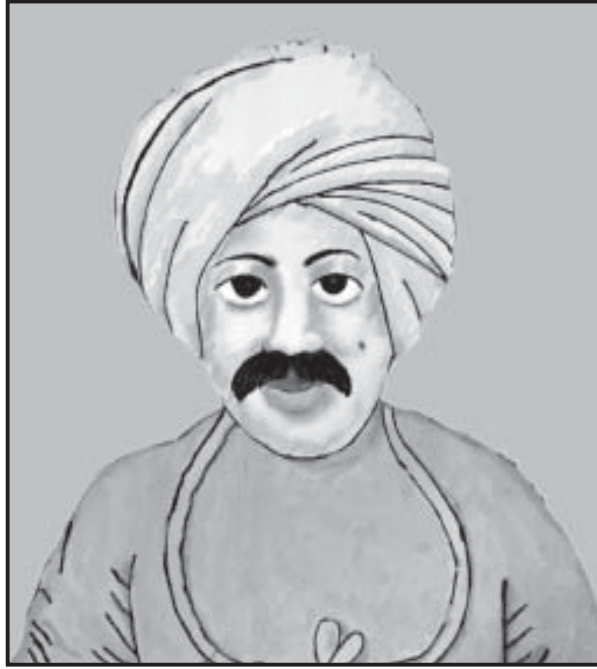
प्रो. श्रीचन्द्र जैन ने ईसुरी के जन्म के संबंध में कल्पना का सहारा लिया है, जिसकी प्रामाणिकता के लिये कोई विश्वसनीय आधार नहीं। फिर भी ईसुरी के जन्म स्थान, पिता, भाई, पत्नी के बारे में जानकारी प्राप्त होती है।

बुंदेलखण्डी लोकगीत एवं ईसुरी पर विशेष अध्ययन (अप्रकाशित) में डॉ. शंकरलाल शुक्ल ने ईसुरी की जन्म तिथि, संवत्, पारिवारिक सदस्यों की जानकारी, वंशवृक्ष, जन्म-स्थान आदि के बारे में श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' के मत की पुनरावृत्ति की है। ईसुरी की माँ का भी नाम विदित

नहीं हो सका। जन्म के बारे में भी विश्वसनीय आधारों का अभाव है।

श्री रामचरण हयारण 'मित्र' ने अपने ग्रंथ 'बुंदेलखण्डी लोक संस्कृति और साहित्य' में लिखा है कि ईसुरी का जन्म सं. 1881 के लगभग मऊरानीपुर (झाँसी) के निकट मेड़की ग्राम में जुझोतिया ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम भगवती प्रसाद एवं माता का नाम गंगाबाई था। भगवती प्रसाद के तीन पुत्र थे। सदानंद, रामदीन और ईश्वरी प्रसाद।

श्री मित्र ने ईसुरी के जन्म के सम्बंध में अन्य लोगों के मतों का ही सहारा लिया है। अतएव ठोस आधारों के अभाव में आपका मत प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। श्री मित्र जी को



ईसुरी की माँ का नाम ज्ञात हो गया, परन्तु आपने उनके पिता का नाम नवीन गढ़ दिया। बाल्यजीवन एवं शिक्षा-दीक्षा तथा विवाह आदि पर आपने अवश्य कुछ प्रकाश डाला है।

मिश्र बन्धुओं ने अपने 'मिश्र बन्धु विनोद' में ईसुरी के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है- नाम (ईसुरी) बगौरा (छतरपुर) जन्म संवत् अनुमानतः 1920, कविता काल - 1945, विवरण-चतुरभुज लम्बरदार के कारिन्दा थे, जैसा कि एक स्थल पर आपने कहा भी है - लम्बरदार चतुर्भुज जू के हम कारिन्दा आये।' आपकी रचना छतरपुर में बहुत प्रसिद्ध है और लोग इसे ग्रामों में बहुत गाते हैं। भाषा ठेठ बुन्देलखण्डी है।

श्री मिश्र बन्धुओं ने ईसुरी के जन्म-संवत् में अनुमान का सहारा लिया है। इसके प्रमाण में इन्होंने कोई ठोस आधार प्रस्तुत नहीं किया। अतः विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। आपने ईसुरी के स्वामी एवं रचनाओं की प्रसिद्धि और भाषा के बारे में अवश्य प्रकाश डाला है।

जनश्रुतियों का आधार परम्परा से चली आ रही मौखिक कहावतें, जन-विश्वास और लोकोक्तियाँ आदि हुआ करती हैं। किसी उच्चकोटि के महापुरुष या कवि के संबंध में ऐसी जनश्रुतियाँ व्यापक रूप से सुनी जाती हैं। वैसे तो प्रसिद्ध कवियों का जीवनवृत्त ही किंवदंतियों के जाल से आवेष्टित रहता है। जो कवि या व्यक्ति जितना ही ख्यातिप्राप्त होगा, उसके संबंध में ऐसी कथाओं का उतना ही व्यापक प्रसार रहता है। उनके जीवन के साथ अनेक चमत्कारपूर्ण घटनायें भी जुड़ जाया करती हैं। परिणामतः वास्तविक तथ्य विकृत रूप में जन-मानस के समक्ष प्रकट होते हैं। ऐसी ही अनेक कहावतें, लोकोक्तियाँ ईसुरी के संदर्भ में उपलब्ध होती हैं। विस्तार भय से केवल दो उदाहरण दिये जा रहे हैं।

(क) कहा जाता है कि इनको देवी दुर्गा की सिद्धि थी। इसी कारण वे गोपनीय तथ्यों का उद्घाटन कर देते थे। बात संवत् 1933 की है, जब ईसुरी धनरी माफीदार श्री जगजीत सिंह जूदेव मुसाहिब के यहाँ कारिन्दा के पद पर कार्यरत थे। एक बार रूकमन नाम की कहारिन ने, जो मुसाहिब जू के अंदर का कार्य करती थी, उनकी माँ नन्ना जू का आभूषणों का डिब्बा चुरा लिया। बगैर किसी दूसरे की जानकारी के उस डिब्बे को अन्यत्र

रख दिया। फिर अन्दर का कार्य करने लगी। उस डिब्बे के आभूषणों की कीमत उस समय लगभग एक लाख रुपये थी। ईसुरी की ईमानदारी असंदिग्ध थी, जिसके कारण मुसाहिब जू उनसे प्रसन्न रहते थे। इसी कारण और कामदार ईसुरी से ईर्ष्या रखते थे। उन्हें ईसुरी से बदला लेने का सुअवसर मिला और डिब्बा चोरी की घटना को लेकर इनके बारे में मुसाहिब जू के कान भरे। परिणामतः मुसाहिब जू ईसुरी पर कुपित हो गये और इनको संदेह का शिकार बनाया गया।

चोरी का पता करने के लिये ईसुरी को उल्टा करके नीम के पेड़ से लटका दिया गया। यह वृक्ष आज भी धवरा में मुसाहिब जू के मकान के बाह्य प्रांगण में अवस्थित है। आभूषणों की चोरी में ईसुरी का कोई हाथ नहीं था। जब इनको प्रताड़ना देकर पूछ-ताछ की जाने लगी, तो उन्होंने कहा - मैं देवी दुर्गा की कसम खाकर कहता हूँ कि इस सम्बंध में मुझे किसी भी प्रकार की कोई जानकारी नहीं है। ईसुरी से फिर पूछा गया कि इसकी जानकारी किसको है? तब उन्होंने देवी दुर्गा की आराधना की और पेड़ पर उल्टे-लटके-लटके ही फाग पढ़ना प्रारंभ कर दिया, जो इस प्रकार है-

रूकमन डबा काये न रानौ, भेजो जहलखानौ।  
भीतर बैठे सैं का हौने, काये चुरा लओ गानौ।  
जो खा जाय खेत खौं बारी, जेऊ इक बड़ौ अलानौ।  
जो तुम चाओ जिन्दा हमखौं, जल्दी देव बतानौ।  
नाहक हो रई दसा हमारी, फिर पर हैं पछतानौ।  
मौरौ जानौ गओ न 'ईसुर' है रूकमन कौ जानौ।

रूकमन कहारिन, जो कि ईमानदारी का आवरण डाले अंदर बैठी थी, को पकड़कर पिटाई की गई और चोरी गये आभूषण प्राप्त को गये।

(ख) दूसरी जनश्रुति के अनुसार, महाराजा विश्वनाथ सिंह जू देव छतरपुर, ईसुरी की कवित्व प्रतिभा से तो परिचित थे ही, परन्तु उन्होंने जब इनकी चमत्कारपूर्ण घटनाओं के संबंध में सुना तो उन्होंने इन्हें छतरपुर बुला भेजा। ईसुरी महाराजा के बुलाने पर छतरपुर गये। दरबार में पहुँचते ही दरबारी नियमों के अनुसार महाराजा की प्रशस्ति गायन प्रारंभ किया-

छत पै छाई छतरपुर मइया, धरम बेल हरयानी।  
चढ़ती अवै कमान विजय की, बड़ती बौल दिखानी।  
डेवड़ी आय दच्छना पाउत, विमुख जात न प्रानी।  
हुइये काम करवे खौं 'ईसुर' ई गादी की रानी।

उपर्युक्त प्रशस्ति गायन सुनकर महाराजा ने ईसुरी से पूछा कि कवि, इसमें सत्य कहाँ तक छिपा हुआ है। तब ईसुरी असमंजस में पड़ गये, परन्तु उन्होंने देवी दुर्गा का ध्यान किया और इसकी पुष्टि करने के लिये महाराजा को विश्वास दिलाते हुये निम्न फाग पढ़ना प्रारंभ किया -

मिथ्या नई कविन की बानी, जिभ्या बसत भुमानी  
विधना की बलहारी देखो, परी रेख की हानी।  
बारा बरस महादो सेवा, छोड़ौ सकल गुमानी।  
करम रंगीचें मँट देत हैं, ऐसे सारंग पानी।  
ईसुर प्रभुता विश्वनाथ कैं, हुइये अमर निसानी।

उपर्युक्त फाग को सुनकर महाराज को विश्वास हो गया। जब महाराजा विश्वनाथ सिंह जूदेव के कुँवर हुये तो उन्होंने ईसुरी के आशीर्वाद का ध्यान रखकर कुँवर का नाम भुलानीसिंह जूदेव ही रखा। कुँवर के जन्मते ही ईसुरी की खोज की गई, परन्तु वे उस समय स्वर्गवासी हो चुके थे।

'ईसुरी' के जन्म संवत् के संबंध में इन पर कार्य करने वाले मूर्धन्य विद्वानों ने निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा। जिन विद्वानों ने इनका जन्म संवत् दिया भी है, उनके पास कोई ठोस प्रमाण नहीं हैं। अनुमान के सहारे ही उन्होंने जन्म सम्वत् निश्चित किया है। श्री वीरसिंह जूदेव ओरछेश की मान्यता को स्वीकार करते हुये श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर', श्री रामचरण हयारण मित्र एवं डॉ. श्री शंकर शुक्ल ने इनका जन्म संवत् 1881 माना है। जिसके लिये इन्होंने कोई ठोस प्रमाण नहीं दिये। प्रमाणों के अभाव में इसे विश्वसनीय नहीं माना सकता। श्री कृष्णानंद गुप्त ने हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, षोडश भाग में ईसुरी का जन्म संवत् 1891 विक्रम माना है। इन्होंने 'ईसुरी फागें' प्रथम भाग संग्रह में जन्म काल 1895 विक्रम स्वीकार किया है। इस प्रकार स्वयं गुप्त जी परस्पर विरोधी मतों का प्रतिपादन कर बैठे हैं। साहित्य महोपाध्याय श्री श्याम सुंदर बादल ने ईसुरी का जन्म

संवत् 1896 विक्रम के आस-पास माना है। श्रीयुत् बादल ने जन्म संवत् को मृत्यु संवत् से निकालने का निरर्थक प्रयास किया है, जो असंगत प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इन्होंने कोई विश्वसनीय आधार प्रस्तुत नहीं किया। इस कारण इसे भी प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। डॉ. कुलदीप ने अपने शोध प्रबंध में ईसुरी के जन्म संवत् के लिये श्री बादल की मान्यता को ही स्वीकार किया है। प्रो. श्रीचन्द जैन ने 'विन्ध्य के लोक कवि' नामक पुस्तक में ईसुरी का जन्म संवत् 1895 विक्रम स्वीकार किया। मिश्र बंधुओं ने अपने 'मिश्र विनोद' में ईसुरी का जन्म संवत् 1920 स्वीकार किया है। अतः पुष्ट प्रमाणों के अभाव में आपके मत भी अन्य विद्वानों की भांति निराधार सिद्ध होते हैं। अब हम आगे चलकर इस अमर लोक महाकवि के वास्तविक जीवन वृत्त को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं।

लोककवि ईसुरी का पूरा नाम 'हरलाल' था। ईसुरी प्रसाद इनका उपनाम था, जिसका उपयोग प्रायः वे अपनी रचनाओं में किया करते थे। इनकी अधिकांश रचनाओं में 'ईसुर' या 'ईसुरी' तथा कुछ रचनाओं में ईसुर प्रसाद का प्रयोग पाया जाता है।

आपका जन्म संवत् 1898 विक्रम चैत्र शुक्ल दशमी दिन गुरुवार को हुआ था, जिसका ठोस प्रमाण कवि की जन्म पत्रिका है। हिन्दू समाज में जन्म तिथि और जन्म संवत् का सही आधार जन्मांग (जन्मपत्री) माना जाता है। मुझे जो जन्मांग उपलब्ध हुआ है, उसमें जो जन्म संवत् अंकित है उसकी पुष्टि धवरा में ईसुरी के साथ कार्यरत श्री वाकर खानसामा, जो कि ईसुरी को अपना गुरु मानते थे, की निम्न रचना से भी हो जाती है -

दोहा - संवत् अठारसौ अठान्वै, दिना हतो गुरुवार।  
चैत सुदी दसमी रई, लओ ईसुर औतार।।

चौकड़िया - गुरु ने जैसौ हमें सुनाओ, फाग बनाकें गाओ।  
संवत् अठारसौ अठान्वै को, सुभ संवत् जब आओ।  
चैत सुदी दसमी दिन गुरु को, भोले ने सुत पाओ।  
गंगा उर सों उपजे ईसुर, 'बाकर' सबहि सुहाओ।

इस आधार पर ईसुरी का जन्म चैत्र दशमी दिन गुरुवार संवत् 1898 निश्चित होता है।

बुंदेलखण्ड में वेत्रवती के तट पर अवस्थित पावन नगरी ओरछा के समीप झाँसी मण्डलान्तर्गत, मऊरानीपुर से पश्चिमोत्तर झाँसी सड़क के छठवें मील पर ग्रामीणांचल में अवस्थित मेड़की नामक ग्राम बुंदेलखण्ड के जयदेव एवं चौकड़िया फाग के प्रथम पुरस्कर्ता लोक महाकवि ईसुरी का जन्म स्थान है।

ईसुरी अपने माता-पिता की अंतिम संतान थे। अंतिम संतान होने के कारण इनको घर-भर में सर्वाधिक प्यार मिला। जब वे लगभग तीन वर्ष के थे, तभी इनकी माँ गंगाबाई इस असार संसार से विदा हो गई। माँ की मृत्यु के लगभग दो वर्ष पश्चात् पिता भी चल बसे। इनके मामा पं. श्री भूधर नायक लुहरगाँव (हरपालपुर) के निवासी थे। उनके कोई संतान नहीं थी। वे ईसुरी को इस इच्छा से अपने घर लाये कि यदि अपनी कोई संतान नहीं हुई तो इन्हें गोद ले लेंगे। इस प्रकार ईसुरी का बचपन अपने मामा पं. भूधर नायक के ग्राम लुहरगाँव में बड़े लाड़-प्यार और आनंद के साथ व्यतीत हुआ है।

आपको शिक्षा-दीक्षा अर्जित करने का सुअवर किसी विद्यालय आदि से प्राप्त नहीं हुआ। आपकी प्रारंभिक शिक्षा लुहरगाँव में ही पं. जमुना प्रसाद रावत की घरेलू पाठशाला में हुई थी। लुहरगाँव वासियों के अनुसार पाठशाला में प्रत्येक छात्र से प्रतिमाह दो आना एवं अमावस्या और पूर्णिमा को सीधा लिया जाता था। ईसुरी को उन्हीं के यहाँ पढ़ने भेजा गया और उन्हीं से चार पाठियाँ सीखी। इससे यह अर्थ निकलता है कि ग्रामीण जीवन में लिखने-पढ़ने और हिसाब-किताब रखने के लिये जो आवश्यक बातें हैं वे ही ईसुरी ने जानी। उन दिनों आज जैसी ग्रामों में पाठशाला-व्यवस्था नहीं थी, जिसमें ये विधिवत अध्ययन करते। गाँव में पंडित इत्यादि ही प्रारंभिक ज्ञान की बातें बतलाया करते थे। तात्पर्य यह कि ये जीवनोपयोगी शिक्षा ही अर्जित कर पाये।

ईसुरी के आश्रयदाता श्री जंगजीत सिंह जूदेव मुसाहिब धवरा, हमीरपुर (उ.प्र.) के कागजात, जो कि ईसुरी के ही लिखे हुये हैं, देखने से विदित होता है कि इनको शुद्ध लिखना भी नहीं आता था। अल्प शिक्षा प्राप्त इस लोककवि की वाणी में एक विचित्र सम्मोहन और प्रभाव था। इसीलिए इनके मित्र कहा करते थे कि इन्हें मोहनी मंत्र सिद्ध है। हम कह सकते हैं कि अपने जीवन-काल में इनकी ख्याति या लोकप्रियता का बहुत बड़ा

आधार इनकी सरस, सुरीली भाव भरी मधुर वाणी थी, जो बरबस सबको आकृष्ट कर लेती थी। इस संबंध में कवि की एक फाग दृष्टव्य है -

मोरी खबर सारदा लइये, कंठ विराजी रइये।  
मैं अपड़ा अच्छर न जानौ, भूली कड़ी मिलइये।  
तोरे डेरा हिंगलाज में, ह्याँ नौं फेरा दइये।  
'ईसुर' कात सत्रु के बाने, छीन कै हमखौं दइये।

ईसुरी का बचपन लुहरगाँव (हरपालपुर) में अपने मामा पं. भूधर नायक के यहाँ बीता। इनका विवाह भी मामा के घर पर रहकर सम्पन्न हुआ। सीगौन (हमीरपुर) निवासी श्री भोलेनाथ जी मिश्र की पुत्री श्यामबाई के साथ इनका विवाह हुआ था। सीगौन, बघौरा और धवरा के निवासियों ने इनकी पत्नी का नाम श्यामबाई ही बतलाया। सीगौन निवासी 95 वर्षीय श्री दीनदयाल मिश्र, जो इनकी पत्नी को फुआ कहते थे, उन्होंने दृढ़मत के साथ इसकी पुष्टि की। इनकी पत्नी का नाम श्यामबाई था, किन्तु माता-पिता के घर में इन्हें लाड़-प्यार के कारण राजा बेटी कहकर पुकारा जाता था।

ईसुरी के चार पुत्रियाँ थी, जो सीगौन में ही पैदा हुई थी। इसकी भी पुष्टि श्री दीनदयाल मिश्र द्वारा की गई तथा ग्राम पुरोहित श्री मथुरा प्रसाद नायक ने भी की। प्रथम पुत्री राजकुँवर ग्राम हिलुवा (दौनी) चौबे परिवार में, द्वितीय पुत्री लाल कुँवर ग्राम लुगासी नायक परिवार में, तृतीय पुत्री रामकुँवर ग्राम ढिलापुर में तथा चतुर्थ पुत्री ग्राम धवार में ब्याही थी। इनकी चारों पुत्रियों का विवाह भी सीगौन में ही सम्पन्न हुआ। मेड़की वालों ने भी इन्हीं चार पुत्रियों को स्वीकारा है, परन्तु इनकी रचनाओं में एक ही पुत्री गुरनबाई का उल्लेख हुआ है।

श्री द्विवेदी जी ने 'ईसुरी प्रकाश' के कवि परिचय में आगे लिखा है- पं. श्री भोले अरजरिया तिवारी (जुझौतिया ब्राह्मण) मेड़की के निवासी थे। मेड़की में ही उनकी पत्नी ने सदानंद उर्फ अधार, रामदीन और ईसुरी, इस प्रकार तीन पुत्रों को जन्म दिया। सदानंद के बंशधर मेड़की में ही खेती-बाड़ी तथा पंडिताई का काम करते रहे। रामदीन के पौत्र पंडित दुर्गा प्रसाद सत्रह-अट्ठारह वर्ष की अवस्था में ही मेड़की से बघौरा चले आये। बघौरा में वे कुछ समय रहकर लहर नामक ग्राम में जो कि झाँसी से पश्चिम की ओर तीन मील पर है, आ गये।

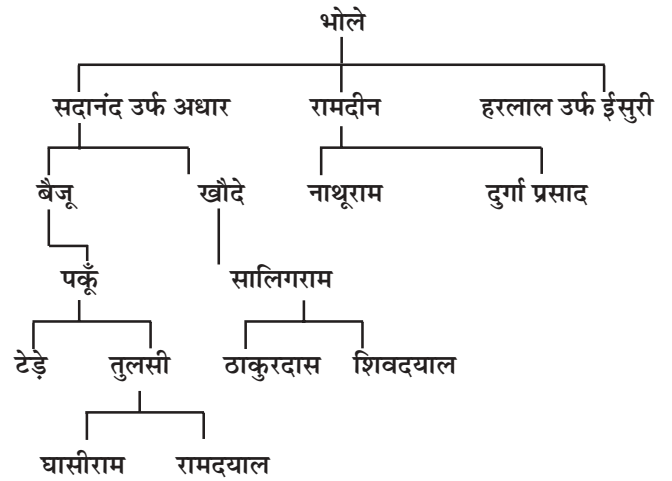
पं. श्री दुर्गा प्रसाद के चार विवाह हुये थे। पहली पत्नी कोटवरूटा की थी। उनके कोई संतान नहीं हुई, उनके स्वर्गवासी होने पर उनका दूसरा विवाह चिल्ला में हुआ, किन्तु इससे भी कोई संतान नहीं हुई और शरीरपात हो गया। तब उसकी छोटी बहिन से इनका विवाह हो गया। इस स्त्री से एक कन्या हुई। इस पत्नी के मर जाने पर फिर इसकी ही बहिन के सखाई के साथ विवाह हो गया। इनके तीन पुत्र महावीर प्रसाद, देवीराम और नंदराम हुये।

पं. श्री दुर्गा प्रसाद का सं. 2004 विक्रम में श्रावण मास में देहावसान हो गया। इनको कविता करने का अभ्यास था। स्फुट छन्दों के अतिरिक्त 'भक्त माल' और 'रामायण' की प्रतिलिपि उन्होंने लिखी है, जो कि अभी तक सुरक्षित है।

इसी प्रकार श्री द्विवेदी जी ने अपने 'ईसुरी प्रकाश' के परिचय खण्ड में ईसुरी के कोई पुत्र न होने कारण ललितपुर निवासी पं. विलासी पाठक को दत्तक पुत्र स्वीकारा है। इस संबंध में मैंने ईसुरी से संबंधित स्थलों पर जाकर अनेक लोगों से इस विषय में जिज्ञासा प्रकट की। धवरा (हमीरपुर) में मुसाहिब जू के प्रपौत्र श्री भूपत सिंह जिनकी आयु लगभग 45 वर्ष है एवं अन्य अनेक धवरा निवासियों में भी किसी ने यह नहीं स्वीकारा कि ईसुरी ने किसी को दत्तक पुत्र स्वीकार किया था। उनके केवल चार लड़कियाँ थी। इसी बात की पुष्टि ईसुरी की ससुराल ग्राम-सीगौन निवासी श्री दीनदयाल मिश्र ने की। बघौरा निवासियों का भी यही अभिमत है, परन्तु जब मैंने इस सन्दर्भ में इनके जन्म मेड़की की यात्रा की तो विदित हुआ कि ईसुरी ने ललितपुर निवासी श्री विलासी पाठक को पुत्र बनाया था।

ऐसी स्थिति में प्रामाणिक रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ईसुरी के कोई पुत्र न होने के कारण दत्तक पुत्र स्वीकार किया था। मेड़की में ईसुरी के बड़े भाई सदानंद के पुत्र की पुत्र-वधू आज भी मौजूद हैं, जो बहुत वृद्ध हो चुकी हैं। उनसे पूछ-ताछ करने पर विदित हुआ कि ईसुरी ने कोई दत्तक नहीं बनाया था। बड़े भाई की संतान परम्परा से वे संतुष्ट मालूम होते थे, और जबकि उनके चार पुत्रियाँ थी तथा भाई-भतीजे भी थे, तब पृथक से कोई दत्तक पुत्र बनाने का औचित्य समझ में नहीं आता। न ही

उन्होंने कहीं पर ऐसा कोई उल्लेख ही किया है। इन परिस्थितियों में प्रायः हिस्सा बाँट को लेकर झगड़े-फसाद बाद में होते हैं। ऐसे झगड़े का उल्लेख भी नहीं मिलता और न ही विलासी पाठक के आगे कोई संतान-सूत्र का पता चलता है। ईसुरी के आगे की वंश परम्परा उनके भाई से चलती है, जिसमें सगुनियाँ आज भी जीवित है। पुरुष कोई शेष नहीं है। इस प्रकार वंश-वृक्ष निम्न प्रकार निर्धारित होता है-



### आश्रयदाता एवं प्रमुख घटनाएँ

ईसुरी के मामा के जब संतान हुई तो इन पर से उनके ममत्व का शनैः - शनैः ह्रास होता गया। ईसुरी की ससुराल वालों की धवरा में (हमीरपुर) एक गल्ले की दुकान थी। ये ससुराल की ओर से इस दुकान की देख-भाल करने के लिये वहाँ रहने लगे। ईसुरी लगभग संवत् 1922 में धवरा आये, जिसकी पुष्टि नब्बे वर्षीय धवरा निवासी श्री छेराधीश ने की। ये लगभग दो साल तक दुकान चलाकर अपना जीवनयापन करते रहे। जब इनकी गुजर-बसर नहीं चली तो संवत् 1924 की जुलाई में, श्री जंगजीत सिंह जूदेव मुसाहिब जू के यहाँ कामदार या कारिन्दा का कार्य करने लगे। मुसाहिब जू के प्रपौत्र श्री भूपत सिंह द्वारा ईसुरी की बहियाँ एवं अन्य कागजात देखने को मिले, जिससे विदित होता है कि ईसुरी (सन् 1824 से 1877) उनके यहाँ कार्यरत रहे। साथ ही साथ उनकी काव्य साधना भी चलती रही। कहा जाता है कि इन्हीं की पुत्री का नाम रज्जू राजा था, जिन पर इन्होंने 'रजऊ' सम्बोधन करके तीन सौ साठ फागों लिखी। यह कथन सत्य

प्रतीत नहीं होता, क्योंकि उस समय के रसिया एवं छतरपुर निवासी श्री गंगाधर व्यास की फागों में 'रजऊ' शब्द का प्रयोग प्रेमिका के अर्थ में मिलता है। ईसुरी ने स्वयं 'रजऊ' शब्द का स्पष्टीकरण इस प्रकार दिया है-

नईयाँ रजऊ काऊ के घर में, बिरथा कोऊ भरमें।  
सब में है और सबसे न्यारी सब ठौरन में भरमें।  
को कह अलख-अलख की बातें, लखीं न जायँ नजर में।  
ईसुर गिरधर रयें राधे में, राधे रयें गिरधर में।

x x x

देखी रजऊ काऊ ने नइयाँ, कौन बरन तन मुईयाँ।  
काँ तौ उनकी रहसरात है, काँ दये जनम गुसइयाँ।  
पैलऊँ भैट हमई न भई, सई किरपा हम पइयाँ।  
ईसुर हमने रजऊ की फागें, कर दई मुलकन मइयाँ।

'रजऊ' शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट व्यक्ति से संबंधित न होकर सामान्य रूप से प्रचलित नायिका के लिये ही प्रयुक्त हुआ है।

ईसुरी जब मुसाहिब जू के यहाँ कार्यरत थे, इन्हें एक अपमानजनक स्थिति का सामना करना पड़ा। मुसाहिब जू के रूकमन नाम की एक परिचारिका थी, जिसने माँ नन्ना जू के आभूषणों का डिब्बा चुराकर अन्यत्र रख दिया था। दूसरे कर्ता कामदारों द्वारा मुसाहिब जू के कान भरने पर ईसुरी को संदिग्धता का शिकार बनाया गया और इनको उल्टा करके नीम की डाल पर लटका दिया गया। इस घटना की फाग दृष्टव्य है-

जा भई दसा लगन के भोरें, रजऊ तुमारे दुआरें।  
जिन तन फूल छड़ी न छूटीं, तिनें घली तरवारें।  
हमतौ टंगे नीम की डरियाँ, रजुआ करैं बहारें।  
ठाड़ी हती टिकी चौखट सैं, अब भई ओट किवारें।  
कर का सकत अकेलौ 'ईसुर', सबरू गाँव उतारें।

डिब्बा मिलने की फाग पीछे दी जा चुकी है। इनकी निर्दोषता स्वयं सिद्ध हो जाने पर भी अपनी सफाई प्रस्तुत करते हुए कहते हैं-

अनुआँ का भओ जात लगायें, जौलौं राम बचायें।  
राँडे पकरी जाँय पेट में, ऐवातिन की बायें।  
ऐंगर ठाड़ौ देख लेय कोऊ, आँखें चार मिलायें।  
ईसुर चन्द होत न मैले, काऊ की धूर उड़ायें।

इस घटना के घटित होने के अनंतर ईसुरी धवरा छोड़कर समीप के गाँव ठठेवरा में श्री भुन्दो माफीदार के यहाँ पर लगे। इस मिथ्या कलंक ने उनको इतनी चोट पहुँचाई कि वे ठठेवरा जाकर बीमार पड़ गये। उनकी तथ्याशील वेदना निम्न फाग देखी जा सकती है-

कैसे मिटै लगी कौ घाओ, ई की दवा बताओ।  
दिन ना रात चिहारी परतीं, जुर न खायें चाओ।  
गुनियाँ और नावते हारे, खेल-खेल कै भावौ।  
कात ईसुरी कैसो करिये, चलत न एक उपाओ।

ईसुरी लगभग दो महीने ठठेवरा में रहे। उनकी स्थिति का समाचार सुनकर धवरा निवासियों को अत्यधिक पश्चाताप हुआ और मुसाहिब जू सहित अन्य प्रतिष्ठित लोग ठठेवरा से ईसुरी को मनाकर पुनः धवरा ले आये। परन्तु मुसाहिब जू इनका आंतरिक द्वेष बना रहा। इसीलिये उन पर मुकदमा चलाये गये और तहसील का निर्णय आपके पक्ष में ही हुआ। धवरा में उन्होंने चतुर्भुज किलेदार के यहाँ का कार्य प्रारंभ कर दिया। इन पर मुसाहिब जू की ओर मुकदमा चला या नहीं, यह ठीक से नहीं कहा जा सकता, परन्तु उन पर मुकदमे अवश्य चलाये गये, जिनका वर्णन उन्होंने अपनी फागों में किया है। मुकदमों में विजयी होने पर उन्होंने माधव प्रसाद तहसीलदार, कुलपहाड़ की न्याय-प्रियता की प्रशंता में जो फागें लिखी थी, वे इस प्रकार हैं-

जब हम तासीली सैं छूटे, अपने अनुआँ बीते।  
मुद्दई खौं दओ वना बुकरिया, मुद्दाले खौं चीते।  
श्री माधौ प्रसाद से हाकम, उन दिन बड़े जसी ते।  
अरजी देत उबेरो हमखौं, नईतर होत फजीते।  
हर इच्छा सैं हते ईसुरी, हाँत मुठी सैं रीते।

जब हम तासीले सैं छूटे, परे मुकदमा झूटे।  
लिखा दये इकरार सवन ने, फेर न हाकम खूटे।

उनकी बड़ती करै विधाता, बड़े बखेड़ा टूटे।  
श्री माधौ प्रसाद से हाकम, जियत जगत जस लूटे।  
'ईसुर' नीत निमाई पूरी, नउत पेट खौं घूटे।

जब बघौरा ग्राम की जमींदारी का अर्द्ध भाग श्री चतुर्भुज किलेदार ने खरीदा, तो इस नई जमींदारी की व्यवस्था का भार ईसुरी पर छोड़ दिया। अब इनका धवरा और बघौरा दोनों ग्रामों से संबंध जुड़ गया। जब ईसुरी किलेदार के यहाँ कारिन्दा का काम कर रहे थे, उस समय उनकी आयु लगभग चालीस वर्ष की रही होगी। तभी उनकी पत्नी श्यामा की मृत्यु हो गई, जिससे इन्हें मर्मान्तक पीड़ा हुई। इन्होंने दूसरा विवाह नहीं किया। पत्नी की मृत्यु के अनंतर आपकी पुत्री गुरन वैधव्य को प्राप्त हुई। यहाँ से आपकी व्याकुलता और अधिक बढ़ गई।

इनके जीवन में दो नर्तकियों का नाम लिया जाता है, जो रंगरेज के नाम से प्रसिद्ध थीं। ये दोनों सगी बहिनें थीं। बड़ी का नाम गंगिया तथा छोटी का सुंदरिया था। वे स्वयं जहाँ नाचने के लिये जाती थी, ईसुरी की फागें ही गाती थीं। वे कुशल नर्तकी होने के साथ-साथ रूपवती थी। ऐसा कहा जाता है कि इन पर ईसुरी आकृष्ट थे। इन्हीं के संबंध में फागें प्रस्तुत हैं -

नैना तरवारन सैं पैने, करे सामने तैनें।  
घायल कर दओ देस भरे खौं, ऐसी दर्ई की दैनें।  
प्राण हरन सुंदरिया- गंगिया, एकई सी दोई बैनें।  
ऊसई पैने नैन तुमारे, कछु चलत है सैनें।  
ईसुर कात सामने होके, सये ससन भर मैनें।

इन्हीं को रंगरेजिन सम्बोधित करते हुये ईसुरी ने इनके नेत्रों की उपमा भ्रमर से देते हुये कहा है -

नैनां भँवर भये बारी के, रंगरेजन प्यारी के।  
एक से दोऊ वेसधारी हैं, रूचिर रेखकारी के।  
सालकराम बीच कमलन के, चितन अन्यारी के।  
लेत सुगंध फूल भये फूले, मानस संसारी के।  
ईसुर परे इसक के फंदे, आसिक हैं प्यारी के।

ईसुरी की फागों के गायक धीरे पण्डा थे, जिनकी गायिकी की प्रशंसा स्वयं करते हुये ईसुरी कहते हैं -

जिनकै चलै अराऊँ साका, बड़ी मोहनी भाका।  
बाके बोल लगत औरन खौं, गोली कैसे हाँका।  
बैठे रयें सुने सब बेसुध, खँचे रयें सनाका।  
दूनर होत नाचने वाली, मई खौं जात धमाका।  
फागन खौं इक धीरे पण्डा, ईसुर आयें पताका।

ईसुरी फागें बनाते भी थे और स्वयं गाते भी थे। जब वे वृद्ध हो गये और शिथिलता अनुभव करने लगे, तब उन्होंने गायन का पूरा भार धीरे पण्डा पर ही छोड़ दिया था। प्रमाण के लिये निम्न फाग दृष्टव्य है-

आ गये मरवे के दिन नीरे, चलन चाउत जे जीरे।  
अब बा देह अगन रई नइयाँ, हाँत-पाँत सब सीरे।  
डारन लगे रात हैं नइयाँ, पत्र होत जब पीरे।  
जितनी फाग बनावे ईसुर, गावै पण्डा धीरे।

इसी कारण ईसुरी और धीरे पण्डा की घनिष्ठता अधिक हो गई थी। इसी प्रसंग में ईसुरी का पण्डा के प्रति एक मनोरंजक पत्र-व्यवहार देखिये, जो मित्रों के बीच हार्दिक स्नेह का परिचायक है-

दोहा - दुज धीरे खौं ईसुरी, पौंचाई परनाम।  
दिल जानें दिल सौंप दओ, दिल की जानें राम।  
चौकड़िया - दिल की राम हमारी जानें, मित्र झूट न मानें।  
हम तुम लाल बतात जात ते, आज रात बरानें।  
सापरतीत आज भई बातें, सपनन काये दिखानें।  
ना हो मा हो देख लेत ते, फूले नई समानें  
मौत दिनन से मोरी ईसुर, तुमें लगे दिन चानें।

ईसुरी लगभग 18 वर्ष तक किलेदार के यहाँ काम करते रहे और ये वि.सं. 1953-54 के लगभग ब्रज गये। वहाँ लगभग दो वर्ष तक रहे। श्री राधा-कृष्ण विषयक फागें आपकी वहीं की रचनायें प्रतीत होती हैं। ईसुरी ने वहाँ के चौबे जाति की स्त्रियों पर कुछ फागों की रचना की है। दो उदाहरण पर्याप्त होंगे -

देखो जमुना तीर सपरतन, पीरी पई निकरतन।  
स्याम मंजनी गार-गार कें, सिरी माँग में भरतन।  
कंचन कैसी बेली उनकी, लख खई तनक उगारतन।



‘ईसुर’ या विसरान्त घाट पै, चित्त चौबने हरतन।

X X X

बिचरत देखीं जमना तीरे, लेती सीर समीरें।  
कंचन कलस दसन में दाबैं, मुखन रसीले वीरें।  
धूमनदार घाँघरों जिनमें, जरकस जरव जवीरें।  
कई रंग भरन-तरन गोटा की, सिर सुक पटका पीरें।  
हुमसैं पीन पयोधर जिनमें, उलटें उर्द मजीरें।  
मथुरा की चौबने ईसुर, हरै हजारन जीरें।

ईसुरी ने वृंदावन से लौटकर पुनः अपना काम सम्हाला, किंतु कुछ दिनों के बाद काल गति से श्री किलेदार की जमींदारी कुर्क हो गई और श्री रज्जब अली ने खरीदा। ईसुरी अब उन्हीं के यहाँ नौकरी करने लगे। रज्जब अली की मृत्यु हो जाने पर उनकी पत्नी आबादी बेगम काम देखने लगीं और बेगम साहिबा के यहाँ ये कारिन्दा का कार्य करते रहे। यथा- ‘वने बगौरा रात ईसुरी कारिन्दा बीबी के।’ यद्यपि ईसुरी का बघौरा से संबंध, जब से श्री किलेदार ने बघौरा की जमींदारी खरीदी थी, तभी से हो गया था, तथापि इनका आना-जाना धरवरा से बघौरा होता रहता था। परन्तु स्थायी रूप से इनका निवास आबादी बेगम के कारिन्दा बनने पर ही हुआ। अनुमानतः ईसुरी साठ वर्ष की आयु में बघौरा के स्थायी निवासी बने।

एक बार एक काला साँप इनकी पीठ पर चढ़कर सिर से नीचे उतरा और बिना हानि पहुँचाये चला गया। इस घटना की फाग देखिये-

सिर पै करी साँप ने बामी, धन्न गरूड़ के गामी।  
पीठ पछारूँ हो चड़ आओ, उतरन उतरो सामी।  
ना हम करी करन दई औरै, भगति रहो हौं नामी।  
काये सैं रीझे ‘ईसुर’ पै, करत जात हौं नामी।

उपर्युक्त रचना से यह भली-भाँति विदित होता है कि ईसुरी की ख्याति उक्त घटना के समय यथेष्ट बढ़ चुकी थी। इनकी ख्याति उस समय समीपी क्षेत्र तक ही नहीं, अपितु दूर-दूर तक फैल चुकी थी। ऐसा कहा जाता है कि इनकी ख्याति सुनकर तत्कालीन छतरपुर नरेश श्री विश्वनाथ सिंह जूदेव ने

इनको अपने दरबार में रखने की इच्छा प्रकट की थी। महाराजा उन्हें एक रूपया प्रतिदिन के हिसाब से वेतन, खाना, वस्त्र, एक पण्डा और ढीमर की सुविधा देने को तैयार थे, लेकिन वे बघौरा छोड़कर अन्यत्र जाने के इच्छुक नहीं थे। इन्होंने पाँच रूपया मासिक वेतन की नौकरी स्वीकार की, परन्तु राज्याश्रय ग्रहण नहीं किया। छतरपुर निवासी गंगाधर व्यास के ये अभिन्न मित्र थे। यह भी कहा जाता है कि गंगाधर व्यास ईसुरी को अपना बड़ा भाई मानते थे। इसी नाते वे ईसुरी के यहाँ आया-जाया करते थे। इनकी पत्नी श्यामबाई से भी देवर-भाभी का रिश्ता मानने लगे थे। एक बार व्यास जी ईसुरी के घर गये। श्यामा ने व्यास जी से अपनी रूचि की कविता पढ़ने का आग्रह किया, उस पर श्री व्यास जी ने उन्हीं के नथ पर एक रचना सुनाई, जो इस प्रकार है-

बिसरै न मोय हलन हुरकी, बेसर की मूँज तनक मुरकी।  
दस उँगरी दस मुंदरी सोहै, बजन पैजना के सुर की।  
कानन भर-भर करनफूल हैं, गोरे गाल सांकर लुरकी।  
नैनन भर-भर सुरमा सोहे, सँदुर माँग भरी मुरकी।  
‘गंगाधर’ के संग चलौ हो, माँरें मजा छतरपुर की।

उपर्युक्त फाग से ईसुरी एवं व्यास जी की मित्रता स्पष्ट होती है। इसी मैत्री में बाधा पड़ने के भय से अथवा फिर काव्य क्षेत्र में आये दिन स्पर्धा के कारण ही उन्होंने राज्याश्रय नहीं स्वीकार किया होगा। श्री बालमुकुन्द दर्जी श्री व्यास जी के गुरु थे। इन्हीं बालमुकुन्द ने ईसुरी के पास एक संदेश वाहक को भेजा था, जिस पर व्यंग करते हुए ईसुरी ने एक कुण्डलियाँ लिख भेजी थी, यथा -

दानों आओ देस सैं, परो धौरा आन।  
हमने आदर दै करो, तनक खबइया जान।  
तनक खबइया जान, रोटियन पै घी धरकैं।  
दो टाठी भर दार, साक दो बेला भरकैं।  
बालमुकुन्दे ‘ईसुरी’, लिखा पटाओ उरानों।  
तीन सेर पै दओ ठहाकों, भेजो मन कौ दानों।

बालमुकुन्द जी मऊरानीपुर के निवासी थे। ईसुरी से इनका पत्र व्यवहार तथा मित्रता थी और वे श्री व्यास जी के गुरु थे। इस प्रकार ईसुरी अपने समकालीन कवियों से परिचित थे।

ईसुरी मृत्यु के कुछ समय पूर्व से संग्रहणी से पीड़ित थे। यह संयोग ही कहा जाय कि इनकी इच्छा के विपरीत इनकी मृत्यु इनकी पुत्री गुरनबाई के ससुराल में हुई। इस प्रकार हमारा लोक कवि, बुंदेलखण्ड जनपद का हृदय सम्राट मार्गशीर्ष कृष्ण सप्तमी विक्रम संवत् 1966 में दिवंगत हो गया। संभवतः ईसुरी जीवन के प्रत्येक क्षण साहित्य सृजन में तल्लीन रहे। इसलिए महाकवि सूर और घनानंद की भांति उन्होंने अपनी मृत्यु के बारे में भी लिखा। ईसुरी अपनी प्रेमिका को मृत्यु का संदेश प्रेषित करते हुए कहते हैं-

लैलो सीताराम हमारी, चलती बेरा प्यारी।  
ऐसी निगा राखियो हमपै, नजर न होय दुआरी।  
मिलकैं कोऊ बिछुरत नइयाँ, जितने हैं जिवधारी।  
'ईसुर' हंस उड़न की बेरा, झुक आई अँदयारी।

मृत्यु के समय इनको अपने अभिन्न मित्र श्री धीरे पण्डा का स्मरण बना रहा, जिसके संबंध में निम्न फाग दृष्टव्य है-

पण्डा धीरे इतै नौ आहैं, हमें मरो सुन पाहैं।  
समझा दइयौ सोस करैं ना, होतव पै बस ना है।  
जितने मिले चिनारी मोरे, राम-राम सब खाँ है।  
सबर करैं उदना वे ईसुर, जिदना फागें गा हैं।

आपको विश्वास था कि जिस दिन मैं नहीं रहूँगा, उस दिन से धीरे पण्डा फागों का गायन छोड़ देंगे और दोनों नर्तकियाँ गंगिया एवं सुंदरिया नाचना छोड़ देंगी। इसी संदर्भ की फाग देखिये-

यारौ सवै परे पछतानै, जब जा दम नई राणैं।  
एकन खौँ ऐसो सूजै, इनई के संग मर जानैं।  
करना करनैं कैऊ रोज लौ, खैवे खौँ नई खानैं।  
और के सामैं सुंदरिया गंगिया खौँ, नाच मनै नई आनैं।  
'ईसुर' छोड़ै फाग बनावौ, धीरे खौँ नई गानैं।

मृत्यु के समय परिवार को अंतिम विदा हेतु उपस्थित रहने के लिये तथा हिन्दू संस्कृति का निर्वाह करने के लिये दान आदि का आग्रह दर्शनीय है-

मोरी राम-राम सब खैयाँ, चाना करी गुसइयाँ।  
दै दो दान बुला कै वामन, करौ संकल्प रइयाँ।  
हाँत-दोक जांगा लिपवा दो, गऊ के गोबर मइयाँ।  
हारै खेत जाव ना ईसुर, अब हम ठैरत नइयाँ।

एक और अंतिम संदेश सारे गाँव, परिजन और पुरजन के लिये, कदाचित् उनकी अंतिम रचना, दृष्टव्य है -

मोरी सबखौँ राधावर की, भई तैयारी घर की।  
रातैं आज भीर रई भारी, घर के नारी-नर की।  
बिछरत संग लगत है ऐसौ, छूटत तारी कर की।  
मिहरबानगी मोरे ऊपर, सूदी रये नजर की।  
बदी भेंट फिर हुइये 'ईसुर', आँगुं इच्छा हर की।

इस प्रकार ऐसे अनुपम प्रतिभा सम्पन्न देदीप्यमान नक्षत्र का अस्त धूल और काँटों से भरे गाँव में हुआ।

बिरियाँ मरवे की नई पाई, विध ने मौँत बनाई।  
गाँव धवारै मरे ईसुरी, मीच अचानक आई।

ईसुरी की अंतिम इच्छा थी कि 'गंगा जूलौ मरै ईसुरी, दाग बगौरा दीजै।' उनकी अंतिम कामना की पूर्ति हेतु बैलगाड़ी पर रखकर मृत शरीर को बघौरा लाया गया, और बघौरा में दाग देकर उनकी अंतिम इच्छा पूरी की गई।

ईसुरी विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। इनका बुंदेली भाषा पर अभूतपूर्व अधिकार था। इन्होंने बुंदेली में उत्कृष्ट रचनाएँ करके अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। इसीलिये इनकी रचनायें बुंदेली साहित्य की अक्षय निधि बन चुकी हैं। ईसुरी आशु कवि थे। कविता उनकी सहज वाणी थी। उनमें काव्य प्रतिभा का प्रस्फुटन सोलह-सत्तरह वर्ष की आयु से हुआ, और मृत्युपर्यन्त फागों की सर्जना करते रहे। उनके सामान्य वार्तालाप, अदालती बयान, पत्र व्यवहार और अंतिम समय की बातें कवित्त के माध्यम से हुई हैं। इन्होंने चौकड़िया फागों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रचलित छन्दों में रचनाएँ लिखीं, परन्तु ऐसी रचनाएँ अल्प मात्रा में ही उपलब्ध हो सकी हैं। बानगी के रूप में प्रस्तुत घनाक्षरी में एक बाला को कंदेला संवारने की शिक्षा दी गई है-

न छेड़ री कामनी कड़जान दे विचारे को,  
पंथ के चलइया खों, नाहक कर घाल री।  
वारी सी उम्मर में, लंक में कलंक लगे,  
थोरी सी उम्मर, कछु पूरब सुधार री।  
कात ईसुरी, कछु सुख सासरे कौं राख,  
सबरू मजा मायके में ना मार री।  
जियन दे ज्वानन खों, नेक जोबन न दिखा,  
सो नेकी चल वेला, कंदेला तौ संवार री।

ईसुरी के आशुकवित्व का उत्कृष्ट रूप प्रस्तुत है। एक बार ईसुरी, मुसाहिब जू के कार्यवश ग्राम बिलहारी (नौगाँव) गये। कार्य पूर्ण न हो सकने के कारण रात्रि में इनको श्री मन्नु हलकारा के यहाँ रुकना पड़ा। प्रातः होते ही ईसुरी लोटा लेकर शौच कार्य के लिये बाहर निकले। इतने में ही बाहर से आने वाले दो आगन्तुकों ने इनको यहीं का निवासी समझकर मन्नु हलकारा का मकान जानना चाहा। ईसुरी उस समय इन आगन्तुक महाशयों को निम्न कविता में हलकारा साहिब का परिचय देते हुये आगे चले गये, जो इनके आशुकवित्व का परिचय तो देती ही है, साथ ही इनकी सूक्ष्म दृष्टि की भी परिचायक है। देखिये -

सेत सराई पगड़ी बाँधें, कुरता पैंं कारा।  
बूड़े बार उतरती उम्मर, गोरी उनकी धारा।  
सामूदोंरें कुइया सोहै, दोई पक्खन दोआरा।  
ईसुर मई बृजलाल की बखरी, मई मन्नु हलकारा।

ईसुरी जब मुसाहिब जू के यहाँ कारिन्दा थे, एक दिन उनके बैल लेकर उनके कुँआ पर जा रहे थे। आगे-आगे धवरा का ही गडुआ कुल्हाड़ी लिये अपने खेत पर जा रहा था। और दूसरी ओर से उजियारी आ रही है। गडुआ और उजियारी की पूर्व से ही वैमनस्यता थी। सर्वप्रथम गडुआ-उजियारी को गाली बकने लगा। उजियारी ने प्रतिरोध किया। तत्पश्चात् ईसुरी के रोकने पर भी गडुआ ने क्रोध में आकर उजियारी को अपनी कुल्हाड़ी के दो बेंत जमा दिया। मार-पीट की रिपोर्ट हुई। मुकदमा चला। उजियारी ने इन्हें साक्षी रूप में लिखाया। संयुक्त न्यायधीश महोबा (हमीरपुर) की ओर से इनके नाम सम्मन आया। तब

इन्होंने न्यायाधीश के समक्ष न्यायालय में एक कुंडलिया पढ़कर अपनी सफाई प्रस्तुत की। यथा-

गडुआ ने गारी दर्ई, उजियारी खों पैल,  
ओई गली हम जात ते, हाँकत अपने बैल।  
हाँकत अपने बैल, गैल में झगरौं ठानों,  
हनै पीठ दो बेंट, करो अपनौ मनमानों।  
कह 'ईसुर प्रसाद', आप जौ पूरौ अडुआ,  
कर दो भीतर जैल, भौत गर्गनौं गडुआ।

न्यायाधीश ईसुरी द्वारा दी गई सफाई से अत्यंत प्रभावित हुआ और उसने गडुआ को तीन मास की सजा सुनाते हुए जेल भेज दिया।

ईसुरी अपने समय में इतनी ख्याति कर चुके थे कि उनको सामाजिक, राजनैतिक और ग्रह कलह से उत्पन्न समस्याओं को सुलझाने के लिये आमंत्रित किया जाने लगा। एक बार इनको कौनिया (हरपालपुर) की दीवान की रानी ने बुलवाया। पहुँचने पर स्वागत सत्कार हुआ, परन्तु रानी अनमनी दिखाई दी। बात यह थी कि दीवान साहिब ने एक अन्य स्त्री से प्रेम संबंध स्थापित कर लिया था। इसी गुत्थी को सुलझाने के लिये रानी ने इनको बुलवाया था। भोजन के समय रानी ने बिना नमक की दाल एवं सब्जी थाली में इनके समक्ष परोस कर रख दी। इन्होंने बड़े सम्मान के साथ उस भोजन को ग्रहण किया और अपने अनुमान से कारण समझकर एक फाग की सर्जना करके दीवान साहिब को निर्भयतापूर्वक सुना डाली। जो इस प्रकार है-

भौरा जात पराये वागें, तनक लाज न लागै।  
घर की कली कौन कम फूली, काये ना लेत परागै।  
जब चाओ रस लेव मौँज सैं, छिन-छिन छवि अनुरागै।  
कैसैं जाय लगाउत हुइयै, और आंग से आगै।  
'ईसुर' जूठी-जांठी पातर, भावै कूकर कागै।

उपर्युक्त फाग द्वारा उपदेश सुनकर दीवान लज्जा का मारा नतमस्तक हो गया और अपनी भूल पर क्षमा-याचना करने लगा। इस प्रकार ईसुरी के अनेक प्रसंग इस जनपद में सुने जाते

## मालवी की विकासधारा

डॉ. पूरन सहगल

लोकभाषा और उसके पारंपरिक साहित्य पर काम करना समुद्रमंथन जैसा कठिन कार्य है। सबसे कठिन है शोध के लिए स्वयं को तैयार कर लेना। फिर लक्ष्य निर्धारण करना तथा शोध की कार्ययोजना निर्धारण करना। अनेक सकड़ी और घुमावदार गलियों में से होकर गुजरना पड़ता है। दिन भर चलो और ढाई कोस भी सफर तय नहीं हो सके, ऐसा तो सहज संभव है। किन्तु 'घूम फिर कर वापिस नहीं लौट आओ।' ऐसा चक्रव्यूह अनेक बार चौंका भी देता है। निराश भी कर देता है। कई बार तो उन लोगों के कारण चक्कर धिन्नी हो जाना पड़ता है, जिनसे दिशाबोध की आशा बनी रहती है। इनमें अधिकतर पूर्वाग्रही एवं दूराग्रही विद्वान होते हैं, जो न स्वयं कुछ करते हैं, न दूसरों को करने देते हैं।

लोक-अनन्त, अगम, अपार तथा अपरिमित कायनात का मूलार्थ है। जहाँ तक हमारी सोच, समझ और स्मृति-साक्ष्य जा सकती है, लोक उससे भी आगे तक विस्तीर्ण है। लोक दृष्टा, सृष्टा और समिष्टा शक्ति का समन्वित स्वरूप है। लोक में सब समाहित है। इसी प्रकार लोक सब में अंतर्निहित है। वह हमारी समस्त गतिविधियों का नियंता, प्रेरक एवं सृष्टा है। वेदव्यास ने कहा भी है।

*'प्रत्यक्षदर्शी लोकानां, सर्वदर्शी भवेन्नरः'*

लोक भाषा में लोक और लोक साहित्य से भी अधिक महत्त्वपूर्ण शक्ति होती है। लोक भाषा, लोक साहित्य की सहधर्मिणी और लोक साहित्य की प्रवक्ता होती है। इसकी पराशक्ति को आँक पाना बहुत कठिन है। लोक कितना अपार और अनंत है, इसका बखान भाषा के माध्यम से ही हो पाना सम्भव होता है। भाषा को लोक और लोक साहित्य से भी महत्त्वपूर्ण मानने के पीछे उसकी अभिव्यक्ति की क्षमता ही मानी जाती है। लोक भाषा लोक संस्कृति की सहधर्मिणी और लोक साहित्य की प्रखर प्रवक्ता होती है।

लोक भाषा को शब्दों और व्याकरण में संयोजित करके हम उसे किसी अंचल के बाड़े में या गोष्ठ में कैद नहीं कर सकते। लोक भाषा के लिए शब्दों के समुच्चय की आवश्यकता नहीं होती। संकेतों और ध्वनियों में अपने भावों को प्रकट करने की प्रक्रिया भी भाषा ही है। प्रकृति के अन्य एवं अनन्य लोक व्यवहार, आचरण और गतिविधियाँ भी भाषा के ही रूप हैं।

लोक भाषा को शब्दों और व्याकरण में बाँधकर हम उसे किसी पूर्वनिर्धारित अथवा मनभाए स्वरूप में नहीं निखार सकते और उसे किसी निष्ट-परिनिष्ट अथवा बोली-भाषा के बंधन में ही बाँध सकते हैं। भाषा का अनुसरण करना पड़ता है। हम उसे परिनिष्ट एवं व्याकरणनिष्ट बनाने के प्रयास में उसका वास्तविक स्वरूप ही बनाते-बिगाड़ते रहते हैं और बोली और भाषा के घुमावदार गलियारों में भटकते रहते हैं। सामान्यतः व्याकरण के दो स्वरूप होते हैं- भाषिक और सामाजिक व्याकरण। लोक भाषा सामाजिक व्याकरण के दायरे में आती है। सामाजिक व्याकरण में भाषिक व्याकरण के बंधन नहीं होते। वह उन्मुक्त होकर भी भाषिक व्याकरण की मर्यादा का उलंघन नहीं करती। वह तो सामाजिक संस्कृति का अनुमोदन करती हुई उसका पोषण करती है।

लोकभाषा को हम किसी भी नाम से पुकारें, रहेगी तो वह लोक सम्मत ही। सभी नाम हमारी सुविधा हैं। यह भाषा की विवशता कदापि नहीं है।

दसौरी की सीमा मेवाड़ के बेगू से लगाकर गागरोन तक पश्चिम-पूर्व मानी जाती है। इसमें झालावाड़ के गंगधर, डग, पिडावा भी शामिल हैं। इधर अरावली के उत्तरी सीमा से चलकर दक्षिण में जावरा की नवाबी सीमा तक हम दसौरी का क्षेत्र निर्धारण कर सकते हैं। मेवाड़ी, हाड़ोती, सोंधवाड़ी और रजवाड़ी का प्रभाव अपने-अपने अंचल में स्पष्ट रूप से देखा जाता है। इसी अंचल को ही हमने दशपुर जनपद कहा है। आज की राजनैतिक सीमाओं को देखे बिना हमें मालवी की सबसे समृद्ध भाषा दसौरी का आकलन करना पड़ेगा। इन सब भाषाओं का सामासिक स्वरूप ही दसौरी है।

पंडित शिवनारायण गौड़ ने जावद अंचल की मेवाड़ी प्रभावित लोक भाषा को 'जावदी' कहकर पुकारा है। हम किसी नगर के नाम से यदि भाषा-बोली का विभाजन करना शुरू करेंगे, तब तो पूरे मालवा में हर बारह कोस पर एक नई बोली हमें मिल

जाएगी और हमें उसका नामकरण वहाँ के किसी गाँव या अंचल के नाम से करना पड़ेगा। जैसे भावगढ़ अंचल की भावगढ़ी, मंदसौर की मंदसौरी, भानपुरा की भानपुरी आदि अनंत भाषाओं का एक मक्कड़ जाल फैल जाएगा और उसमें से मालवी का या दसौरी का चेहरा पहचानना कठिन हो जाएगा।

पंडित शिवनारायण गौड़ ने जिसे 'जावदी मालवी' कहा है, वह वास्तव में मेवाड़ी प्रभावित जावद अंचल की मालवी ही है। दसौरी मालवी का ही एक स्वरूप है। दशपुर जनपद राजस्थान का सीमावर्ती क्षेत्र है, इस कारण इसकी भाषा-बोली, रहन सहन, खान-पान, पहनावा, रीतिरिवाज अर्थात् समूची लोक संस्कृति पर उसकी सीमावर्ती लोक संस्कृति का प्रभाव स्वाभाविक रूप से परिलक्षित होता है, किन्तु इस कारण से हम मालवी को राजस्थानी या हाड़ोती तो नहीं कह सकते। उसी प्रकार उसे जावदी भी नहीं कहा जाना चाहिए। स्वयं पंडित शिवनारायण गौड़ ने दोनों लेखों - 'मातृभाषा जावदी, एवं दशपुरी मालवी की विशेषताओं' में तथाकथित 'जावदी मालवी' पर प्रकाश नहीं डालकर अंत में यह कहकर चुप्पी साध ली है कि- 'स्थानाभाव के कारण यहाँ मालवी, दशपुरी मालवी या जावदी मालवी के विभिन्न पक्षों पर दृष्टिपात करना संभव नहीं हो सका। न विचारित क्षेत्र के साथ ही न्याय हो सका है।'

पंडित शिवनारायण जैसा भाषा शास्त्री एवं संस्कृत व्याकरण का विज्ञ विद्वान यदि चाहता तब अन्य अनेक विद्वानों की तरह अपने मत पर अडिग बना रहता और कुछ तर्क देकर अपनी बात को प्रमाणित करने का हठी प्रयत्न करता। पंडित जी ने ऐसा नहीं किया। जो लोग पंडित जी को निकट से जानते हैं, वे उनके इस गुण से अवश्य वाकिफ होंगे कि, वे न ही हठी विद्वान थे और न ही पूर्वाग्रही। ऐसे विद्वान हमारे पाले में अब नहीं हैं। जावदी लोकभाषा भी वास्तव में दसौरी ही है। पंडित जी ने जो व्याकरण अपने लेख में मालवी (दसौरी) का दिया है, वह विचारणीय और महत्वपूर्ण है। दसौरी के व्याकरण पर चर्चा करने से पहले हमें इस अंचल की कुछ और बोलियों पर भी चर्चा कर लेना चाहिए। दशपुर जनपद का समूचा अरावली पठार मेवाड़ी सीमा चित्तौड़ से लगाकर गागरोन की विंध्य सीमा तक भीलों की अनेक बस्तियाँ आज भी बहुसंख्या में विद्यमान हैं। अरावली पठार पर किसी समय भील क्षत्रपों की सत्ता रही है और उनके गढ़ों के खण्डहर आज भी हमें इस अंचल में दिख जाते हैं। आर्य

सम्पर्क से पूर्व भील अपनी जिस आर्येतर बोली का उपयोग करते रहे, वह स्वरूप तो आज उपलब्ध नहीं है, किंतु उनके परिवारों में बोली जाने वाली बोली पर यदि हम ध्यान दें, तब हमें उनकी बोली में भीली का प्रभाव दिख जाएगा। इस अंचल में भीलों का आगमन मेवाड़ के अंचल से हुआ। पूरा पश्चिमी दशपुर जनपद तथा पश्चिमी दक्षिणी दशपुर जनपद भील बोली का प्रभाव क्षेत्र माना जा सकता है। प्रतापगढ़ बाँसवाड़ा तो भीलों का गहन प्रभाव क्षेत्र रहा है। आज भी है। इस समूचे अंचल में भीली की उपबोली 'महीकांठी' का प्रभाव रहा है। उधर दक्षिणी भाग में रतलाम और झाबुआ का भीली प्रभाव भी दशपुर जनपद में रहा है। भीली बोली भले ही आज इस अंचल में मालवी प्रभाव के कारण पृथक से अपना अस्तित्व खो चुकी हो, फिर भी उसने मालवी में अपना शब्द प्रभाव एवं उच्चारण प्रभाव डाला है।

भीली बोली में तालव्य व्यंजन 'च्, छ, ज्, झ्' अपने मूलोच्चार में प्रयुक्त हुए हैं, जबकि प्रतिमित भीली में इनका दंतमूलीय रूप विकसित हुआ है। यथा 'च् > स्' उदाहरण के लिए 'इस बेचारी को चींटे ने काट खाया है >' ई बापड़ी ने साटूहँ घमकाय रे।' इसी प्रकार मूर्धन्य 'ळ' का प्रयोग भी दृष्टि गोचर होता है। यथा 'अर.....हरळ हरळ दूदया राल रे, बापड़ी ने कई वे ग्यो।' जबकि प्रतिमित भीली में ग्यो के लिए 'गीज्यो,' पड़ग्यो के लिए पड़ज्यो आदि-आदि प्रयुक्त हुए हैं।

अस्तिवाचक क्रिया पद 'हे' है, जबकि प्रतिमित भीली में 'हे, से, छे,' तीनों ही रूप प्रचलित हैं। इसी प्रकार महाप्राण अघोष व्यंजन अल्पप्राण में विचलित हुआ है। यथा 'ख् > क्' व 'बापड़ी के जट-पट नाड़ी देकाओ।' इसी प्रकार महाप्राण सघोष, अल्पप्राण सघोष में व्यवर्तित हो गया है। यथा 'झ् > ज्' यथा 'झटपट > जटपट।' 'स' का प्रतिस्थापन 'ह' द्वारा हो गया। यथा 'सींग > हींग।' इसी प्रकार संबंध विभक्तियाँ विविध प्रकार से व्यहृत हुई हैं। इसे हम गुजराती अथवा प्रतिमित भीली का प्रभाव मान सकते हैं। यथा ना, नी, नो 'एक हींग नी गाय' अथवा 'दो पगाँ नो मुर्गो' और 'एक सेर ना चार पाव।' इसी प्रकार नपुंसक लिंग अ प्रयुक्त है। प्रतिमित भीली में उकारांत शब्द नपुंसक लिंग है। यथा बइरू नाडू, धोवणू। प्रतापगढ़ से लगे भावगढ़ अंचल से लगाकर मंदसौर-जावरा अंचल में हम यह व्यहृत देख सकते हैं। स > ह की प्रयुक्ति नपुंसक लिंग की विलुप्ति का ही प्रभाव है। यथा सोना > होनो > स्वर्ण ।

भीली बोली की मालवी में विलुप्ति का प्रभाव हम भली भाँति अनुमान सकते हैं। यद्यपि आज इस प्रभाव को पृथक से अनुमान पाना बहुत कठिन लगता है।

इसी प्रकार इस अंचल की कबीलाई जातियाँ बंजारा, बाँछड़ा आदि की बोलियों से भी मालवी प्रभावित हुए बिना नहीं रही। दसौरी पर इन बोलियों का प्रभाव हम भलीभाँति देखते हैं। गुर्जर समाज का आगमन भी यहाँ की बोली को प्रभावित करने से पीछे नहीं रहा। उनकी अपनी बोली मालवा के इस अंचल में भले ही गुम सी गई हो, किंतु वह 'खीर में खाँड' की तरह यहाँ की मालवी में घुलमिल गई।

रावी-चिनाब के मध्यभाग से मालवगणों का प्रथम आगमन इसी अंचल में हुआ। उनका मूल या प्रथम स्थापन 'मध्यमिका' (नगरी चित्तौड़) में हुआ, जिसके खण्डहर आज भी विद्यमान हैं। मालवगण दशपुर अंचल के इसी क्षेत्र में सत्तासीन हुए और यहीं से उनका विस्तार हुआ। वे अपने साथ रावी-चिनाब अंचल की मालवी बोली लेकर इस अंचल में आए। पंजाब में आज भी मालवा स्थित है।

रावी-चिनाब की मालवई (पंजाबी निष्ट) भाषा-बोली भले ही यहाँ आकर विलुप्त हो गई हो और उसने एक नया रूप ग्रहण कर लिया हो, किंतु पंजाबी शब्दों को प्रचुर मात्रा में हम दसौरी में आज भी ढूँढ सकते हैं। यथा कौड़ा (कड़वा), मिट्ठा (मीठा), सोहणा (मालवी सोहणा-सुंदर), उरला (इस तरफ मालवी - उरला), परला (दूसरे पार, मालवी परला) ऐसे सैकड़ों शब्द हैं, जो मालवी और पंजाबी में समान रूप और ध्वनि में एक जैसे हैं। यही कारण है कि कोई भी पंजाबी भाषी मालवी भाषा को सरलता से समझ व बोल सकता है। क्रिया पदों में अद्भुत समानता है। जिस प्रकार मालवगण इस अंचल की संस्कृति में घुलमिल गए, उसी प्रकार उनकी भाषा-बोली और संस्कृति भी इस अंचल में एकमेव हो गई। कहने को हम सोंधवाड़ी और हाड़ौती को पृथक मानकर उनका मालवी पर प्रभाव आरोपित करते हैं, किंतु दोनों भाषा-बोलियों में किंचित ध्वनि विपर्यय के अतिरिक्त मालवी से इन्हें भिन्न नहीं बताया जा सकता है। होने को तो एक ही भाषा-बोली के उच्चारण, शब्द एवं क्रियापद बारह कोस पर ही बदलने की बात लोक स्वयं स्वीकार करता है।

यदि हम 'दसौरी' के व्याकरण पर बात करें, तब हम

देखेंगे कि प्रतिमिति मालवी अथवा जिसे हम आधारभूत या केन्द्रीय मालवी मानते हैं उसमें और दसौरी मालवी में भी उतना ही अंतर है, जितना बारह कोस का अंतर होता है। दशपुर जनपद से उज्जैन-इंदौर क्षेत्र के कोस गिन लें, तब हमें दसौरी और वहाँ की मालवी का अंतर वाजिब लगेगा। क्या हम आधारभूत मालवी पर से गुजराती, सोंधवाड़ी, भीली, निमाड़ी और मराठी के प्रभाव को नकार सकेंगे। प्रत्येक भाषा-बोली पर सीमावर्ती बोलियों एवं संस्कृतियों का तथा सभ्यताओं का स्वाभाविक प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता है। इसके बावजूद भी हमें केन्द्रीय मालवी को ही आधार मानकर उसकी उपबोलियों पर विचार विमर्श करना पड़ेगा। सभी उपबोलियाँ कमलदलों की भाँति एक ही नाल से जुड़ी हैं। सब पंखुड़ियों के समन्वय से ही पूर्णकमल की छवि स्पष्ट हो सकती है। दसौरी मालवी, मालवा के उत्तरी-पश्चिमी भाग की सक्षम भाषा है। इसके व्याकरण को हमें इसकी सीमावर्ती भाषा-बोलियों के वैयाकरणिक आधार से भी देखना होगा।

जैसा कि कहा जा चुका है कि समग्र मालवी पर ही सोंधवाड़ी बोली का प्रभाव हमें दिखाई पड़ जाता है। सोंधवाड़ी बोली का प्रभाव हम छोटी व बड़ी कालीसिंध के मध्य वाले भाग में स्पष्ट रूप से देखते हैं। झालावाड़-गरोठ से लगाकर शाजापुर जिले की सीमा तक, पार्वती नदी के तट तक सोंधवाड़ी बोली के बोलने वाली सोंध्या जाति विस्तारित है। सोंधवाड़ी को हम दसौरी का ही एक स्वरूप मानते हैं। इसके सार्वनामिक स्वरूप यथा- हूँ, हम, तम, तमारा, थें, थारा और तू, थूँ आदि कारक चिन्ह तथा स्वार्थिक प्रत्यय 'ड' का प्रयोग इसको विशेषण और क्रियारूपों सहित 'दसौरी' बोली से समानता करते हुए ही दृष्टिगोचर होते हैं। मालवी लोक भाषा की उपबोली दसौरी और सोंधवाड़ी में ध्वनि साम्य को छोड़कर शेष समस्त वैयाकरणिक स्थिति लगभग समान है। इसलिए इसे मालवी का ही एक स्वरूप तथा दसौरी की गोत्रज भाषा ही मानना उचित है।

रांगड़ी और रजवाड़ी से दसौरी की सम्बोधन संघर्ष यात्रा में सबसे महत्वपूर्ण पड़ाव उज्जैन के कावेरी शोध संस्थान में होने वाली शोध संगोष्ठियाँ रहीं। मुझे इन संगोष्ठियों में अपनी बात रखने का पूरा-पूरा अवसर मिला। बार-बार प्रयत्न करने के पश्चात् विद्वानों को मैंने इस बात के लिए सहमत कर लिया कि दशपुर जनपद की मालवी मूल या आदर्श मालवी की ही उपबोली है, और उसे रांगड़ी या रजवाड़ी के स्थान पर 'दसौरी मालवी' के

नाम से जाना जाय। सभी विद्वानों ने अब 'दसौरी' का ही उपयोग करना स्वीकार कर लिया है। इसमें डॉ. शैलेन्द्र कुमार शर्मा, अध्यक्ष, हिन्दी अध्ययन शाला वि. वि. का सहयोग विशेष रूप से मिला। आज लगभग दस शोधार्थी दशपुर जनपद की ही लोक संस्कृति के विभिन्न पहलुओं पर शोधरत हैं। सभी की रूपरेखा में 'दसौरी' सम्बोधन ही स्वीकारा गया है। अन्य कई शोधार्थी भी जो मालवी लोक साहित्य एवं संस्कृति की विभिन्न विधाओं पर शोधरत हैं। उनकी रूपरेखा में भी दशपुर जनपद की लोकभाषा को दसौरी ही कहा गया है। मैं लोक भाषा के इस नये एवं सम्मानजनक सम्बोधन से स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता हूँ। लगभग अर्द्धशती से प्रारंभ मेरा यह प्रयास सफल हुआ है।

डॉ. ग्रियर्सन ने सबसे पहले रांगड़ी कहा और पश्चात् के विद्वानों ने इस विदेशी विद्वान की परंपरा का निर्वाह मात्र ही किया। इसका मूल कारण दशपुर जनपद की लोक संस्कृति के किसी प्रवक्ता का अभाव ही रहा। डॉ. श्याम परमार, डॉ. चिंतामणि उपाध्याय, डॉ. प्र. च. जोशी, पंडित सूर्यनारायण व्यास आदि सभी विद्वान केन्द्रीय मालवी के ही विद्वान रहे। आश्चर्य यह रहा कि हाड़ौती अंचल की लोकभाषा को 'हाड़ौती', निमाड़ी अंचल की लोकभाषा को 'निमाड़ी', सोंधवाड़ अंचल की लोकभाषा को 'सोंधवाड़ी', उमठवाड़ अंचल की लोकभाषा को 'उमठवाड़ी' संबोधन प्रदान किया गया, जबकि दशपुर अंचल की लोकभाषा को रांगड़ी या रजवाड़ी पुकारा जाता रहा।

दसौरी लोकभाषा की मूल प्रवृत्तियाँ प्रायः केन्द्रीय मालवी के समान ही हैं। थोड़ा बहुत अंतर हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं। दसौरी मालवी में ओ या ऐ स्वरध्वनि को 'ए' स्वर ध्वनि में बदलने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप से पाई जाती है।

इसी प्रकार 'ह' महाप्राणलुप्त हो जाता है। यथा शहर > शेर, नहर > नेर, कहानी > केणी, पहले > पेलौं। 'स' का लोप, पास > पाँ, फाँस > फाँ 'स' ध्वनि का 'ह' महाप्राण में परिवर्तन यथा सरको > हरको, सरीको > हरीखो, इसी प्रकार 'ल' ध्वनि को 'त' ध्वनि में परिवर्तन यथा हाली > हारी काली > कारी, 'त' ध्वनि का 'थ' ध्वनि में परिवर्तन यथा तू > थूँ, थारा > थने, इसी प्रकार 'य' ध्वनि का 'ज' ध्वनि में परिवर्तन यथा यात्रा > जातरा, यम > जम, युग > जुग, युक्ति > जुगत। केन्द्रीय मालवी तम > थें, इसी प्रकार कर्मकारक 'को' का चिन्ह दसौरी में भी कर्ता कारक की

तरह 'ने' चिन्ह से व्यक्त होता है, तब उसे 'एँ' ध्वनि से स्पष्ट किया जाता है। यथा राम ने रावण को मारा > राम ने रावणएँ मार्यो। ऐसे कुछ अंतर केन्द्रीय मालवी और दसौरी मालवी में हम देख सकते हैं। अधिक स्पष्ट करने के लिए हम मालवी और उसकी उपबोलियों की तुलना करके निम्नानुसार देख सकते हैं। तब स्थिति और भी स्पष्ट हो पाएगी। मालवी और उसकी उपबोलियों के प्रतीकात्मक उदाहरण निम्न है -

मानक मालवी का उदाहरण -

धक-धक धुंवाड़ो ने भक्-भक् भाप उड़ाती  
वा रेल थी- कोई खे हंसाती ने कोई खे रोवाती।  
सीटी सुणी ने चमक्यो घोड़ो, लगाम टूटी ने छूटी,  
घोड़ी भी भड़की नी घर आड़ी भागी।  
साँची मजाक नी हे, जई पड़्या जोर की लागी।  
लोगना नी हाँसे, इना डर से रामाजी नी रोया,  
पण बापड़ी रंभाज रोती री।  
रामाजी रईग्या ने रेल जाती री।

- आनंद राव दुबे

गद्यरूप - धनपत दादा का जमाना सेज हूँ, इनी बात पर विचार करीरियो हूँ। अब जईने म्हारी थोड़ी भोत बात जंची हे। नोकरी का वास्ते अरजी लईने अँइ-वँई धक्का खाता हुआ छोरा होन के देखो, नी तो बसंती, चमेली, गीता, कमला का प्रेम में पड़ी ने धक्का खाता हुआ प्रेमवीर नाना होन के देखो। बात माननीज पड़ेगी। धक्का में बड़ी ताकत हे। भूकंप ने बिजली का धक्का की बात छोड़ बी दो तो बी इना छोटा-छोटा धक्का में बी कोई कम ताकत नी हे।

- श्री निवास जोशी

दसौरी मालवी का उदाहरण-

कमर कंदोरो आगे आवे, घड़ी-घड़ी वा हरकावे,  
चोली अणबोली बोली में, नी केणो उई केइ जावे।  
उड़े ओढ़नी लिपटे लेहंगो, पग यें-वें पड़ता जावे।  
बिछिया के लोर पगां की मेहंदी, नवा-नवा रसिया गावे।  
नवी पन्हैया काटे रे कन्हैया, नवा-नवा छाला वारी।  
नवी नगरी में नवी गगरी ले, पनघट जइरी ओ पनहारि।

- बालकवि बैरागी

चौमासा

गद्यरूप - माँ मूँ थारी लीला को वखाण करूँ। थारो जस गाऊँ। थूँ म्हारी वाणी में विराजजे, म्हारी कलम में वराजजे। म्हारा हिरदा अन म्हारी बुद्धि में थारी मेहर को मुकाम राखजे। मा! मूँ थारी लीली को केंणत्यों हूँ। जसी सुणी वसी वताडूंगा। जसी जाणी वसी वताणूंगा। जसी जाणी वसी वखाणूंगा। जसी देखी वसी चितराऊंगा। माँ मूँ थारी साँची-साँची गम्मत गाऊंगा। खम्मा म्हारी माँ! खम्मा!! म्हारा हगराइ दोस खमा करजे। म्हारा वखाण की लाज राखजे। म्हारा सबदां में सुगन राखजे। म्हारो वखाण ढबणो नी छावे। थाकणो (थागणों) नी छावे। थूँज म्हारी सरसती। थूँज म्हारी लच्छमी। थूँज म्हारी पारबताँ माई। थूँ थारा अणी चाकर हगरी तरां ती मेहर राखजे। खम्मा म्हारी जगराणी! खम्मा!! घणी-घणी खम्मा!!

- भादवा की राणी से

सोंधवाड़ी का उदाहरण -

चार रियासत की फौजां पड़ी, लड़्या उगाड़ी छाती।  
अणी मालवा की जमीन के कारण केई सीस कटाया।  
सोना का तो छोगा मेल्या, खूब बजई तलवार।  
ठिकाना कलस्या के खेड़े, शूरा व्या अभयसिंह का जाया।  
धन-धन हो अमरसिंह की माता, थणे अमरसिंह सा जाया।

गद्यरूप- एक दन गोपाल ती माटसाब ने बूजो-माटसाब, हाँटाती शक्कर कसतराँ बणे हे। माटसाब ने कीदो - हाँ आज मूँ थाँसे हाँटाती शक्कर वणावणी बताऊँगो। हुणों हाँटा की फसल को दूसरो नाम वाड़ की फसल हे ओर बाढ़ की बी के हे। पेलां पेल करसाण असाड़ मईना में वणी खेत ने दो बख्त बक्खर ती हाँकी लहाके। फेर वणी में असी फसल बावे जो काती मईने काट ली जावे।

उमठवाड़ी का उदाहरण-

राजगढ़ जिला उमठवाड़ी मालवी का प्रभाव क्षेत्र माना जाता है। इसके अंतर्गत जीरापुर, माचलपुर, खिलचीपुर, रामगढ़, ब्यावरा, पचोर, सारंगपुर और नरसिंहगढ़ परगने आते हैं। इसकी सीमा स्पष्ट करने के लिए यह दोहा लोक प्रसिद्ध है-

पच्छमकाली सिंध है, पूरब नेवज धार।  
पार नदी बहती जहाँ, नरसिंहगढ़ दरबार।।



उमठवाड़ी मालवी में 'श' ध्वनि व्यहृत होती है, जबकि मालवी की अन्य उपबोलियों में 'श' ध्वनि 'स' में परिवर्तित हो जाती है। 'ड' ध्वनि का बहुधालोप हो जाता है। इसी प्रकार 'ड़' स्वार्थ प्रत्यय के स्थान पर 'ण' महाप्राण ध्वनि उच्चरित होती है। संज्ञा के अंत में 'ण' प्रत्यय जोड़ने से बहुवचनीय रूप बन जाते हैं। यथा- बेटा > बेटाण, छोरा > छोराण। 'इ' स्वर ध्वनि कभी-कभी 'अकार' में बदल जाती है। यथा-बिगाड़ > बगाड़, ठिकाणो > ठकाणो।

उमठवाड़ी की यह प्रवृत्ति दसौरी मालवी में भी पायी जाती है-

सुखी अमर बदाओ म्हारे आवे।  
सुखे बहु कड़िया कागज मोखलिया।  
घरे जाओ भोली बयसा का वीर,  
सुखी अमर बदाओ म्हारे आवे।  
अब माँ कसे आवौँ एकला,  
म्हाँके लारे राणाजी की फौजाँ,  
सुखी बदावो म्हारे आवे।

तथा

चार खुण्या चार बावड़ी रे चारि पिराले पाट।  
बटउड़ा ने मन मोयो।  
ओच छोरा हल हाँकला, थारा काँई लागे,  
भेस्याँ दुवन्ता थारे काँई लागे,  
घुड़ला फिरन्ता थाए कई लागे  
बटउड़ा ने मन मोयो।

गद्य रूप- कँवर भवानीसिंघ जी को तरवार को हात छोड़बो होयो। भेंसा का ढोल सरीका पुठा अलग-अलग हो गया। आदो अनांग ओर आदो उनांग हो गयो ओर आप लगाम पकड़ के उबा हो गया। हम खेर-बोर में दुण्ढता होया उनांग गया ओर हेला पाड्या जद कुँवर साब ने जुवाब दियो के मूं ऊबो हूँ।

भीली लोक मालवी का उदाहरण-

नेणा में काजलियो छोरी, लालड़ी में टोको रे SSS  
भाएलो परदेस बैठो, लिख दो चिट्ठी रे वेगो आवे रे SSS  
हाँ रे वेगो आवे रे, फागण रो मीनो एलो जाए रे SSS  
मीनो फागण रो।

तथा

में ता करमल खावा गई थी रे ढोला करमलड़ा SSS  
में तो करमल काटो बाऽगो रे ढोला करमलड़ा SSS

तथा

मांदल्या मांदलि वजाड़ रे, घड़िक नाचि भाला रे।  
तारा हात मा चालो रे, हामरा पाय मा चालो रे।  
तल्यातलि रे वजाड़ रे, घड़िक नाचि भाला रे।  
तारा हात मा चालो रे, हामरा पाय मा चालो रे।  
कूँड्या कूँडि रे वजाड़ रे घड़िक नाचि भाला रे।  
तारा हात मा चाला रे, हामरा पाय मा चालो रे।

गद्यरूप - एक आदमी हतला। एक आँधलो, एक बेहरो एक लंगड़ो ने एक उघाड़यो। एक दाहड़े पला चारू मेला हया ने आँधलो बुल्यो, भालो मांडवगढ़ पर कीड़ी काजे ऊट धावणें बाज रहयो छे; ति बेहरो, जेरा काजे ठाँय निहिं साम्हलाए च्यो दुई काने हात दिन बुल्यो हव चप-चप वाजे च्यो मेखे पुण सम्हालाए छे।

मालवी और उसकी उपबोलियों के इन उदाहरणों से हम भलीभाँति समझ सकते हैं कि इनमें परस्पर बहुत ही झीना अंतर है। यदि हम निमाड़ी लोकभाषा को भी पढ़ें, तब उसे भी मालवी से भिन्न नहीं कहा जा सकता। यह बात और है कि निमाड़ी स्वयं को पिछले एक दशक से मालवी की उपबोली कहलाने में संकोच करती चली आ रही है। निमाड़ी के मर्मज्ञ विद्वान पं. रामनारायण उपाध्याय ने तो कहा है- 'निमाड़ी और मालवी में जितना साम्य है, उतना किसी भाषा में नहीं है। जिस तरह इन दोनों भू-भागों की सीमाएँ एक दूसरे के गले लिपटी हैं। उसी तरह यहाँ की भाषाएँ भी एक दूसरे से कुछ इस तरह मिलती हैं, मानो दो बहनें परस्पर गले मिल रही हो'।

निमाड़ी का उदाहरण-

माथा ऊपर सिरपागा सो सदा हिमालय प्यारो।  
गीत भावतो पाँय पखारऽ, निच्च सागर रतनारो।  
गंगा-जमना रेवा-कृष्णा, बाल-बाल मं गुथाणी।  
पंछी सी बोली भात-भात की गीत न मँ सुवाणी।  
जो छेड़ऽ मिट्टी तान, जै-जै हिंदुस्तान।

- बलराम पगारे

गद्यरूप - तनखा का दिन बैंक में घणी भीड़ थी। पैसा को लेण देण चली रह्यो थी। एक कर्मचारी खऽ अपना पाँय न का पास में बीस को नोट पड़ेलो देख्यो। उनऽ नोट उठायो न बोल्यो काइ केको पड़ी गयोज। एखऽ हऊँ काउन्टर पे जमा करी देऊँ।

- डॉ. मधुसूदन व्यास

जब हम मालवी के समग्र स्वरूप पर चर्चा करेंगे, तब हमें अपना क्षेत्र विस्तार पश्चिम में राजस्थान का मेवाड़ी भाग, दक्षिण में महाराष्ट्र का मराठी प्रभावित क्षेत्र, पूर्वी-उत्तरी भाग में गुना, ग्वालियर का बुंदेली क्षेत्र, इसी भाग में झालावाड़ का हाड़ौती क्षेत्र, शिवपुरी की कोलारस, पिछौरी तहसीलें हैं। इस प्रकार यह मेवाड़ी, हाड़ौती, भीली, ब्रज और निमाड़ी बोलियों से प्रभावित अति विस्तृत भू-भाग है। गुजराती और मराठी का प्रभाव मालवी पर सांस्कृतिक एवं राजनैतिक सम्पर्क एवं पारिवारिक सम्बंधों के कारण है। देवास, धार, इंदौर, उज्जैन, रतलाम, मंदसौर, नीमच, राजगढ़, नरसिंहगढ़, शाजापुर और मालवी प्रभावित झाबुआ को हम मालवी भाषा-बोली का प्रभाव क्षेत्र मानेंगे। वैसे मालवी के प्रभाव की सीमा इससे भी आगे है। जहाँ-जहाँ भी मालवी की शब्दावली और क्रियापदों, लय, लहजा अथवा सर्वनाम, कारक का साम्यता उपलब्ध है, वहाँ तक हमें मालवी का प्रभाव क्षेत्र भी मानना होगा।

जहाँ तक निमाड़ी का प्रश्न है, वह मालवी की उपबोली होकर भी स्वयं को पृथक मानती है। यदि ऐसा होता है तो किसी को इसमें बाधा नहीं होना चाहिए। भले ही निमाड़ी स्वयं को मालवी से पृथक माने, फिर भी मालवी को उसे स्वयं से पृथक नहीं बताना चाहिए। नर्मदा मैया जैसी निमाड़ी की माता वैसे मालवी की माता। किसी को भी इस विवाद में नहीं पड़ना चाहिए।

इसी प्रकार हाड़ौती से लेकर छोटी-बड़ी कालीसिंध की राजगढ़ तक की पट्टी पर सौंधवाड़ी के प्रभाव को हमें ध्यान में रखना होगा। इस प्रकार मालवी के अमृतकलश में सप्तसागरों, सप्ततीर्थों, पंचदेवों, महाशक्तियों, चौबीस अवतारों, समस्त ग्रहों-नक्षत्रों सहित समस्त जगद नियंताओं की अमृत वाणी सन्निहित है। मालवी समग्र मालवा की लाड़ली एवं रसवंती भाषा है। इसमें अनेक लोक भाषाएँ सम्मिलित हैं। इसकी गाँठे तक रसपूरित हैं। उत्तरभारत और दक्षिण भारत की लगभग सभी बोलियों-भाषाओं का पावन संगम है मालवी। दक्षिण भारत की बरगुंडा जाति ने

इसमें तमिल और कन्नड़ शब्दों का समन्वय कर इसे द्राविड़ी सम्पुट देकर सम्पन्न कर दिया है। अनेक यायावर एवं अपराध पेशा जातियों की संकेतिक शब्दावली भी मालवी को श्रृंगारित करती है। मालवी की उपमा मालवी ही है। इसीलिए मैं इसे देवभाषा कहता हूँ।

मालवा और मालवी को कालिदास, वत्सभट्टी, पाणिनी, राजशेखर, श्यामल, वराहमिहिर, कक्क, रविल और वासुल जैसे विद्वानों मनीषियों के वाङ्मय की भावभूमि ने इसे संस्कारित किया है। इनमें से राजशेखर, वत्स, कक्क, रविल, वासुल और कालिदास (जहाँ तक प्रमाण नहीं मिल जाता, कालिदास पर दशपुर अपना आत्मीय अधिकार रख सकता है) तो दशपुर के ही थे। वे यहाँ दीर्घकाल तक रहे और अपनी साहित्य साधना की। इसके साहित्य एवं व्याकरण को अनेक अध्येताओं ने अपने-अपने स्तर पर संवारने का सारस्वत प्रयत्न किया है।

मालवी के लोक साहित्य में अंतर्निहित सांस्कृतिक संदर्भों को खोज पाना कठिन नहीं है। वह तो मणिकांचन की तरह स्वमेव ज्योतिषित है। मालवी की मिठास बहुत रसीली है, इसे कई साहित्यकारों ने अपनी ऊर्जा और ओजस्विता से सींचकर और अधिक रसीला बना दिया है।

दसौरी मालवी में भले ही 'ण' का 'ड' कार 'ड' कार अथवा 'ट' कार और 'ठ' कार का बाहुल्य हो। कुछ विद्वान इसे 'दसौरी' की कठोर ध्वनि कहकर इन्हें गाँठों का दर्जा देते हैं। भले ही 'जहाँ गाँठ तहाँ रस नहीं' की उक्ति लोक व्याप्त हो, किन्तु मालवी के साँटे (गन्ने) में तो जहाँ गाँठे हैं, वहाँ रस का भंडारन है। दसौरी की मिठास सर्वविदित है। इसकी लय ध्वनि और शब्दावली 'औरन को सीतल करे आपहुँ सीतल होय' की तरह कानों में भँवर गुँजार करती हुई कान्हा की बंशी की तरह हृदय में गूँजती रहती है। भीतर एक रास रचा देती है। मिसरी सी घोल देती। इसकी मिठास बहुत काल तक बाहर-भीतर बनी रहती है।

आज भी दशपुर जनपद के मालवांचल में वाचिक लोक साहित्य विपुल मात्रा में उपलब्ध है। इस सदा से उपेक्षित अंचल का एक भी प्रबल प्रवक्ता हमारे पास नहीं है, जो 'दसौरी' लोक भाषा, संस्कृति और साहित्य को केन्द्रीय मालवी के दरबार में सम्मानजनक रूप से पेश कर सके। पीढ़ियों को सतत् एवं अथक रूप से दशपुर जनपद में उपलब्ध विपुल लोक साहित्य का संकलन एवं सम्पादन करने में सतर्क एवं सजग होकर प्रयत्नशील

रहना होगा। लोक साहित्य को लिपिबद्ध करने या उपलब्ध करने में सबसे बड़ी बाधा स्वयं लोक गायक ही हैं। वे इसे अपनी बपैती तथा भरणपोषण का जरिया मानकर लिपिबद्ध करवाने में असहयोग करते हैं। पारिवारिक स्तर पर लोकगीतों कथाओं, लोकोक्तियों, लोकगाथाओं, दंतकथाओं, पहेलियों, विभिन्न संस्कारों के रीति-नीति आदि सरोकारों का संकलन कर पाना तो और भी कठिन है। परिवार में विशेषकर महिलाओं से सम्पर्क तक करना संभव नहीं होता है। अनेक पारिवारिक मर्यादाएँ एवं वर्जनाएँ इसमें बाधक होती हैं। ऐसी स्थिति में भी यदि कुछ काम हो पाता है, तो उसे न तो सराहना मिल पाती है और न सम्बल। इसी प्रकार सामंती ठिकानों के कारागार में भी विपुल लोक साहित्य कैद है। जिसे निकाल पाना अत्यंत दुष्कर है।

लोक साहित्य के संकलन की इस कठिननाई को हल करने का सबसे सहज मार्ग है- विश्वविद्यालय स्तर पर शोधार्थियों को प्रोत्साहित कर लोक से जुड़ने के लिए प्रेरित करना। विशेष कर शोध छात्राओं को प्रोत्साहित करना। प्रसन्नता की बात है कि, इस आशय को कुछ शोध विद्वानों ने समझा है और इस दिशा में उत्साहजनक एवं आशाजनक उपलब्धियों की स्थिति बनने लगी है।

मालवी से अन्य भाषाओं में तथा अन्य भाषाओं से मालवी में अनुवाद की प्रक्रिया भी प्रारंभ की जाना चाहिए व ऐसे प्रयासों को उत्साहित किया जाना चाहिए है। मालवी का गद्यलेखन आज भी प्रारंभिक स्तर पर ही अटका हुआ है। इसमें प्रगति हो सके, ऐसे प्रयत्न किए जाने चाहिए। दसौरी के लोकनाट्य माच और भुवाई का उल्लेख करना आवश्यक है। आज भी बस्तों में आवेष्टित अनेक खेल और ख्याल अपने मूल्यांकन की प्रतीक्षा कर रहे हैं। केवल दशपुर जनपद में ही, नहीं पूरे मालवांचल में माच की परम्परा लोक व्याप्त रही है। आज भी दशपुर जनपद में तथा उज्जैन अंचल में यह लोक नाट्य जीवित व जीवंत है। दसौरी मालवी में उपलब्ध लोकनाट्य माच के साहित्य पर पृथक से शोध किया जाना अभीष्ट है।

इसी प्रकार भुवाई के लोककलाकारों के बस्तों में तथा वाचिक रूप से उपलब्ध लोक साहित्य का भी अनुशीलन किया जाना चाहिए। माच एवं भुवाई लोक साहित्य में उपलब्ध लोक सरोकारों पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना है।

मालवा की लोककलाओं को पुनर्जीवित करने के प्रयास

शिथिल नहीं हो, ऐसा प्रयास हमें करना चाहिए। दशपुर जनपद की पारंपरिक लोक चित्रावण, रंगाई, छपाई, मूर्तिशिल्प, मांडने-वस्त्र शिल्प, मृदा शिल्प, बाँस एवं खजूर के पत्तों से विभिन्न वस्तुएँ बनाने का शिल्प आदि समुचित प्रोत्साहन के बिना विलुप्त होता जा रहा है। इसे प्रदेश स्तर पर ही नहीं, बल्कि राष्ट्र स्तर पर ख्याति मिल सके। आर्थिक बाजार मिल सके, इसका दायित्व अन्ततः सरकार का ही होता है। दशपुर जनपद में इन सब शिल्प कलाओं की प्रबल सम्भावनाएँ हैं।

पर्यटन की दिशा में अनेक बार हमने सोचा-विचार और कागजों से बाहर अपनी योजना आज तक नहीं आ सकी। संस्कृति के सहचर मेलों की तरह ये पर्यटन स्थल भी जनपद के सेतुबंध हो सकते हैं। हमें प्रदेश स्तर पर अपना प्रयास करते हुए दशपुर जनपद में संभावित धार्मिक एवं ऐतिहासिक, पुरातात्विक एवं सांस्कृतिक पर्यटन स्थलों को चिन्हित कर उनके संरक्षण, संवर्द्धन एवं उन्नयन की मुहिम चलाकर उनपर आधारित लोक कथाओं, गीतों, गाथाओं और दंत कथाओं का संग्रह कर उसमें से सांस्कृतिक, ऐतिहासिक एवं पुराकालिक उपलब्धियों को तलाशना चाहिए। नदियों को जोड़ने की बात हम बार-बार दोहराते हैं, किन्तु जनपदीय नदियों से जो भौगोलिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं लौकिक-पारलौकिक संदेश हमें मिल रहा है, उसे जोड़कर एक विपुल लोक साहित्य का संकलन व सृजन कर लेने का प्रयास हमने कभी नहीं किया।

पिछले दिनों रूपा नदी पर मुझे एक लोक कथा उपलब्ध हुई, जो लोक प्रचलित सेंड्रेला से मिलती-जुलती है। क्या आश्चर्य कि 'रूपा' लोक कथा का ही परिवर्तित रूप यह सेंड्रेल लोक कथा हो। रूपा लोक कथा विस्मृतियों के अंधकार में खो गई और सेन्ड्रेला स्मृतियों के पंखों पर सवार होकर लोक ख्याति पा गई।

मालवी के लोक साहित्य, संस्कृति, भाषा और लोक की विभिन्न ललित एवं व्यवहार लोक कलाओं की विकास धारा का यशोगान कुछ पृष्ठों में कर पाना बहुत कठिन कार्य है। इसकी लोक परम्परा बहुत ही विस्तृत और समृद्ध है। मालवा की इस इन्द्रधनुषी आमी-सामी और सहजी-सहजी लोक संस्कृति का दूसरा न तो कोई उपमान है और न पर्याय। इसने भारतीय लोक संस्कृति के सृजन एवं संरक्षण तथा विस्तार में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारत की सामासिक लोक संस्कृति के दर्शन

हमें मालवा की लोक संस्कृति में कर सकते हैं। यह अद्भुत और अनुपम है।

यहाँ की नदियाँ, घटियाँ, पर्वत, मैदान, महल, झोपड़ियाँ सब अद्भुत हैं। यहाँ की चित्रावण, मंडावण, मंगलमयी एवं कल्याणमयी है। यहाँ का वास्तुशिल्प और मूर्तिशिल्प एवं चित्रकला विश्ववन्द्य है। यहाँ की गुहाचित्र सम्पदा अद्भुत है। क्षिप्रा, शिवना चम्बल, कालीसिंध, माही, नेवज, रेतम, अंसर गम्भीरी, गुजाली, रूपा, नर्मदा आदि नदियों से सिंचित मालवा की यह गरिमामय सांस्कृतिक वसुंधरा समग्र भारत की कीर्तिपताका है। यह सतियों और सतवतियों की धरती है। वीरों और धीरों की धरती है। यह लोक देवी और देवताओं, वीरांगनाओं और विदूषियों की धरती है। यह विद्वानों और विचारकों की धरती है। यह चरणों और भाटों की धरती है। यह अमीरों, फकीरों, दानवीरों, संतों, महंतों और पीरों की धरती है। यह रागियों और बैरागियों की धरती है। यह कवियों, कलाकारों और शिल्पकारों तथा साहित्यकारों की धरती है। यह भांडों, विदूषकों, बेहरूपियों, भुवाइयों तथा माचकारों की धरती है। यह माता अहिल्या, रानी पिंगला, रानी रूपमती (मांडव), रानी पद्मनी (सिंगोली-चित्तौड़), कृष्ण भक्त चन्द्रसखी, नवनिधिकुंवर और श्रृंगार लोक कवयित्री सुंदर की धरती है। यह

संदीपनी, भर्तृहरी और कार्या (कालिदास), वत्सभट्टी जैसे कवियों, रचनाकारों की धरती है। यह सूफियों और संत कबीरों की धरती है।

यह राजा विक्रम, यशोधर्मन, भोज, मुंजदेव और रामाभील तथा टण्ट्याभील की धरती है। यह देवनारायण, जूणकुंवर और माता सादू की धरती है। यह पशुपतिनाथ, महाकाल, सुखानंद, शंखोद्धार केदारेश्वर, भादवा माता और दूधाखेड़ी माता की धरती है। यह हरसिद्धि, अन्नपूर्णा, कालिका, संतोषी माता और नागमता मनसा और नागणेची की धरती है।

यहाँ के फाग, राग, भुवाई, माच, रंगाई, छपाई, बुनाई सातसमुद्र पार तक ख्याति प्राप्त हैं। यहाँ की संज्ञा और गणगौर तथा तीजें पूरे भारत में वंदनीय पर्व-त्योहार हैं। यहाँ हरी-भरी, बनी-ठनी, सदासम्पन्न 'पग-पग रोटी डग-डग नीर' वाली वात्सल्यमयी और ममतामयी धरती है। यहाँ की दाल बाटी, मक्का-छाछ की घाट, यहाँ की ढोकरा-दाल और तिल पापड़ी खाने स्वयं देवता अतिथि बनकर आते हैं। दशपुर के सूर्यमंदिर में स्वयं सूर्य देवता विराजित होते हैं। दशपुर जनपद की दसौरी मालवी के बन्ना-बन्नी और लोरियाँ सदा सत्कारती और दुलारती हैं। इस ममतामयी और रसवंती माता का वंदन-अभिनंदन।

#### संदर्भ

मालवी लोकगीत : एक विवेचनात्मक अध्ययन / डॉ. चिन्तामणि उपाध्याय

मालवी एक भाषा शास्त्रीय अध्ययन / डॉ. चिन्तामणि उपाध्याय

मालवी और उसका साहित्य / डॉ. श्याम परमार

भारतीय लोक कथाएँ / डॉ. बसंती लाल बम्म

मालवी की उत्पत्ति और उसका विकास / डॉ. बंशीधर शर्मा

मालवी लोककथाएँ / डॉ. प्र.च. जोशी

मालवी और उसकी उपबोलियों का व्याकरण / डॉ. प्र.च. जोशी

मालवी लोकगीत / श्री टीकमचंद्र भावसार / डॉ. भगवतीलाल राजपुरोहित

मध्यप्रदेश का लोकनाट्य माच / डॉ. शिवकुमार 'मधुर'

मालवा में युगांतर / डॉ. रघुवीर सिंह सीतामऊ

मालवी की लोककथाएँ / डॉ. पूरन सहगल

डूंगजी जवारजी / डॉ. पूरन सहगल

मालवा की लोक कवयित्री चंद्रसखी / डॉ. पूरन सहगल

मालवा की लोक कवयित्री सुंदर / डॉ. पूरन सहगल

दंभ का विष / डॉ. पूरन सहगल

एक थी भवानी / डॉ. पूरन सहगल

चारण की बेटी / डॉ. पूरन सहगल

ऊदल दातार: देवनारायण / डॉ. पूरन सहगल

विरद वखाण और गाथा साहित्य / डॉ. पूरन सहगल

मालवी के संतों की वाणी / डॉ. पूरन सहगल

मालवी की उपबोलियाँ और उनका सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य / सं. डॉ. श्याम सुंदर निगम

मालवा का लोकनाट्य माच और अन्य विधाएँ / सं. डॉ. शैलेन्द्र कुमार शर्मा

मालवी भाषा और साहित्य / डॉ. हरिमोहन बुधौलिया

मेरे शोधन की दिशा / भील लोक / भगवान दास पटेल

संदर्भ विद्वान - डॉ. भगवती लाल राजपुरोहित, डॉ. शैलेन्द्र कुमार शर्मा, डॉ. जगदीश शर्मा, डॉ. श्याम सुंदर निगम, श्री बालकवि बैरागी, डॉ. शिव चौरसिया, डॉ. बंशीधर शर्मा।

## सुन्दरसी की महाकाल सवारी

मायापति मिश्र

*गंगा के ईरे और जमुना के तीरे, महादेव की उतरी बरात।*

अवधी का यह गीत भादों मास के दूसरे सोमवार को तब जीवंत हो उठा, जब सुन्दरसी के महाकाल भोलेनाथ भगवान अपने महाकाल मंदिर के गर्भगृह से निकलकर गाजे-बाजे के साथ नगर भ्रमण करते हुए कालीसिंध नदी के पावन तट पर उतर पड़े। अवन्तिका के राजा विक्रमादित्य ने अपनी बहन सुन्दराबाई की इच्छानुसार उसकी ससुराल सुंदरगढ़ वर्तमान सुन्दरसी जिला शाजापुर में भव्य मंदिर बनाकर भगवान महाकाल की प्राण प्रतिष्ठा की थी। वैसे तो अवन्तिका ही महाकाल का मूल निवास है, परन्तु भक्त की इच्छा एवं मान रखने के लिए अपनी पूर्व भक्तिन सुंदराबाई के आहवान पर पधारकर सुन्दरसी को एक दूसरी अवन्तिका बना दिया। महाकाल अवन्तिका के राजा है, अतः अपनी प्रजा का हाल-चाल जानने एवं दर्शन देने के लिए वे श्रावण मास के प्रथम सोमवार से भादों मास के दूसरे सोमवार तक प्रत्येक सोमवार को नगर भ्रमण पर निकलते हैं। ऐसे में भला वे सुंदरसी (दूसरी अवन्तिका) को कैसे छोड़ सकते हैं। धन्य है उनका भक्त प्रेम तभी तो कहा गया है-

*अवन्तिकायां विहितावतारं मुक्ति प्रदानाय च सज्जनानाम्।*

*अकालमृत्यो परिरक्षणार्थं वन्दे महाकालमहा सुरेशम्॥*

- श्री द्वादश ज्योतिर्लिंग स्त्रोत

भाई विक्रमादित्य एवं बहन सुन्दराबाई की प्रजा का हाल जानने के पश्चात् भगवान महाकाल दोनों नगरों में प्रवाहित नदियों

शिप्रा एवं कालीसिंध का भी हाल जानना नहीं भूलते। मालवा में शिप्रा एवं कालीसिंध को लोग गंगा के समान ही पवित्र एवं पापनिवारणी मानते हैं, क्योंकि ये दोनों नदियाँ शिव के सन्निकट बहती हैं। अतः मालवा की जीवन रेखा एवं अध्यात्म की गुरु कही जाने वाली इन दोनों नदियों को मालवा की गंगा कहकर प्रणाम करें तो अतिशयोक्ति न होगी-

या जन्म सृष्टैरादौ च गोलेके राजमण्डले ।

संनिधाने शंकरस्य तां गंगा प्रणामाम्यहम् ॥

- भगीरथकृत गंगास्तोत्र

अर्थात् सृष्टि के आदिकाल में गोलोक के रास के रासमंडल में भगवान शंकर के समीप रहने वाली उन गंगा को मैं प्रणाम करता हूँ।

सुन्दरसी में महाकाल की सवारी मंदिर के पास स्थित हनुमान जी (रूद्र रूप) के मंदिर से प्रारंभ होती है। हर्षोल्लास से



नाचते-गाते, झूमते हुए नगरवासी एवं बाहर से पधारे हुए भक्तगण सवारी के पीछे-पीछे चलते हैं। भक्ति भाव में विभोर प्रजा एवं भक्तों को साथ लिए भगवान महाकाल नगर भ्रमण करते हुए स्थान-स्थान पर बने तोरण एवं पूजन मंचों पर पलभर ठहरकर भक्तों के समर्पण को स्वीकारते हुए अपनी यात्रा के अंतिम पड़ाव पुण्य सलिला कालीसिंध नदी के तट पर स्थित क्षिप्रेश्वर महादेव मंदिर पहुँचते हैं। मंदिर के नामोच्चारण से ही शिप्रा के अनुपस्थिति की कमी पूरी हो जाती है और सुन्दरसी एक और अवन्तिका की

पूर्ण प्रतिकृति सी आभासित होने लगती है। अपनी सवारी से महाकाल जब कालीसिंध नदी के तट पर उतरते हैं तो ऐसा लगता है जैसे भगवान श्रीराम नाव से उतरकर गंगा की रेतों में खड़े हो गये हैं।

उतरि ठाढ़ भए सुरसरि रेता ।

सिय राम गुह लखन समेता ॥

- मानस /अयोध्याकांड / 101/01

वैसे भी भगवान राम, कृष्ण, हनुमान, विष्णु और ब्रह्मा सभी शिव के ही रूप हैं। शिवपुराण में भी कहा गया है कि शिव, महेश्वर, रूद्र, विष्णु, पितामह, संसार वैद्य, सर्वज्ञ और परमात्मा ये आठ नाम शिव के ही बोधक हैं-

शिवो महेश्वरश्चैव रूद्रो विष्णु पितामह

संसार वैद्य सर्वज्ञः परमात्मेति मुख्यतः

नामाष्टकमिदं नित्यं शिवस्य प्रतिपादकम्

- शिव पुराण

भगवान भोलेनाथ महाकाल पुण्य सलिला कालीसिंध नदी की पावन धारा को ऐसे देखते हैं, जैसे भगवान राम गंगा की धारा देखकर धन्य-धन्य हो गये थे -

उतरे राम देवसरि देखी ।

कीन्ह दण्डवत हरषु विसेषी ॥

लखन सचिव सिय किये प्रनामा ।

सबहिं सहित सुखु पायउ रामा ॥

गंग सकल मुद मंगल मूला ।

सब सुख करनि हरनि सब सूला ॥

कहि-कहि कोटिक कथा प्रसंगा ।

रामू विलोकि गंग तरंगा ॥

सचिव अनुजहि प्रियहि सुनाई ।

बिबुध नदी महिमा अधिकार्ई ॥

- मानस/ अयोध्याकांड /86/1 से 3 तक)

भगवान भोलेनाथ महाकाल को पाकर कालीसिंध नदी आह्लादित एवं धन्य हो जाती और उनके जल में प्रवेश करते ही उनकी यात्रा (नगर भ्रमण) की सारी थकान को हर लेती है, जैसे

गंगा स्नान के पश्चात् भगवान श्रीराम की थकान मिट गयी थी-

मज्जनु कीन्ह पंथ श्रम गयऊ।  
सुचिजल पिउत मुदित मन भयऊ॥  
सुमिरत जाहि मिटई श्रम भारू।  
तेहि श्रम यह लौकिक व्यहारू॥

- मानस/ अयोध्याकांड /86/4 )

भगवान महाकाल ने क्षिप्रेश्वर रूप में कालीसिंध नदी में स्नान करके तट पर विद्यमान क्षिप्रेश्वर महादेव मंदिर में बैठकर उपस्थित भक्तों की पूजा-अर्चना स्वीकारी। ऐसा प्रतीत हुआ जैसे गंगा के तट पर भगवान श्रीराम द्वारा निर्मित पार्थिव भगवान शिव ने पूजा स्वीकार की थी-

तब मज्जनु करि रघुनाथा।  
पूजि पार्थिव नायउ माथा॥

- मानस/ अयोध्याकांड / 102/1

धन्य है भगवान की यह न्यारी लीला कि वे द्वापर, त्रेता सतयुग से लेकर कलयुग तक बार-बार नदी के तट पर पधारते हैं। भादों की काली अंधियारी रात में भगवान श्री कृष्ण का सूपे में बैठकर यमुना को पैर छुलाना और भादों के दूसरे सोमवार को महाकाल द्वारा कालीसिंध के तट पर जाना महज एक संयोग नहीं, बल्कि उनका नदी प्रेम है। एक प्रसंग में कालिंदी हैं तो दूसरे में कालीसिंध। भगवान श्रीकृष्ण की सारी रासलीलाएँ यमुना के तीरे करीलकुंजों और कदम की डालों पर ही घटित हुई हैं।



चौमासा

कालीसिंध नदी के तट पर भादों के दूसरे सोमवार को भगवान शिव महाकाल की उपस्थिति में विभिन्न अनुष्ठानों के साथ जनसैलाब के अध्यात्मिक गुरु परमपूज्य स्वामी हरिकृष्ण शरण बापू जी के नेतृत्व में पुण्य सलिला कालीसिंध नदी को 429 फिट लम्बी चुनरी धार्मिक विधि-विधान से ओढ़ाई गई। माँ कालीसिंध स्त्रीत्व एवं मातृत्व की प्रतीक हैं। मातृत्व को आवृत्त करना समाज का दायित्व है। सामाजिक सरोकार में यदि धार्मिक भावना मिल जाये तो वह और भी लाभकारी एवं दीर्घगामी संस्कृति का रूप ले लेती है। नदी के मन्त में चुनरी चढ़ाने की परम्परा बहुत पुरानी है। वर्षा ऋतु में नदी पूर्ण रूप में प्रवाहित होती है। स्त्रियाँ वर्षा में पिय मिलन की आस रखती हैं। अपनी इच्छा पूर्ण करने में वे नदी को अपना हमदर्द समझती हैं, क्योंकि वह एक प्रांत से दूसरे प्रांत तक जाती हैं। अवध प्रांत की स्त्रियाँ गंगा को पियरी (पीली साड़ी) चढ़ाने की मन्त मानती है-

हे गंगा मैया तोहड़ पियरी चढ़उबै।  
सैंया से कइ द मिलनवा हो ना॥

स्त्री कहती है- हे गंगा माँ! तुम्हें पियरी चढ़ाऊँगी, मेरी विनती सुनो और मेरे पति से मेरा मिलन करा दो। तीज के समय स्त्रियाँ पति के लिए कठिन व्रत करती हैं। तीज व्रत पर पति-पत्नी को नई चुनरी खरीदकर देना है, जिसे पहनकर वह पूजा एवं व्रत पूर्ण करती है। लोक जीवन में तीज का बड़ा महत्त्व है। तीज भी भादों मास में पड़ती है। स्त्री अपने पति से कहती है-

तीज कजरी क दिन नचिगान बा  
रंगाई दे पिया लाल चुनरी।  
लाल चुनरी पहिरब संवरिया  
दिलवा में इहै अरमान बा।  
रंगाई दे पिया लाल चुनरी  
लाले लहंगा लाल रंग की चोली।  
मोर लाले पे जियरा लोभान बा  
रंगाई दे पिया लाल चुनरी  
सेन्हुर टिकुली मेहंदी महावर  
हाँथे लाल चूड़ी मुँहे पान बा।  
रंगाई दे पिया लाल चुनरी

103

लल्लन पिया मोरि तोहें से लाली  
तोहें से मान सनमान बा  
रंगाई दे पिया लाल चुनरी

लाल रंग सुहागिन का प्रतीक और शुभ माना जाता है, इस लिए स्त्री पति से कहती है कि पिया तीज का (समय) दिन नजदीक आ रहा है, तुम मुझे लाल रंग की चुनरी रंगवा दो, मैं वही पहिँनूँगी। लाल रंग का लहंगा, लाल रंग की चोली, लाल रंग का सिंदूर और लाल रंग की टिकुली, लाल रंग मेहंदी और लाल रंग की महावर, हाथ में लाल रंग की चूड़ी और मुँह में लाल रंग का पान, ऊपर से लाल चुनरी इसकी कोई और तुलना नहीं हो सकती, क्योंकि मेरा दिल लाल रंग पर ललचा रहा है। लाल रंग के इस लोक आकर्षण में कई सांस्कृतिक एवं अध्यात्मिक तत्त्व समाहित हैं। मालवा प्रांत की (नायिका) स्त्री शिप्रा को चुनरी चढ़ाने वाली अपनी सखी को धन्यवाद देती है-

ऐ जी मैं तो हरक-हरक मंगल गावां जी  
राजा इन्द्र ने मनावां ..... मैं तो ।  
पेलो बदोवा गजानन्द जी ने देवां  
ऐ जी मैं तो मेवा जी ने बेग बुलावां जी  
राजा इन्द्र ने बदावां ..... मैं तो ।।  
दूसरे बदोवा काली बादली ने देवो  
ऐ जी जिनने रिमझिम पाणी बरसाया जी  
राजा इन्द्र ने बदावां ..... मैं तो ।।  
तीसरी बदोवा म्हारा सांतीड़ा ने देवो  
ऐजी जिनने शिपरा मैयां चुनड़ ओड़ाई जी  
राजा इन्द्र ने बदावां ..... मैं तो ।।

राजा इन्द्र को बधाईयाँ देते हुए मालवा की महिलाएँ मंगल गा रही हैं, जिन्होंने जलवृष्टि की है। गजानन्द और काले-काले बादलों को पानी लाकर बरसाने के लिए दूसरी बधाई दे रही है। और तीसरी बधाई सभी सखी-सहेलियों को दे रही हैं, जिन्होंने माँ शिप्रा को चुनरी चढ़ाई है। वर्तमान परिवेश में सुन्दरसी की महिलाएँ गा सकती हैं-

चौथी बदोवा म्हारा बापू ने देवो  
ऐजी जिनने कालीसिंध मैया चुनड़ ओड़ाई जी

राजा महाकाल ने बदावां ..... मैं तो ।।

नदी पूजन की प्राचीन परम्परा रही है। शास्त्रों में उल्लेख है-

गंगे च यमुने चैव गोदावरी सरस्वती  
नर्मदे सिंधु कावेरी जलऽस्मिन् सन्निधं कुरु

गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु और कावेरी के जल का सान्निध्य ही पुण्यदायी है। भगवान श्रीरामचन्द्रजी, भगवान गणेश और शिव की वंदना करने के पश्चात् सुरसरि माँ गंगा को प्रणाम करते हैं-

तब गणपति सिव सुमिरि प्रभु नाई सुरसरिहि माथ

- मानस/ अयोध्याकांड/ 104

जहाँ भगवान शिव महाकाल रूप में कालीसिंध नदी की अर्चना में स्वयं उपस्थित हों, वहाँ फिर कहना क्या? भारतीय नारियों की लोक परम्परा का निर्वाह सीता मैया ने भी गंगा माँ की पूजा-अर्चना करके किया था। और यह मन्त भी माना कि सकुशल वनवास से वापस लौटने पर पति और देवर के संग-हे गंगा माँ! आपकी पूजा करूँगी-

पति देवर संग कुशल बहोरी

आई करौ जेहि पूजन तोरी

- मानस/ अयोध्याकांड/ 101/2

सीता माँ की इस मन्त को सुनकर गंगा माँ ने कहा- हे देवी! अपनी वाणी (मन्त) सत्य होने के लिए मैं फिर भी आशीर्वाद दूँगी-

तदपि देवि मैं देवि असीसा ।

सफल होन हित निज बागीसा ।।

- मानस/ अयोध्याकांड/ 102/4

गंगा और यमुना सतत् प्रवाहित होने वाली नदियाँ है, अतः इनको सूरज-चाँद की तरह सृष्टि का अविच्छिन्न अंग माना जाता है। माँ कौशल्या ने वनगमन के समय सीता मैया को आशीर्वाद दिया था कि गंगा और यमुना की तरह तुम्हारा सौभाग्य सतत् बना रहे।



अचल होउ अहिवातु तुम्हारा।  
जब लागि गंग जमुन जल धारा।।

– मानस/ अयोध्याकांड/ 68

भगवान बार-बार गंगा और प्रयाग त्रिवेणी स्नान करके शिव की उपासना करते हैं। ऐसा मानस में कई स्थानों पर गोस्वामी जी ने दर्शाया है

मुदित नहाई कीन्ह सिव सेवा।  
पूजि जथा विधि तीरथ सेवा।।

– मानस/ अयोध्याकांड/ 105/3

राम कीन्ह विश्राम निसि प्रात प्रयाग नहाई।  
चले सहित सिय लखनजन मुदित मुहि सिरू नाई।।

– मानस/ अयोध्याकांड/ 108

भगवान प्रयाग स्नान करके त्रिवेणी को नमन करके सीता और लक्ष्मण के साथ प्रसन्न मन से चल पड़े। गंगा और त्रिवेणी के साथ वे यमुना को भी प्रणाम करना नहीं भूलते-

पुनि सियराम लखन कर जोरी।  
जमुनहि कीन्ह प्रणाम बहोरी।।  
चले ससीय मुदित दोउ भाई।  
रबि तनुजा कई करत बड़ाई।।

– मानस/ अयोध्याकांड/ 111/1

इसी प्रकार कालीसिंध नदी को प्रणाम करके भगवान महाकाल अर्ध रात्रि तक अपने निवास महाकाल मंदिर में वापस पधारे। सुंदरसी में कालीसिंध का किनारा भगवान महाकाल के सान्निध्य के कारण कई रहस्यमय किंवदंतियों को समेटे हुए है। यहाँ जोगी कुण्ड नाम का एक स्थान ऐसा है, जो रहस्यों से आवृत्त है। इसे कालियादह भी कहते हैं। लोक जीवन में ऐसी कई कथाएँ प्रचलित हैं कि रात्रि में साधु-संतों-सिद्धों की वेशभूषा वाली छायाएँ प्रायः यहाँ विचरण करती हैं। यह चमत्कारिक

स्थल कापालिकों की तन्त्र क्रिया सम्पन्न करने वाले श्मशान सा डरावना माना जाता है। हो भी क्यों ना, क्योंकि यह महाकाल की नगरी जो है।

भगवान महाकाल देवालय में वापस बिराजे। माँ कालीसिंध अकेली अपने अनेक रहस्यों को समेटे भादों की अधेरी रात में लाल चुनरी ओढ़े झीर-झीर होती वर्षा के बीच भगवान भोलेनाथ को याद करती रहीं। काली घनघोर घटा छापी थी, बिजली चमक रही थी, बादल गरज रहे थे, पानी की फुहारें पड़ रही थीं, ऐसे में कालीसिंध को याद करके सुंदरसी की एक नारी गा पड़ी -

झीनी झीनी बरसे बूँदी चुनरी भींजे।  
सखी लाग्यो भादो मास घटा घनघोर छाई।।  
छाई अधियारी रात, थो मंदर सूनो-सूनो।

दूसरी सखी बोली- राजा इन्द्रदेव को रोकना पड़ेगा, क्योंकि कालीसिंध की चुनरी के साथ मेरी दादी, भाभी, माँ और काकी सबकी चुनरी भीग रही है-

कुवला पे मेवलो बरसे, बागों में मेवलो बरसे।  
तू मती बरसे इन्दर राज, साँवरिया दादाजी भींजे।  
साँवरिया दादा जी भींजे।  
म्हारी चूनड़ वाली माँजी बाई भींजे।  
बावड़ी पर मेवलो बरसे, खेतां पर मेवलो बरसे।  
तू मती बरसे इंदर राज, साँवरिया वीराजी भींजे।  
साँवरिया वीरा जी भींजे।  
म्हारी चूनड़ वाली भावज बई भींजे।  
काँकड़ पर मेवलो बरसे, सेर्याँ पे मेवलो बरसे।  
तू मती बरसे इंदर राज, साँवरिया काका जी भींजे।  
साँवरिया काका जी भींजे।  
म्हारी चूनड़ वाली काकी बई भींजे।  
तू मती बरसे इंदर राज, साँवरिया काका जी भींजे।

## कुमाउनी भाषा का मानकीकरण

डॉ. शेरसिंह बिष्ट

भारत के उत्तरांचल राज्य का पर्वतीय भूभाग मध्य हिमालय कहलाता है, जो कुमाऊँ एवं गढ़वाल दो भागों में बँटा हुआ है। कुमाऊँ के अंतर्गत छः जनपद आते हैं- अल्मोडा, बागेश्वर, पिथौरागढ़, चंपावत, नैनीताल और ऊधमसिंह नगर। कुमाऊँ प्रदेश का कुल भौगोलिक क्षेत्रफल 21032 वर्ग किलोमीटर है। यहाँ कुल जनसंख्या 1991 की जनगणना के अनुसार 29,43,199 है। एक सर्वेक्षण के अनुसार पूरे कुमाऊँ प्रदेश में कुमाउनी भाषियों की संख्या 17,13,440 है, जो संपूर्ण कुमाऊँ जनसंख्या का 58 प्रतिशत है। नैनीताल में कुमाउनी भाषियों की संख्या कम है, क्योंकि उसका अधिकांश भाग मैदानी क्षेत्र के अंतर्गत आता है, जहाँ कुमाउनीभाषी संख्या में बहुत कम हैं।

यद्यपि भाषा की दृष्टि से संपूर्ण कुमाऊँ प्रदेश हिन्दी भाषा क्षेत्र के अंतर्गत आता है, परन्तु बोलियों की दृष्टि से विचार करें तो पूरे कुमाऊँ में पाँच बोलियाँ बोली जाती हैं - कुमाऊँनी, राजी, शौका (जोहारी एवं रड), बुक्सा और थारू। इनमें कुमाउनी संपूर्ण पर्वतीय भूभाग में बोली जाती है। कुमाउनी का क्षेत्र एवं भाषीय वैविध्य के कारण दो वर्गों में बाँटा गया है - पूर्वी कुमाउनी, पश्चिमी कुमाउनी। पूर्वी कुमाउनी को चार उपबोलियों में विभाजित किया गया है- कुमय्याँ, सोर्याली, सीराली तथा अस्कोटी। पश्चिमी कुमाउनी को छः उपबोलियों में विभाजित किया गया है - खसपर्जिया, चौगर्खिया, गंगोली, दनपुरिया, पछाई और रौ-चौबेंसी। इस तरह इन दस उपबोलियों का समूह कुमाउनी के अंतर्गत आता है। साहित्य-सृजन, बोलने वालों की संख्या एवं क्षेत्र विस्तार के कारण कुमाउनी ने भाषा का रूप ले लिया है।

इधर कुछ वर्षों से कुमाउनी भाषा पर काफी काम हो रहा है। कुमाउनी भाषा एवं कुमाउनी लोकसाहित्य पर दर्जनों ग्रंथ

(प्रकाशित एवं अप्रकाशित) लिखे जा चुके हैं, जिनमें से अधिकांश पी-एच.डी. के शोध प्रबंध हैं। कुछ कुमाउनी कविता संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। कुमाऊँ विश्वविद्यालय में स्नातकोत्तर कक्षाओं में हिन्दी के पाठ्यक्रम के अंतर्गत कुमाउनी भाषा एवं साहित्य को पढ़ाया जा रहा है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा कैरियर अवार्ड योजना के अंतर्गत कुमाऊँ हिमालय की बोलियों का सर्वेक्षण कार्य कराया गया है, जिसे मेरे द्वारा संपन्न किया गया है। शिक्षा के व्यापक प्रचार एवं प्रसार के कारण इधर अपने अतीत को जानने-पहचानने तथा अपनी कला एवं संस्कृति को संरक्षित करने के प्रति लोगों की जागरूकता बढ़ी है। हाल के कुछ आन्दोलनों से यह बात उभरकर सामने आयी है कि अपनी अलग पहचान बनाये रखने तथा अपनी अस्मिता को बचाए रखने के लिए पर्वतवासी अपनी जमीन, अपने अतीत, अपनी भाषा एवं संस्कृति से जुड़ने के लिए प्रयासरत हैं। आज व्यापक रूप से यह समझा जाने लगा है कि अपनी सामाजिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक जड़ों तक पहुँचने के लिए भाषा एक जरूरी साधन है।

देश के विभिन्न राज्यों की पृथक्-पृथक् पहचान उनकी भाषा एवं संस्कृति के कारण है। इसी कारण भारत में राज्यों का पुनर्गठन भाषायी आधार पर हुआ। बंगाल (बंगाली) उड़ीसा (उड़िया), तमिलनाडु (तमिल), कर्नाटक (कन्नड़), गुजरात (गुजराती), महाराष्ट्र (मराठी), राजस्थान (राजस्थानी), पंजाब (पंजाबी), हरियाणा (हरियाणवी) आदि राज्यों के नामकरण भाषायी आधार पर हुए हैं। कुमाऊँ-गढ़वाल को मिलाकर पृथक् पर्वतीय राज्य उत्तरांचल का गठन हुआ है। यह सही है कि जनसंख्या वृद्धि के बढ़ते दबाव, आवश्यकताओं की बढ़ती माँग तथा तमाम क्षेत्रीय समस्याओं का निराकरण बड़े राज्यों के शासन-तंत्र में आसान नहीं है। इसीलिए क्षेत्रीय हितों को ध्यान में रखते हुए, देश में छोटे-छोटे राज्यों के गठन की माँग बढ़ती जा रही है। आर्थिक विकास एवं प्रशासनिक सुधार के लिए जहाँ छोटे-छोटे राज्यों के गठन की माँग तर्कसंगत प्रतीत होती है, वहीं यह भी आवश्यक है कि इन राज्यों की अपनी पृथक् सामाजिक, सांस्कृतिक एवं भाषायी पहचान है।

कुमाउनी हमारी मातृभाषा भी है और हमारी अलग पहचान भी। ज्ञान-विज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें हम जितनी आसानी से

अपनी मातृभाषा के माध्यम से सीख सकते हैं, उतनी आसानी से अन्य भाषाओं के माध्यम से नहीं सीख सकते, क्योंकि हमारा अधिकांश समय एवं बुद्धि-विवेक दूसरी भाषाओं को सीखने के परिश्रम में ही चला जाता है। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि हमें दूसरी भाषायें नहीं सीखनी चाहिए। हम जितनी अधिक भाषायें सीखना चाहें, सीखें- लेकिन प्राथमिक स्तर पर अपनी मातृभाषा को ही शिक्षा का माध्यम बनाया जाना चाहिए।

भाषा का मानकीकरण क्या है? और यह कैसे संभव है? यह विचारणीय विषय है। मानकीकरण का अर्थ है-भाषा को संस्कृत करना। संस्कृत का अर्थ है-संस्कार की हुई परिमार्जित भाषा। व्याकरण संबंधी दोषों से रहित भाषा को ही संस्कृत भाषा कहते हैं। मानकीकरण (स्टैण्डर्डाइजेशन) का कोशगत अर्थ है- एक ही जैसी बहुत वस्तुओं का मानक स्थिर करना। मानक का अर्थ है-वह निश्चित या स्थिर किया हुआ सर्वमान्य अथवा माप जिसके अनुसार किसी प्रकार की योग्यता, श्रेष्ठता, गुण आदि का अनुमान अथवा कल्पना की जाय। जहाँ तक भाषा के मानक का प्रश्न है, मानक भाषा क्षेत्र विशेष की संस्कारित आदर्श भाषा मानी जाती है। प्रशासनिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारणों से जब किसी क्षेत्र विशेष की बोली अपने आसपास की बोलियों से विशिष्टता प्राप्त कर जाती है, तो उसके मानक रूप धारण करने की संभावना बढ़ जाती है। इस प्रकार एक ही विचार, भाव या अर्थ के लिए प्रयुक्त शब्दरूपों से किसी एक का चयन कर, उसे सर्वमान्य रूप देना तथा अन्य विकल्पों को छोड़ देना ही 'मानकीकरण' है। मानकीकरण द्वारा भाषा में स्थिरता, एकरूपता एवं निश्चितता आती है तथा उसका एक व्याकरण सम्मत रूप निर्धारित करने में सहायता मिलती है, साथ ही उस मानक रूप के निरंतर प्रयोग से उसे सामाजिक स्वीकृति भी प्राप्त हो जाती है। ऐसा न होने पर कई विकल्पों के मनमाने प्रयोग से भाषा में अराजकता की स्थिति पैदा हो जाती है।

एक विस्तृत पर्वतीय भूभाग में व्यवहृत होने तथा आवागमन की असुविधाओं के कारण पारस्परिक संपर्क कम होने से कुमाउनी भाषा में रूपगत अनेकरूपता पायी जाती है। उसका अभी तक एक निश्चित व्याकरण भी नहीं बन पाया है। इसका मुख्य कारण कुमाउनी भाषा का बोलीगत विभेद है, जो उसके उच्चारण, ध्वनिगत

तथा व्याकरणिक रूपों में बहुतायत से देखने को मिलता है। कुमाउनी भाषा पर काम करने वाले विद्वानों ने भी कुमाउनी की बोलियों के समेकित रूप पर काम नहीं किया, जिससे उसमें एकरूपता नहीं आ पायी। कुमाउनी भाषा पर अभी तक जो भी कार्य हुआ है, वह कुमाउनी की बोलियों-खसपर्जिया, पछाई, सोर्याली, गंगोली तथा चौगर्खिया को ही आधार बनाकर किया गया है। आज जबकि कुमाउनी के व्याकरण सम्मत परिनिष्ठित स्वरूप की आवश्यकता महसूस हो रही है, तो जरूरी है कि मानकीकरण द्वारा उसका एक समेकित रूप निर्धारित किया जाय।

कुमाउनी भाषा के मानकीकरण में क्या-क्या समस्याएँ आ सकती हैं, यह विचारणीय प्रश्न है। सामान्यतः होता यह है कि किसी एक भाषा की अनेक बोलियों में से कोई एक बोली सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक कारणों से जब अन्य बोलियों से विशिष्टता प्राप्त कर लेती है तथा शिक्षा, संस्कृति, साहित्य एवं राजकाज का माध्यम बन जाती है, तो वह सर्वस्वीकार्य होने से मानक रूप अख्तियार कर लेती है। हिन्दी की खड़ीबोली के संदर्भ में यही हुआ। ब्रज, अवधी, बुन्देली, कन्नौजी, बाँगरू, छत्तीसगढ़ी एवं खड़ीबोली आदि हिन्दी भाषा की प्रमुख बोलियाँ हैं, परन्तु खड़ी बोली ही विकसित, परिनिष्ठित एवं परिमार्जित होकर वर्तमान मानक हिन्दी के रूप में प्रतिष्ठित हो गयी। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर, कुछ विद्वानों ने खड़ीबोली की तरह खसपर्जिया बोली को कुमाउनी भाषा के मानक रूप का आधार बनाये जाने की बात कही है। खसपर्जिया बोली को कुमाउनी भाषा के मानकीकृत रूप में स्वीकार करने से पूर्व यह जानना आवश्यक होगा कि खड़ी बोली की तरह खसपर्जिया को मानक भाषा मानने के क्या पर्याप्त आधार हैं? क्या वह कुमाउनी की सर्वमान्य भाषा बन सकती है? कुमाउनी भाषा पर पूर्व में आयोजित तीन-चार संगोष्ठियों के निष्कर्षों से यह तथ्य स्पष्ट रूप से उभरकर सामने आया कि खसपर्जिया को कुमाउनी की मानक भाषा के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता, अपितु मानक भाषा का स्वरूप कुछ इस तरह का होना चाहिए, जिसमें कुमाउनी की सभी बोलियों को समुचित प्रतिनिधित्व मिल सके। इससे कुमाउनी भाषा के मानकीकरण की समस्या और भी जटिल हो गयी है।

इसके अतिरिक्त कुमाउनी भाषा की कोई भी बोली अभी तक साहित्यिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं लोकव्यवहार की दृष्टि से इस रूप में विकसित होकर सामने नहीं आयी है कि उसे हिन्दी की बोलियों में खड़ीबोली की तरह कुमाउनी भाषा के मानकीकरण का आधार बनाया जा सके।

कुमाउनी भाषा की किसी एक बोली को मानकीकरण का आधार न मानने पर हमारे पास एक ही विकल्प शेष रह जाता है कि हम कुमाउनी की सभी बोलियों का एक समेकित एवं सर्वमान्य रूप सामने लायें, जो परिनिष्ठित एवं व्याकरण सम्मत हो। परन्तु समस्या यह है कि इन सभी बोलियों को आधार बनाकर उसका प्रतिनिधि स्वरूप एवं सर्वमान्य रूप कैसे तैयार किया जाय। इसमें चार तरह की समस्याएँ हैं- ध्वनि, उच्चारण संबंधी, शब्द भेद संबंधी और व्याकरणिक-रूप संबंधी।

जैसा कि पीछे कहा जा चुका है कि कुमाउनी की बोलियों में परस्पर बोली-विभेद पाया जाता है। ध्वनि-विभेद के अन्तर्गत जहाँ पूर्वी कुमाउनी में शब्दांत में न, ण, ल प्रयुक्त होता है, वहीं पश्चिमी कुमाउनी में वह क्रमशः ण, न, व में बदल जाता है, जैसे- पूर्वी कुमाउनी में पानि (पानी), रानि (रानी), घुण (घुटना), क्ण (काँटा), क्ण (अंधा), खाळ (तालाब), डाळ (ओले) आदि शब्द पश्चिमी कुमाउनी में क्रमशः पाणि, राणि, घुन, क्ण, खाव, डाव में परिणत हो जाते हैं। पूर्वी कुमाउनी में 'श' ध्वनि का प्रयोग होता है तो पश्चिमी में 'स' का। जैसे पूर्वी कुमाउनी में श्यैनि (स्त्री), श्याल (सियार), शींग (सींग), कशोब (शायद, क्या पता) आदि शब्द पश्चिमी कुमाउनी में क्रमशः स्यैणि, स्याव, सींग, सिमि, कसप में बदल जाते हैं। ध्यान देने योग्य बात यह है कि शब्दों के अन्त में प्रयुक्त इस 'न' एवं 'ण' वर्णों के प्रयोग से कभी-कभी अर्थ-विपर्यय भी हो जाता है, जैसे पूर्वी कुमाउनी में 'रानि' का अर्थ 'रानी' है तो पश्चिमी कुमाउनी में 'रानि' का अर्थ 'विधवा' है। पूर्वी कुमाउनी में 'क्ण' का अर्थ 'अंधा' है तो पश्चिमी कुमाउनी में 'काँटा'।

उच्चारणगत वैविध्य के अंतर्गत पश्चिमी कुमाउनी के अकारान्त शब्द पूर्वी कुमाउनी में ओकारान्त हो जाते हैं, जैसे पश्चिमी कुमाउनी के च्यल (लड़का), सल (साला), कान्स

(छोटा), म्यर (मेरा), हमर (हमारा), बाछ (बछिया), काट (भैंसा), ब्यल (लता) आदि पूर्वी कुमाउनी में क्रमशः चलो, शालो, कान्शो, मेरो, हमरो, बाच्छो, काट्टो, बेलो हो जाते हैं।

शब्द-भेद के अन्तर्गत कुमाउनी की अधिकांश बोलियों में परस्पर अंतर पाया जाता है। एक ही अर्थ के लिए कुमाउनी की अलग-अलग बोलियों में अलग-अलग शब्द पाए जाते हैं, जैसे 'कुदाल' के लिए सोर्याली में 'कुट्टो' या 'मिदुर' शब्द है तो खसपर्जिया में 'कुटव'। ऐसे ही चौगर्खिया बोली में 'मक्का' को 'काकुनि' कहते हैं तो गंगोली में 'ध्वग'। कुल्हाड़ी को चौगर्खिया बोली में 'बनकाट' या 'बनकाटि' कहा जाता है, जबकि सोर्याली या आसपास की बोलियों में 'रमट' (रम्टा)। ऐसे सैकड़ों शब्द हैं जिनके लिए कुमाउनी की बोलियों में अलग-अलग शब्द प्रयुक्त होते हैं। उदाहरणार्थ- टोकरी-उडेइ, उडलि, शुजो, डाल आदि दीवार-पघार, पैर, दिवाल, भिड़ि आदि, गोबर की खाद-पर्स, मोव, मैल, थ्वप आदि। माता-इज, में, मतारि, मधारि, मात्रि आदि, सास-सासु, ज्यु आदि, हल का हत्था-उगौ, हतिन, हतरक आदि, लोटा-लोट्टि, कसिणि।

व्याकरणिक रूपों में सबसे अधिक अंतर क्रियापदों के प्रयोग में पाया जाता है। यद्यपि वाक्य-रचना के स्तर पर कुमाउनी की बोलियों में संज्ञा, सर्वनाम, क्रियाविशेषण, परसर्ग में भी परस्पर अन्तर है, जैसे-सर्वनामों में-मैं के लिए - मि, मैं, 'तूने' के लिए- त्वेल, त्वील, तीले, त्वीले आदि, क्रियाविशेषण में-'कहाँ' के लिए-कथ, काँ, 'किस समय' के लिए-कबखत, कथलि, कसलि, कबार आदि। परसर्गों में 'ने' के लिए-ल, ले, लि, न (मैल, मीले, मैलि, मैन) 'को' के लिए-कै, कणि, श (मैकै, मैकणि, रामश), से या द्वारा के लिए-थैं, हाती, पिति, भटि, हती, बिती (मैंथैं, त्वे हाती, मैं पिति, उभटि, मेरि बिती)। ऐसे ही 'के लिए' हेतु-तैं, हिं, हुणि, हिन, खीं, खिन, लिजी, 'से' के लिए-थैं, बै, बटि, बटे, भटे आदि, का, के, की (षष्ठी) के लिए-क, कि, र, रि, (वीक, वीकि, म्यर, मेरि) आदि 'मैं' या 'पर' (सप्तमी) के लिए-म, में, पर ओंन, पन (कान्म-कंधे में, भिमें, त्वे पर, पेटोंन, भिंपन) आदि विविध रूप पाये जाते हैं। परन्तु क्रियापदों में इस तरह का वैविध्य अधिक संख्या में दिखाई देता है। हिन्दी के एक वाक्य-'मैं जा रहा हूँ' के लिए कुमाउनी में कई भेद मिलते हैं,

जैसे-मैं जानयूँ, मैं जाणयूँ, मैं जान्यौँ, मैं जाणारी, मैं जानई, मैं जाणु लागि रई, मैं जानौछुँ, मैं जामर्यूँ आदि। भेदों की यह अधिकता सातत्य भूत, वर्तमान एवं भविष्य में अधिक है, जबकि अन्य में कम है।

कुमाउनी भाषा के मानकीकरण में आने वाली उपर्युक्त समस्याओं का समाधान मध्यम वर्ग अपनाकर किया जा सकता है। मानकीकरण की प्रक्रिया में सभी बोलियों को यथावत् ग्रहण नहीं किया जा सकता। इसमें कुमाउनी की प्रमुख बोलियों में से कुछ ग्रहण करना पड़ेगा, तो कुछ त्यागना भी पड़ेगा। ध्वनि-विभेद के अंतर्गत शब्दांत में न, ण, ल तथा व के कारण अपना लेना चाहिए, क्योंकि दोनों रूप कुमाऊँ के लगभग आधे-आधे भूभाग में समान रूप से प्रयुक्त होते हैं, अर्थात् 'पाणि' और 'पानि', 'घुण' और 'घुन', 'बिरालु', 'पिनालु' और 'पिनाउ' को मानकीकरण की परिधि के अंतर्गत शामिल कर लिया जाय। हिन्दी में भी कुछ शब्दों के दो-दो रूपों को उनके अति प्रचलन के कारण मान्यता दी गयी है, जैसे बरतन/बर्तन, भरती/भर्ती, वापिस/वापस, गरम/गर्म, गरमी/गर्मी, दोबारा/दुबारा आदि।

कुमाउनी में 'ल' की भी एक विशिष्ट ध्वनि है, जिसे परम्परित वर्ण 'ल' से संकेतित नहीं किया जा सकता। इसी कारण कुमाउनी में 'ल' ध्वनि का उच्चारण दो रूपों में होता है, एक तो शुद्ध 'ल' के रूप में, जैसे- मेल (समझौता), तेल (तेल), भेल (चूतड़), माल (कीमती समान), ताल (झील, तालाब) आदि। दूसरा 'ल' के मूर्द्धन्य उच्चारण 'ळ' के रूप में। मूर्द्धन्य रूप में उच्चरित इस 'ळ' ध्वनि के लिए कुमाउनी में विकल्प के रूप में 'व' का प्रयोग होता है। वस्तुतः मूर्द्धन्य रूप में उच्चरित 'ळ' कुमाउनी की एक विशिष्ट ध्वनि है, क्योंकि इससे शब्दों में अर्थभेद उत्पन्न होता है। कुमाउनी शब्दों में जहाँ-जहाँ 'ल' स्थान पर 'व' का प्रयोग होता है या हो सकता है, वहाँ 'ल' के लिए प्रस्तुतः 'ळ' ध्वनि का उच्चारण होता है, हालाँकि यह 'ल' रूप में लिखी जाती रही है। कुमाउनी शब्दों के कई ऐसे जोड़े मिलते हैं, जहाँ विशिष्ट 'ळ' ध्वनि के उच्चारण से अर्थभेद उत्पन्न होता है, जैसे-खाल (त्वचा, चमड़ी), खाव>खाळ (पोखर, तालाब), बाल (फसल), बाव>बाळ (केश), माल (सामान, धन-दौलत), माव>माळ (भावर, तराई क्षेत्र), भेव>भेळ (खड़ी

ऊँची चट्टान या ढालू पहाड़ी), मेल (मिलन, समझौता), मेव>मेळ (छोटी नासपाती), मोल (कीमत, मूल्य), मोव>माळ (दरवाजा) आदि। जहाँ 'ल' मूल ध्वनि के रूप में अवस्थित है, वहाँ विकल्प रूप में 'व' प्रयुक्त नहीं होता, जैसे-तोल (वजन, भार का मान), झेल (जेल) आदि में 'तोव' या 'झेव' नहीं होता। इसी प्रकार त्वचा को 'खाव' फसल को 'बाव', नहीं कहा जाता, अर्थात् इन शब्दों में 'ल' के स्थान पर 'व' का प्रयोग नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि कुमाउनी की उच्चारणगत विशिष्टता को ध्यान में रखते हुए मूर्द्धन्य रूप में उच्चरित 'ळ' को कुमाउनी की वर्णमाला के अन्तर्गत स्थान दिया जाना चाहिए।

पूर्वी कुमाउनी में प्रयुक्त तालव्य 'श' के स्थान पर पश्चिमी कुमाउनी में दन्त्य 'स' का प्रयोग होता है, परन्तु जहाँ पर इसके प्रयोग से अर्थभ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है, वहाँ पर इनका प्रयोग हिन्दी में उनके लिए प्रयुक्त शब्दों के अनुरूप किया जाय, अर्थात् हिन्दी के-'शेर' (सिंह) तथा 'सेर' (माप-तोल मापक) के लिए पूर्वी कुमाउनी की प्रकृति के अनुरूप दोनों शब्दों के लिए 'शेर' अथवा पश्चिमी कुमाउनी की प्रकृति के अनुरूप 'सेर' न लिखकर, उन्हें कुमाउनी में भी क्रमशः 'शेर' तथा 'सेर' लिखा जाना चाहिए। कहने का आशय यह है कि ऐसे स्थलों पर जहाँ अर्थ-भेद हो, वहाँ हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप शब्द भेद रखा जाय।

दूसरी समस्या है, उच्चारणगत वैविध्य के अंतर्गत पश्चिमी कुमाउनी के अकारान्त शब्दों का पूर्वी कुमाउनी में ओकारान्त प्रयोग, अर्थात् 'च्यल' का 'चेलो', 'म्यर' को 'मेरो' आदि। मानकीकरण में ओकारान्त प्रयोग को छोड़कर अकारान्त प्रयोग को ही अपनाया जाना चाहिए, क्योंकि कुमाऊँ के अधिकांश भूभाग में अकारान्त का ही प्रयोग मिलता है, अर्थात् 'कान्सो', 'काट्टो', 'चेलो', 'मेरो' के स्थान पर क्रमशः 'कान्स', 'काट', 'च्यल', 'म्यर' को ही मानकीकृत माना जाय।

तीसरी समस्या, शब्द-भेद के अंतर्गत शब्दों के चयन की है। कुमाउनी पूरे कुमाऊँ प्रदेश की भाषा है। अतः ऐसे शब्द, जो कुमाऊँ के अलग-अलग क्षेत्रों में अलग-अलग हैं और जिनमें परस्पर बोधगम्यता भी नहीं है, उन सभी शब्दों को मानक कुमाउनी

कोश के अंतर्गत स्थान देना होगा तथा ऐसे शब्द जो कुमाउनी की बोलियों में यत्किंचित आभाभेद के साथ समान रूप से पाए जाते हैं, उनके एक ही रूप को स्वीकार करना होगा। इसके लिए हम चाहें तो खसपरजिया या उसके आस-पास की बोलियों को आधार बना सकते हैं, अर्थात् हिन्दी के 'मक्का' शब्द के लिए कुमाउनी की अलग-अलग बोलियों में व्यवहृत-'काकुनि', 'ध्वग' तथा 'जुन्याल', तीनों शब्दों को ग्रहण करना पड़ेगा, जबकि 'पहचान' शब्द के लिए कुमाउनी की विविध बोलियों में प्रयुक्त-पछ्याण, पछाण, पच्यान, पछ्यान आदि में से किसी एक शब्द को चुनना होगा।

चौथी समस्या, विविध व्याकरणिक रूपों में संतुलन स्थापित कर, किसी एक व्याकरणिक रूप को स्थिर करने की है। कुमाउनी बोलियों की रूप-रचना में परस्पर सबसे अधिक विविधता देखने को मिलती है। इसके लिए भाषा-विशेषज्ञों की एक समिति गठित की जा सकती है, जो व्याकरणिक रूपों में एकरूपता लाने के लिए प्रारूप तैयार करें तथा उसके मानक रूप का निर्धारण कर सकें। व्याकरणिक रूपों को सुनिश्चित करने के लिए कुमाउनी की चार केन्द्रीय बोलियों-चौगर्खिया, गंगोली, खसपरजिया तथा कुमय्याँ को आधार बनाया जा सकता है। इन चार बोलियों के व्याकरणिक रूपों को एकत्रित कर, मध्यमान के आधार पर रूप निर्धारित किया जाय। कुछ व्याकरणिक रूप तो समय के साथ स्वयमेव विलुप्त हो रहे हैं, कुछ सीमित प्रयोग के कारण विलुप्तप्राय होने की प्रक्रिया में है, शेष जो जीवित बचते हैं उनमें योग्य, प्रयोग बहुल एवं व्याकरण सम्मत रूपों का चयन कर, उनका मानक स्वरूप निर्धारित किया जाय।

पाँचवी समस्या, उच्चारणगत भेदों को स्पष्ट करने के लिए लिपि-चिन्हों के चयन की है। कुमाउनी भाषा से जुड़े हुए अधिकांश विद्वान, बुद्धिजीवी, कवि, पत्रकार, लेखक एवं कोशकार इस बात पर सहमत हैं कि कुमाउनी की उच्चारणगत विशिष्टता को बनाये रखने के लिए कुछ ऐसे सर्वमान्य लिपि चिन्हों का प्रयोग करना आवश्यक है, जो देवनागरी लिपि में उपलब्ध नहीं है। इस उच्चारणगत विशिष्टता को बनाये रखने के लिए किस लिपि-चिन्ह का प्रयोग किया जाय, इस पर अभी तक आम सहमति नहीं बन पायी है। मौलिकता प्रदर्शन के मोह में पड़कर सभी ने अपने-अपने ढंग से चिन्ह विकसित कर लिये हैं। कैलाशचन्द्र

लोहनी ने अपनी पुस्तक 'शकुन्तलाकि पछाण' (पृष्ठ 236) में हिन्दी के दीर्घ स्वरों के ह्रस्व उच्चारण को प्रकट करने वाले अठारह ध्वनि-चिन्हों का उल्लेख किया है, जिनमें से 17 को अतर्कसंगत बताकर, उन्होंने अठारहवें चिन्ह शिरोरेखा के उपर 'लघु अर्द्ध चन्द्र' (˘) को अपनाया है। दरअसल यह चिन्ह 'डॉक्टर', 'हॉस्पिटल', 'मॉडर्न' या 'स्कॉलर' आदि अंग्रेजी शब्दों को देवनागरी लिपि में लिखने के लिए प्रयुक्त होता है। साथ ही देवनागरी लिपि में वर्णों की शिरोरेखा से लगने वाली मात्राओं या अनुनासिक चिन्ह 'चन्द्रबिन्दु' (ँ) के साथ इस चिह्न को लगाने से एक ओर वर्णों के बीच की स्वाभाविक दूरी बढ़ जाती है तो दूसरी ओर यह चिन्ह अपने निर्धारित स्थान पर नहीं लग पाता, जैसे-आँखें आदि। अतः इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता।

उच्चारण-भेद को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले तमाम चिन्हों में केवल तीन चिन्हों हलन्त (।) वर्णों के नीचे लगाया जाने वाला अर्द्ध चन्द्र (।) तथा अधोरेखा पर ही विचार करना अपेक्षित है। कुमाउनी भाषा की दृष्टि से मुख्यतः दो तरह की प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। पहला, दीर्घ स्वरों का ह्रस्व उच्चारण और दूसरा ह्रस्व स्वरों का ह्रस्तर (अति ह्रस्व) उच्चारण। हिन्दी के दीर्घ स्वरों का कुमाउनी में ह्रस्वात्मक उच्चारण कई स्थानों पर अर्थभेद भी उत्पन्न करता है। कुमाउनी में ऐसे शब्दों की संख्या लगभग एक हजार तक हो सकती है, जिनमें लगभग सात सौ शब्द 'हिन्दी-कुमाउनी-अंग्रेजी शब्दकोश' (डॉ. शेरसिंह बिष्ट) की भूमिका में अर्थसहित दिये गए हैं। ह्रस्व स्वरों के अति ह्रस्व उच्चारण से कुमाउनी में अर्थभेद के उदाहरण नहीं मिलते। परन्तु हिन्दी की मुख्य रूप से आ, ए, ऐ तथा ओ ऐसी ध्वनियाँ हैं, जिनका कुमाउनी में दीर्घ एवं ह्रस्व दोनों रूपों में उच्चारण होता है और इस उच्चारण भेद से कहीं-कहीं अर्थभेद उत्पन्न हो जाता है। अतः उन्हें सर्वत्र हिन्दी की प्रकृति के अनुरूप दीर्घ रूप में उच्चरित नहीं किया जा सकता। इस उच्चारण भेद को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त लिपि-चिन्ह 'हलन्त' को मानक लिपि चिन्ह के रूप में किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि हलन्त का तात्पर्य स्वर राहित्य से है। व्यंजन वर्णों के नीचे हल् चिन्ह लगाने से स्वर का अस्तित्व स्वयमेव समाप्त हो जाता है। यह संस्कृत एवं हिन्दी व्याकरण का अटल नियम है। स्वर या

व्यंजन के नीचे अर्द्ध चन्द्राकार चिन्ह (।) से दीर्घ स्वरों के ह्रस्व रूप की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। तबला वादन में ताल विशेष की गति या समय नापने के लिए इस 'अर्द्ध चन्द्र' का प्रयोग किया जाता है और यह संगीत के अणुद्रुत नामक अंग का चिन्ह है। अतः पहले से ही एक विशेष अर्थ के संकेत के रूप में रूढ़ होने से, इसे मानक चिन्ह के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वैदिक अनुदात्त स्वर को द्योतित करने के लिए वर्णों के नीचे सीधी रेखा लगायी जाती है। 'अनुदात्त' का अर्थ है-जो उच्चाशय न हो, छोटा या मामूली। ह्रस्व का अर्थ है-दीर्घ की अपेक्षा कुछ कम खींचकर बोला जाने वाला, छोटा या थोड़ा। अतः ह्रस्वात्मक ध्वनि की अभिव्यक्ति के लिए यह प्रतीक चिन्ह सटीक है। इस प्रकार कुमाउनी में दीर्घ स्वरों के ह्रस्वात्मक उच्चारण को द्योतित करने के लिए अधोरेखा रूप विशिष्ट लिपि चिन्ह (।) को मानक रूप में स्वीकार किया जा सकता है, जैसे आ॒म (दादी)/ आ॒म (फल विशेष), पा॒ठ (बकरी का बच्चा)/ पा॒ठ (पूजा-पाठ, दुर्गासप्तसती का पारायण), बा॒त (बत्ती, दिया)/ बा॒त (वार्तालाप), बा॒र (परहेज, जमाना, बारे में)/ बा॒र-(दिन, वार, बारह) आदि।

कुमाउनी भाषा का मानकीकरण क्यों आवश्यक है, मानकीकरण की प्रक्रिया में क्या-क्या समस्याएँ या कठिनाइयाँ आ सकती हैं तथा उनका समाधान किस प्रकार हो सकता है, इसका संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करने का लक्ष्य यह है कि इस दिशा में चिन्तन-मनन की प्रक्रिया निरंतर जारी रहे, क्योंकि मानकीकरण सतत चलने वाली प्रक्रिया है। कुछ लोग कुमाउनी भाषा के लिए अलग से लिपि विकसित किये जाने की बात करते हैं, उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। हिन्दी की देवनागरी लिपि ही कुमाउनी लिखने के लिए पर्याप्त एवं सक्षम है। उसमें ऊपर उल्लिखित कुछ विशिष्ट लिपि-चिन्हों को ही जोड़े जाने की आवश्यकता है। कुछ लोग कुमाउनी में ऋ, ष, क्षे, त्र, ज्ञ तथा श्र वर्णों का अभाव मानते हैं, जबकि पूजा-पाठ या धार्मिक अनुष्ठान आदि अवसरों पर उपर्युक्त वर्ण कुमाउनी भाषा में तत्सम रूप में प्रयुक्त होते हैं, जैसे-ऋषि, ऋण, पञ्चाङ्ग, पञ्चपा, अष्टमी, भिक्षा, क्षत्रिय, लक्ष्मण, पात्र, रक्षाबंधन, ज्ञान-ध्यान, ज्ञानी, श्राद्ध

आदि। कुमाऊँ की लोकधुनों, जागरवार्ताओं वगैरह में 'ड' तथा 'ज' नासिक्य वर्णों का एक लंबी तान या राग के रूप में विशेषकर प्रयोग होता है। हिन्दी की भाँति कुमाउनी में भी स्वरों में 'ऋ' का उच्चारण 'रि' की तरह होता है, परन्तु तत्सम शब्दों में उसे यथावत् 'ऋ' रूप में ग्रहण किया जा सकता है, अन्यथा 'ऋषि' के स्थान पर 'रिसि' लिखने से वह 'चील' के अर्थ का वाचक हो जाएगा। कुमाउनी वर्णमाला में एकरूपता रहे तथा टाइपराइटर, छपाई की मशीन आदि आधुनिक यंत्रों के उपयोग में लिपि की अनेकरूपता बाधक न हो, इन सब बातों को ध्यान में रखकर, अधोरेखा रूप, विशिष्ट लिपि चिन्हों (।) के अतिरिक्त 'मानक हिन्दी वर्णमाला' को कुमाउनी में मानक रूप में यथावत् स्वीकार किया जा सकता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि कुमाउनी के मानकीकरण में विशेष सावधानी के साथ-साथ, लचीलापन अपनाने की आवश्यकता है। बोलने वालों की संख्या एवं प्रयोग बहुलता को ध्यान में रखकर शब्द-रूपों का चयन भी तर्क सम्मत होना चाहिए। भाषा विषयक कठोर नियम न बनाकर, कुमाउनी भाषा को गतिशील जीवंत, व्याकरण सम्मत एवं समयानुरूप बनाने के साथ-साथ उसे संपर्क भाषा के रूप में विकसित करने के लिए दैनिक व्यवहार में अपनाना भी अत्यावश्यक है, क्योंकि भाषा प्रयोग के आधार पर ही जीवित रह सकती है।

## संदर्भ

- 1 नालन्दा विशाल शब्द सागर, नई दिल्ली, 1983 - संपादक- श्री नवल जी
- 2 कुमाउनी भाषा का अध्ययन, इलाहाबाद, 1976 - डॉ. भवानी दत्त उप्रेती
- 3 कुमाउनी भाषा और उसका साहित्य, लखनऊ, 1977 - डॉ. त्रिलोचन पाण्डे
- 4 कुमाउनी- हिन्दी व्युत्पत्ति कोश, अलीगढ़, 1983 - डॉ. केशव दत्त रुवाली
- 5 कुमाउनी- हिन्दी शब्दकोश, दिल्ली, 1985 - डॉ. नारायण दत्त पालीवाल
- 6 कुमाई (कुमाउनी) के क्रियापद : एक भाषावैज्ञानिक अध्ययन, दिल्ली, 1993 - डॉ. सुरेश पंत
- 7 पहाड़ी भाषाओं पर, नई दिल्ली, 1980 - डॉ. सुरेश पंत
- 8 दि फार्मेशन ऑफ कुमाउनी लैंग्वेज, भाग-1, नई दिल्ली, 1985 - डॉ. डी.डी. शर्मा
- 9 दि फार्मेशन ऑफ कुमाउनी लैंग्वेज, भाग-2, नई दिल्ली, 1987 - डॉ. डी.डी. शर्मा
- 10 कुमाउनी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति, अल्मोड़ा, 1994 - डॉ. देवसिंह पोखरिया
- 11 हिन्दी- कुमाउनी- अंग्रेजी शब्दकोश, अल्मोड़ा, 1994 - डॉ. शेरसिंह बिष्ट
- 12 उत्तरांचल : भाषा एवं साहित्य का संदर्भ, दिल्ली, 2004 - डॉ. शेरसिंह बिष्ट
- 13 शकुन्तलाकि पछाण, टनकपुर (नैनीताल), 1994 - कैलाश चन्द्र लोहनी
- 14 पुरवासी (वार्षिक पत्रिका), अल्मोड़ा, 1995 - संपा. - शिवचरण पाण्डे



## रतनपुरिहा गम्मत

डॉ. विनय कुमार पाठक

रतनपुरिहा गम्मत के पूर्व लोक साहित्य के वैशिष्ट्य और उसके संश्लिष्ट स्वरूप को समझना आवश्यक है, जो उसे विकसित और पोषित कर नया प्रारूप प्रदान करते हैं। युग की माँग के अनुरूप क्षेत्रीय या राष्ट्रीय आवश्यकताओं (कभी-कभी) की सहज संपूर्ति भी कर लेते हैं। लोक साहित्य ऐसी संश्लिष्ट रचना है, जिसे शिष्ट साहित्य-सदृश समग्र विधाओं को परिभाषित कर निरखना-परखना बाह्य दृष्टि से भले उचित हो, आंतरिक दृष्टि से कदापि संभव नहीं। यह जन-मन जीवन-अनुभव का प्रारूप ही लोक द्वारा प्रदत्त एक सूत्र है, जो गीतितत्त्वों से मिलकर लोकगीत तथा कथा से जुड़कर लोकगाथा बनती है। इसी तरह संवादों में ढलकर लोकनाट्य और किस्सा-गोई का वैशिष्ट्य लेकर लोककथा से अभिहित होती है। लोककथा, लोकगाथा या लोकनाट्य में विवाह का संदर्भ आने पर विवाह गीत, प्रणय-संपादन में ददरिया, विप्रलंभ की स्थिति में सुवागीत, युद्ध के दृश्यों में पंडवानी आदि अन्यान्य लोकगीतों का आगमन होता है। लोक साहित्य का लोक अभिप्राय ही उसे शिष्ट साहित्य से पृथक् करता है, जो आंतरिक दृष्टि से एक होकर सार्वदेशिक तथा आंचलिक रंगों के प्रभाव से क्षेत्रीय बन जाता है। यही लोक अभिप्राय किसी लोकसाहित्य की आत्मा है, जिनका तुलनात्मक अध्ययन लोक साहित्य के मूल स्वरूप को उद्घाटित करने के साथ उनके युगानुरूप परिवर्तन के इतिहास को प्रस्तुत करती है। लोकसाहित्य परम्परा-पोषक और संस्कृति-संवाहक होता है। इसमें युगानुरूप परिवर्तन बहुत धीमी गति से और आंशिक ही होता है। इसकी आत्मा को अक्षुण्ण रखकर यदि प्रयोग किए गए तो वे लोक साहित्य को मूल रूप में विद्यमान होने के पक्षधर प्रमाणित होते हैं।

लोक साहित्य लोक अर्जित भावनाओं के सरल-सहज उद्गार हैं, अतः उनमें परम्परा स्वतः संपृक्त है। शिष्ट साहित्य में परम्परा

कृत्रिम और अपेक्षाकृत आरोपित होती है, जबकि लोकसाहित्य में यही इसका प्राण है। यही कारण है कि इसमें कवि का श्रेय एक व्यक्ति न लेकर सभी लोकगायक ग्रहण करते हैं और इसका प्रत्येक गायक कवि नहीं, लोकगायक या लोकगीतकार कहलाता है। इसी आधार पर यह भाषा, बोली व वर्ण के भेद को दूर करने में सक्षम और लोक को लोक बनाये रखने तथा समाज में प्रत्येक मनुज को समरस का सिद्धांत संस्कार के रूप में प्रदान करने का संयोजन करना है। स्पष्ट है कि छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य में छत्तीसगढ़ी लोककथात्मक संवादों का स्वीकार और पृष्ठभूमि व वातावरण-निर्माण के अनुरूप लोकगीतों, लोकनृत्यों एवं लोकवाद्यों का समाहार है। इतना ही नहीं, इसके लोकस्थापत्य, लोकमूर्ति व लोक चित्रकला का भी यथावसर यत्किंचित् व्यवहार किया जाता है। तात्पर्य यह है कि छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य में समग्र लोककलाओं का ही नहीं, लोकसाहित्य की समग्र विधाओं का भी समन्वय है, जिसके कारण यह लोककला और लोकसाहित्य की सर्वाधिक लोकप्रिय लोकविधा के रूप में



जन-मन में प्रतिष्ठित है। यही कारण है कि इसमें एक ओर जहाँ लोकनाट्यकार परम्परा को संरक्षित रखते हैं, वहीं दूसरी ओर युगानुरूप विकास का पथ भी संधारण करते हैं। इस तरह परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए अर्थात् मूल मानसिकता व संस्कृति को सुरक्षित रखते हुए विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि शिष्ट साहित्यकार भी इसे 'कच्चा माल' मानकर 'पक्का माल' बनाता है। इस उपक्रम में यदि वह लोकाग्रह को समझता है, तो उसे सफलता मिलती है और वह लोक साहित्य के रूप में लोक में मान्य हो जाता है। हिन्दी साहित्य का वीरगाथा काल इसका अच्छा उदाहरण है। इसी तरह बुन्देली के ईसुरी कवि भी इसी दृष्टि से मान्य हैं। बाबू रेवाराम का कृष्णलीला पर आधारित

विशेषतः रास-केन्द्रित गुटका 'रतनपुरिहा गम्मत' के रूप में लोकनाट्य का लोकप्रिय स्वरूप है। इसका स्थान वही है जो जगनिक के 'आल्हा' व ईसुरी के बुन्देली फाग गीत का है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि बाबू रेवाराम के 'जसगीत' जहाँ छत्तीसगढ़-पर्यंत प्रचारित होकर लोकगीत के रूप में स्वीकृत हैं, वहीं खैरागढ़ के राजा कमलनारायण सिंह के 'जसगीत' खैरागढ़-अंचल में अत्यंत लोकप्रिय हैं। स्पष्ट है कि बाबू रेवाराम का साहित्य यहाँ लोकनाट्य और लोकगीत के रूप में ही चर्चित है।

'रतनपुरिहा गम्मत' से ही आभास होता है कि यह रतनपुर का गम्मत विशेष है, जो मूल मराठी गम्मत से विकसित और तमाशा की तर्ज पर प्रदर्शित 'करतब-कला' से युक्त लोकरंजन को लोकमंगल स्वरूप देने व श्रृंगार के बाह्य रूप को उदात्तता पर प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से बाबू रेवाराम द्वारा लिखित श्री कृष्णलीला के गुटके पर आधारित अध्यात्म को

अधिष्ठित करने का महान आयोजन है। बाबू रेवा ने 'गम्मत' के लोकरंजन और लोकशक्ति को निरखा-परखा तथा उसे परिष्कृत-परिमार्जित करने के लिए 'रासलीला' या 'रहस' को उचित माध्यम माना। वृंदावन की लीला पर जन-मन आश्रित थे और वे लीला-मण्डलियाँ धान की फसल कटने के बाद 'छेरछेरा पुत्री' अर्थात् पौष पूर्णिमा से चैत्र-वैशाख तक इस अंचल में निमंत्रित होकर अपनी कला का प्रदर्शन करते थे। गणेश मेले में तब गम्मत का धूम थी और यह फूहड़ता और सस्ते जनरंजन का पर्याय बन गयी थी। दूरदृष्टा बाबू रेवाराम ने तब गुटके पर आधारित 'रतनपुरिहा गम्मत' को मानक निर्दिष्ट कर लोककलाकारों से इसका मंचन व प्रदर्शन कराया, जिसमें 'रहस' का प्रभाव प्रमुख और गम्मत की

गमक एवं तमाशा का तत्त्व गौण प्रमाणित हुआ। गणेश चतुर्थी के सातवें दिन से अर्थात् एकादशी से प्रारंभ होकर नौ या दस दिन तक संपन्न रतनपुरिहा गम्मत 'भादो गम्मत' से संबोधित हुआ, जिसे छत्तीसगढ़ी जन 'भदोइया गम्मत' भी कहते हैं। यदि बाबू रेवाराम चाहते तो 'रतनपुरिहा रहस' नाम दे सकते थे, लेकिन गम्मत की लोकप्रियता को बनाए रखते हुए और उस परम्परा को प्रोन्नत करते हुए उन्होंने रास को भी समायोजित कर लिया, इसलिए लोक ने उसे सहज रूप से स्वीकार भी किया। इस आधार पर बाबू रेवाराम लोक और शिष्ट नाट्यसाहित्य के महान सर्जक सिद्ध होते हैं। जिस बोली या भाषा को ऐसे लोकसाहित्यकार उपलब्ध होते हैं, उसके निवासी लोक और शिष्ट की परम्परा को प्राप्त कर विशिष्ट बन जाते हैं। इस दृष्टि से 'रतनपुरिहा गम्मत' का महत्त्व अधिक है। वृंदावन का रास कीर्तन-शैली में बैठकर प्रस्तुत किया जाता है, जबकि 'रहस' में 'खड़े साज' का व्यवहार लोकनाट्य गम्मत के प्रभाव से यहाँ विशिष्ट हो गया है। वृंदावन के रास में ब्रजभाषा का प्रयोग प्रचुर है, जबकि सवर्णों के छत्तीसगढ़ी रहस में ब्रज-मिश्रित छत्तीसगढ़ी या खड़ी बोली का प्रचलन है और सतनामी रहस में छत्तीसगढ़ी भाषा का ही व्यवहार है। सवर्णों में व्यास की गद्दी पर ब्राह्मण ही बैठते हैं, जबकि सतनामियों में उसी जाति के लोग आसीन होते हैं। सवर्णों के रहस में राधा-कृष्ण की मूर्ति ही स्थापित की जाती है, जबकि सतनामी रहस में इसके साथ गणेश व ऋद्धि-सिद्धि की प्रतिमाएँ भी प्रतिष्ठित की जाती हैं। दस दिन में विसर्जन के पश्चात् ही सतनामी रहस समाप्त होता है, जबकि सवर्णों का रहस नवें दिन ब्राह्मण-भोज के बाद सम्पन्न होता है। दोनों में अध्यात्म प्रधान और श्रृंगार गौण होता है। रीतिकाल में जिस तरह श्रृंगार और भक्ति रस में विभेदक रेखा खींचकर अध्ययन करना कठिन होता है, वैसे ही रहस में दोनों रसों का सुंदर परिपाक है।

छत्तीसगढ़ में 'गम्मत' मराठी लोकनाट्य के प्रभाव से भोसला शासन के समय अत्यंत लोकप्रिय था। इस समय यह श्रृंगारिक अधिक था। छत्तीसगढ़ की राजधानी रतनपुर से होते हुए यह छत्तीसगढ़-पर्यंत प्रचारित हुआ और नृत्य की विशेषता से जुड़कर पहले शब्द-युग्म 'गम्मत-नाचा' और बाद में केवल 'नाचा' से अभिहित हुआ। जैसे गम्मत में तमाशा जुड़ा अर्थात्

नानाविध करतब लोककला के अंग के रूप में अधिगृहीत हुए, वैसे ही छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य की मौलिकता नृत्य प्रधान होने के कारण 'नाचा' से संपृक्त हुयी। इसमें भी तमाशाई करतब जुड़े, जिसमें कई लोटों को सिर पर रखकर दौड़ते हुए आना और नृत्य की विभिन्न मुद्राओं में रत् जन-मन को चमत्कृत करना प्रमुख ध्येय था। इसमें महिला वेशधारी पुरुष का नर्तन, लोटे को नचाने और थिरकन के साथ सामंजस्य बिठाने की कला अभिनव थी। ऐसे कल्पना के पर लगाकर गायन, नर्तन व अभिनय में निष्णात लोककलाकार 'परी' या 'नचकारिन' अथवा 'नचकहारिन' से अभिहित होते थे। यह लोककलाकार इतना कोमल-कमनीय होता था कि इसकी सर्वांग सुंदरता देह में देखकर, लोच और लचक को लालित्य के रूप में रखकर तथा नृत्य एवं अभिनय की जुगलबंदी में सामंजस्य से सरोकार होकर जन-मन सहजतः इसकी अदा में फिदा हो जाते थे। यदि कुछ 'नचकहार' पीतल की थालीनुमा वृहत् पात्र 'कोपरा' के उभरे हुए ऊपरी गोल भाग में दोनों पैर रखकर और संतुलन साधते हुए नृत्यरत् होते तो कुछ 'नचकहार' 'बसुला' या 'आरी' की नोक पर पाँव रखकर करतब-कला को दिग्दर्शित करते हुए तमाशाई नृत्य करते, जो अनिर्वचनीय आनंद का आवेग बनता। इस उपक्रम में उल्लेखनीय है कि एक 'नचकहार' अपने पूरे शरीर में आग से करतब दिखाते हुए इस तरह झुलस गए कि उनकी मृत्यु भी इसी कारण हो गयी। तात्पर्य यह है कि गम्मत में तमाशानुमा कला-करतब इस प्रदेश में नाचा के साथ जुड़कर लोकरंजन का माध्यम बना। इसी तरह संस्कृत के विदूषक की परम्परा का विकसित स्वरूप 'जोकर' से समीकृत होकर 'जोक्कड़' कहलाता है, जो अपनी विचित्र वेशभूषा और ऊटपटाग तथा ऊलजलूल हरकतों से जन-जन के मन को रंजित और चमत्कृत कर देता है। बच्चे से लेकर बूढ़े सभी रस-परिवर्तन का अनुभव-आस्वाद इसी से करते हैं। 'परी' और 'जोक्कड़' ही गम्मत के प्रमुख पात्र होते हैं।

जब गम्मत के साथ 'रतनपुरिहा गम्मत' संश्लिष्ट होता है, तब यह गम्मत की एक विशेषता या शैली के रूप में अपना महत्त्व प्रकट करता है। 'रतनपुरिहा गम्मत' नामानुरूप गम्मत का वह पृथक् स्वरूप है, जो रतनपुर में जन्मा व पला-बढ़ा। भोसला शासन में गम्मत का जो प्रभाव था, लोकरंजनकारी प्रदर्शन लोककला

के रूप में इसकी जो प्रतिष्ठा थी, वह बाबू रेवाराम के गुटका के प्रभाव से आध्यात्मिक आस्था के रूप में परिवर्तित हुयी। इसमें 'रास' या 'रहस' का स्वरूप भी जुड़ गया, परिणामतः यह लोकमंच कर्मकाण्ड व पूजा के विधि-विधान से सम्पृक्त होकर श्रीकृष्ण के नायकत्व से संचालित हुआ। यह बाबू रेवाराम का प्रताप था कि उन्होंने गम्मत के गलियारे को ग्राम के चौपाल या मंदिर के चबूतरे से जोड़ा, लौकिकता को अलौकिकता की ओर मोड़ा, अश्लीलता की ओर अग्रसित आम आदमी के भ्रम को तोड़ा। इस तरह उन्होंने श्रृंगार को शालीन बनाया और कृष्ण-गोपिकाओं के अलौकिक प्रेम को लौकिक और लोकरंजनकारी स्वरूप दिया। गम्मत के जो श्रोता 'परी' के स्वप्न-लोक में खोये थे, उन्हें उन्होंने 'राधा' के उदात्त प्रेम अर्थात् भक्ति की ओर उन्मुख किया। वृंदावन की रासलीला से अनुप्राणित होकर ही बाबू रेवाराम ने गुटका का प्रणयन किया, जिसमें उनके मौलिक पदों के साथ सूरदास, मीराबाई के पद भी संग्रहीत हैं। बाबू रेवाराम और अन्य संकलित भक्ति कवियों के पद का प्रवाह प्रायः एक सा ही है, लेकिन छत्तीसगढ़ी शब्दों के यथावसर प्रयोग के कारण बाबू रेवाराम के पद पृथक् प्रतीत होते हैं। रेवाराम के गुटका के प्रसार-प्रचार से गम्मत की गमक कम और रास का शांत रस अधिक विस्तृत हुआ। 'रहस' में खड़े साज और घूम-घूम कर नाचने-गाने की प्रवृत्ति गम्मत की मूल विशेषता के रूप में अक्षुण्ण रही। इसी तरह पुरुषों द्वारा स्त्री का अभिनय, गीत-नृत्य और जीवंत अभिनय का समावेश गम्मत के मूल वैशिष्ट्य को 'गुटका' पूरी तरह गुटक नहीं सका। बाह्य परिवेश भले ही अध्यात्म से आँका गया हो, लेकिन उसकी अंतर्धारा में गम्मत का लोककलाकार ही जीवंत था, इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि गम्मत के उच्चैखल स्वरूप को रोकने और अमर्यादित रूप को अवरुद्ध करने की दृष्टि से बाबू रेवाराम ने गुटके की रचना की। इसके कारण रतनपुर से उद्भूत क्रांति बिलासपुर जिले पर्यंत लोकप्रिय हुई। अनेक लोककला-मंडलियों ने गुटका से प्रेरणा लेकर लोकनाट्य के इस स्वरूप को लोकप्रिय बनाया। इस तरह गम्मत के इस मूल स्वरूप को परिष्कृत-परिमार्जित करके तथा उसके लोकप्रवाही रूप को स्थिर और मानक बनाने के प्रयास में बाबू रेवाराम का प्रदेय उल्लेखनीय है। लोकनाट्य का यह परिनिष्ठित स्वरूप ही रतनपुरिहा गम्मत है, जिसमें गम्मत पर रहस का आरोपण अश्लीलता के स्थान पर

श्लीलता का प्रस्थापन ही प्रमुख ध्येय रहा है। यही कारण है कि इसमें ब्रजभाषा का प्रभाव प्रचुर है। इसी की प्रतिक्रियास्वरूप यहाँ सतनामी रहस भी विकसित हुआ, जिसमें छत्तीसगढ़ी का ठेठ स्वरूप समादृत है। इसमें भीम, अर्जुन, कृष्ण, कंस आदि की बड़ी-बड़ी मूर्तियाँ कलाकारों द्वारा बनाई जाती हैं, जो यहाँ की मौलिक मूर्तिकला के अनुपम उदाहरण हैं। रेवाराम के गुटका से प्रेरित आंचलिक कलाकारों से रहस को स्वतंत्र विकास मिला अन्यथा यह अंचल उत्तरप्रदेश की लीला-मंडलियों का ही आश्रयदाता बनकर रह गया था। रेवाराम के गुटके की तरह कुछ लोककलाकारों ने स्वरचित व भक्तकवियों द्वारा संग्रहीत-संपादित गुटके की रचना भी की, लेकिन उसका प्रचार उस मंडली व ग्राम तक ही सीमित रहा। इसके बावजूद यह कहा जा सकता है कि बाबू रेवाराम के गुटके का योगदान लोकनाट्य को संस्कारित, संरक्षित व विकसित करने की दृष्टि से अत्यंत उपादेय है। रीतिकालीन कवियों में अध्यात्म और श्रृंगार का समाहार है। यही इस काल की लोकनाट्य और शिष्टनाट्य की समन्वित प्रस्तुति 'रेवाराम के गुटका' में समादृत है। रीतिकाल के अधिकांश कवियों में राधाकृष्ण की भक्ति नाम और अध्यात्म का बहाना भले बने, लेकिन वह कवि के कुत्सित मनोविज्ञान और अश्लीलता को स्पर्श करने वाली उद्दाम श्रृंगारिकता का ही संयोजन है, जबकि बाबू रेवाराम का गुटका श्रृंगार को अध्यात्म की ओर प्रस्थित करने और लोक को मर्यादित करने का महान संयोजन है। स्पष्ट है कि बाबू रेवाराम का अभ्युदय संक्रमण की उस बेला में हुआ, जब छत्तीसगढ़ी का सर्वाधिक लोकप्रिय लोकनाट्य 'गम्मत' रीतिकालीन घोर श्रृंगारिकता में आकंठ होकर अश्लीलता का अवलम्बन ले चुका था। ऐसे समय में श्रृंगार के ही आराध्य और प्रतीक भगवान श्रीकृष्ण के रास-प्रसंग को आधार बनाकर उन्होंने 'गुटका' को लोकार्पित किया। यह गम्मत का विकल्प अवश्य बना, लेकिन गम्मत का मूल स्वरूप अक्षुण्ण रहा। अंग्रेजों के अत्याचार-अनाचार के विरुद्ध जब पूरे देश में राष्ट्रीय आंदोलन वृहद-विस्तृत था, तब गम्मत ने श्रृंगार को पार्श्व में करके और अध्यात्म को अंतर्गत करके जनजागृति का शंखनाद किया। इस दृष्टि से बिलासपुर जिले के पोंड़ी के धरमलाल कश्यप, ठाकुर गोलन सिंह, लक्ष्मणदास, बालाराम, सुखसागर, चूड़ामणि शर्मा का योगदान उल्लेखनीय रहा। इसी तरह गम्मत-नाचा के कलाकारों ने

प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप में ही सही, राष्ट्रीयता की अलख जगायी। कथक नृत्य को इस अंचल में लोकप्रिय करने और एक घराने के रूप में संस्थापित करने वाले महाराजा चक्रधर सिंह ने जिन कलाकारों को चयन किया, वे प्रमुखतः नाचा के लोककलाकार ही थे। इनमें प्रमुख रूप से कार्तिकराम, फिरतुदास, कल्याणदास और बर्मनलाल का नाम महत्त्वपूर्ण है। इस नाचा लोकनाट्य को यहाँ के सामंतों ने न केवल सहयोग दिया, वरन् पूर्णतः संरक्षण भी प्रदान किया। इस दृष्टि से दाऊ दुलारसिंह मदराजी, दाऊ रामचंद्र देशमुख, दाऊ महासिंह चंद्राकर दुर्ग जिले से तथा श्री बग्गू साव और अमरनाथ साव बिलासपुर के उल्लेखनीय हैं। ठाकुरराम, भुलवाराम, मदन निषाद, लालूराम, नाचा-गम्मत के ख्याति प्राप्त लोककलाकार हैं। यदि एक ओर रायखेड़ा की प्रसिद्ध नाचा-मंडली में प्रथम बार नारी का प्रवेश हुआ तो दूसरी ओर देवार जाति की महिलाएँ गीताबाई, ताराबाई, पद्मा व बासंती देवार ने भी पर्याप्त ख्याति प्राप्त की।

रतनपुरिहा गम्मत की एक धारा ने यदि 'रहस' को स्वतंत्र रूप से विकसित किया तो दूसरी ओर छैला-नाचने रास-पद्धति को भी प्रचारित किया। इसके प्रमुख श्री काशीराम साहू लोकप्रिय हैं। इसमें भी 'बैठे साज' और 'खड़े साज' का स्वरूप दृष्टिगत हुआ। पंडवानी में वेदमति शाखा बैठकर और कापालिक शाखा खड़े होकर दो शैलियों में की जाती है। इसका प्राचीन रूप वेदमति और आधुनिक या विकसित स्वरूप कापालिक है। इसी तरह लोकनाट्य 'नाचा' का प्राचीन रूप बैठकर किया जाता था,

जो बाद में खड़े साज के रूप में खड़े होकर, कमर में तबले व दुग्गी को बाँधकर, हारमोनियम को गले में कपड़े के द्वारा लटकाकर, सारंगी के अनुज 'चिकारा' को अधिगृहीत कर नाचते गाते और अभिनय की मनभावन प्रस्तुति करते सम्पन्न करते हैं। इसमें हारमोनियम वादक 'बाजा मास्टर', तबलावादक 'तबलहा या तबलची', चिकारा वाला 'चिकरहा' और मंजीरे वाला 'मंजरहा' से संबोधित होता है। रास में करमा का सम्मिश्रण 'दहिकांदो' कहलाता है, जो कृष्ण जन्माष्टमी के अवसर पर किसी भी वृक्ष के तले जो कदम्ब का प्रतीक मान लिया जाता है, राधाकृष्ण की प्रतिमा प्रतिष्ठित करके इसके चारों ओर नाच-गाकर कृष्णलीला की जाती है। इसमें दही से भरी मटकी को फोड़ने से दही कीचड़ अर्थात् 'कांदो' उत्पन्न कर देता है। इसी आधार पर यह 'दहीकांदो' से अभिहित होता है। इसी भाँति संध्या के समय तालाब में नाव के सहारे कालिया-मर्दन की घटना द्वारा 'रहस' के इस स्वरूप को छत्तीसगढ़ में 'नागलीला' के रूप में विकास मिला है। खेलते हुए ग्वाल-बालों की गेंद तालाब में चली जाती है। एक नाव में नाग है जो आकर गेंद को अधिगृहीत करता है। दूसरे नाव से चलकर श्रीकृष्ण नागलीला करते हैं। नाग के मुख में अनारदाना रखकर और उसे जलाकर लोककलाकार प्रभाव उत्पन्न करते हैं। कालिया-मर्दन के पश्चात् राधा और कृष्ण प्रतिष्ठित होते हैं तथा परियाँ नृत्य करती हैं। इस तरह लोकनाट्य के स्वरूप विविध सूत्रों को लेकर विविध लोकविधाओं में प्रवाहित होते हैं और यही इसके विकास का आधार भी है।

## छत्तीसगढ़ी विवाह गीत

डॉ. पीसीलाल यादव

संस्कार हमारे जीवन को सुसंस्कृत बनाते हैं। संस्कार के अभाव में मनुष्य का जीवन पशुतुल्य हो जाता है। मनुष्य मात्र के आचारों, विचारों, व्यवहारों व क्रियाओं से उसके संस्कारों का सहज ज्ञान, उसकी श्रेष्ठता या निकृष्टता का अनुमान लगाया जा सकता है। संस्कार संस्कृति का द्योतक है। संस्कार मनुष्य की पहचान है, जो जीवन की मूल संक्रियाओं से उत्पन्न होते हैं और जीवन को संस्कारित करते हैं। संस्कार जीवन परिष्कार के आधार हैं और सौजन्य, सौहार्द्र व समन्वय का स्रोत भी।

भारतीय जीवन संस्कारों से सराबोर है। भारतीय जीवन का शिष्ट पक्ष हो या लोक पक्ष, इनमें संस्कारों की सम्प्रभुता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक भारतीय जीवन में संस्कारों का विशेष महत्त्व है। हमारे धर्म शास्त्रों में सोलह संस्कारों का उल्लेख मिलता है, किन्तु छत्तीसगढ़ के लोकजीवन में जन्म संस्कार, विवाह संस्कार और मृत्यु संस्कार ही प्रमुख हैं। विवाह संस्कार में गाये जाने वाले लोकगीत 'बिहाव गीत' कहलाते हैं। छत्तीसगढ़ी विवाह गीत नेग के अनुसार गाये जाते हैं। इन गीतों के रंग-रूप और इसकी विविधता यहाँ कि प्राकृतिक छटा की तरह इन्द्रधनुषीय है और महानदी की लहरों की तरह हृदय को आनंदित करती है। विवाह मंगनी का गीत-

सजन जोरन बर आयेन, ये समधी  
सजन जोरन बर आयेन, ये समधी  
जोरे गठुरी झन छूटे, ये समधी..... ।  
लुगरा मंगायेव सुधर चुक ले, ये समधी  
ओहू लुगरा हवय हल्का, ये समधी

ओहू समधी हवय हल्का  
 ये समधी ले जा तोर नाक म अरो ले,  
 ये समधी लुगरा मंगायेवं सुधर चुक ले।

छत्तीसगढ़ में वैवाहिक संबंधों की शुरुआत मंगनी से प्रारंभ होती है। 'मंगनी-जंचनी' अर्थात् कुल-खानदान, वर-कन्या की जाँच परख व जन्म कुण्डली तथा राशि मिलान के बाद सगाई संपन्न होती है। सगाई को मंगनी, फलदान, चूरी पटका व चुमा लेना भी कहा जाता है, परन्तु इस मुस्कान के पीछे एक विषाद भी मन को उद्वेलित करता है। बेटी परायी जो ठहरी। और यहीं से प्रारंभ होती है विवाह गीतों की मुग्धकारी श्रृंखला जैसे कुहक पड़ती है लोक रागिनी लेकर आम्रकुंजी में कोई कोकिला-

सिगुन डोलय, बाम्हन बोलय  
 भये हे लगिन कई बेरा हो  
 ओतका बात ल तईहा चेतइते  
 ते करि लेतेवं लगिन कई जोरा  
 मानो मलनि मलनि घर नीके  
 सुरूज के बुड़ती, चंदा के उगती हो  
 भये हे लगिन कई बेरा होऽऽऽऽ  
 ओतका बात ल तईहा चेतइते  
 ते करि लेतेवं करसा कई जोरा  
 मानो मलनि मलनि घर नीके  
 जर गई बाम्हन तोर पोथी पुराने हो  
 भये हे लगिन कई बेरा हो  
 ओतका बात ल तईहा चेतइते  
 ते कर लेतेवं परा कर जोरा  
 मानो मलनि मलनि घर नीके

विवाह की तिथि निश्चित होने के बाद निमंत्रित सगे-संबंधियों का आना प्रारंभ हो जाता है। चारों ओर खुशियों का डेरा, प्रेम और स्नेह का घेरा, खुशनुमा शाम तो मंगलकारी सबेरा। पास-पड़ोस में आनंद और उल्लास का वातावरण। सुवासा द्वारा विधि-विधान से लोक परम्परा अनुसार मड़वा गड़ाया जाता है, दो बाँसों को जोड़ी बनाकर गड्ढे में हल्दी, सुपाड़ी व ताम्र सिक्का डालकर। सुवासिने व अन्य महिलायें गौठान या तालाब के पास की पवित्र

माटी लाती हैं। यह नेग 'चुलमाटी' कहलाता है। तब नारियों के कोमल कंठों से गूँजने लगते हैं हास-परिहास के गीत, जिसमें छलकता है मया और पीरीत-

तोला हूम देये ल नई आवय का गा  
 अंगरी म मारे सपोटन म तेल  
 बोक बाय टूरा देखय काला ओ  
 बंगला बारी म, बंगला बारी म नींद आ गो ओ  
 तोला साबर धरे ल नई आवय का गा  
 अंगरी म मारे सपोटन म तेल  
 बोक बाय टूरा देखय काला ओ  
 बंगला बारी म, बंगला बारी म नींद आ गो ओ

दूसरे दिन होता है मण्डपाच्छादन। इसके लिए पुरुषों द्वारा आम व गूलर की डालियाँ लाई जाती हैं। मण्डप के एक कोने में हल गाड़ा जाता है। यह छत्तीसगढ़ की कृषि संस्कृति का परिचायक जो है। मण्डप में आम या गूलर की डालियाँ छाने व इससे मगरोहन बनाने के पीछे एक किंवदंती है। यह किंवदंती महाभारत से जुड़ी हुई है। कहा जाता है कि-राजा गांधार की बेटी गांधारी विवाह योग्य हुई तो उसकी सगाई हुई। जिस युवक से उसकी सगाई हुई उसकी मृत्यु हो गई। अक्सर ऐसा ही होता रहा। जिस युवक से उसकी मंगनी होती, उसकी मृत्यु हो जाती। राजा बड़े चिंतित हुए। उन्होंने ज्योतिषियों से इसका उपाय पूछा। ज्योतिषियों ने उपाय बताते हुए कहा-'राजन! अपनी बेटी का विवाह पहले आम या गूलर वृक्ष से करो।' राजा ने वैसा ही किया। उसकी पुनः सगाई हुई। अब की बार घटना की पुनरावृत्ति नहीं हुई। छत्तीसगढ़ का लोक मानस आज भी इस विश्वास को अपने हृदय में बनाये रखे है।

हरियर हरियर मोर डोंगरी दिखत हे ओ  
 पियर पियर मोर दिखय ओ बाँस  
 X X X  
 तोर घर आयेन बईठ नई के हे  
 का गुन का गोठियाबो रे भाई  
 आमा ल मारे झेंझरिया झेंझरिया  
 अमली ल मारे तुसारे रे भाई

बईगिन ल मारे बोली बचन में  
 खड़े-खड़े पछताये रे भाई  
 X X X  
 बईगा भईया मंगरोहन बनाये  
 खड़े-खड़े मुस्काये रे भाई  
 हरदी ह कहिथे मैं बड़े मैं बड़े  
 चंदन ह कहिथे मैं सबो ले बड़े  
 छै वो महीना ले हरदी ल सोंचेंव  
 सोंची डारेंव दाई मैं रचेंव ओ बिहाव  
 मरार बारी दाई मोरे जनामन  
 बनिया दुकान मैं लिहेंव अवतार  
 होंटे ओ बजारे म दाई आयेंव बेचायेंव  
 तोर घर दाई मैं आयेंव ओ सिंगार

छत्तीसढ़ का लोकजीवन आज भी अपने ग्राम देवी-देवताओं के प्रति आस्थावान है। प्रत्येक शुभ कार्य में उन्हें गीतों के द्वारा आमंत्रित किया जाता है। भला विवाह जैसे शुभ कार्य में लोक देवताओं को आमंत्रित करना लोग कैसे भूल सकते हैं। स्त्रियाँ गीत गाती हुई 'देवतेला' जाती हैं। वे स्थानीय ग्राम देवताओं यथा- शीतला, ठाकुरदेव, साहड़ा देव व मंदिरों में अन्य देवी-देवताओं को हल्दी और तेल लगाती हैं। उनकी पूजा-अर्चना कर, विवाह निर्विघ्न संपन्न होने की कामना कर उन्हें विवाह में आमंत्रित करती हैं। लोक आस्था का यह प्रतीक देवतेला लोक को ऊर्जावान बनाता है।

तरिया के पार म झील अऊ बोईर  
 कउन अम्मठ कउन मीठे गंगाजल  
 लाली लाली गोंदा फूले-जय हो।  
 संग जहूरिया के बईठक करि ले  
 कउन बईरी कउन हिते गंगाजल  
 लाली लाली गोंदा फूले-जय हो।  
 बाम्हन बईरागी के संगत कर ले  
 मरना हे गंगा के तीरे गंगाजल  
 लाली लाली गोंदा फूले-जय हो।  
 X X X

आमा तरी अमली बगईचा तरी झिरिया  
 झिरिया नहाय के बड़ साधे रे भाई  
 झिरिया नहावत पहुँची गंवईगे  
 काला पहिर घर जावंव रे भाई  
 पहुँची के बलदा पहुँची गढ़ईबो  
 उही ले पहिर घर जाबो रे भाई ॥

वर कन्या को हल्दी लगाई जाती है। विवाह में नेगों की अधिकता है। जितने नेग उन सबमें अलग-अलग गीत गाने की परम्परा। नहडोरी नेग में वर को विधि-विधान से नहलाया जाता है और उसका श्रृंगार किया जाता है। सूरज की तरह दैदीप्यमान चेहरा, माथे पर सजा मौर, अंग में नये वस्त्र, हाथों में कंकन और कटार एक अलौकिक आभा। लोक का यह आलोक अपनी सम्पूर्ण आभा के साथ लोक मानस को अपने में समाहित कर लेता है, फिर बाजा गाजा और फौज फटाका के साथ महिलाएँ बारात को विदा करती हैं। गंडवा बाजा गमकने लगता है।

सीता जो मांगे अजोध्या के राजे  
 सरजू नहाय के बड़ आसे  
 ये हो राम सरजू नहाय के बड़ आसे  
 सरजू नदी के तीर अवध नगरिया  
 जहाँ बसे राम लखन दूनों भईया  
 ये हो राम सरजू नहाय के बड़ आसे  
 X X X  
 पाँचे वो अंगुरी म पानी छिटकारे  
 संउपव दाई मोर माथे के मउर  
 पाँचे हाथे संउपव चंदा वो सुरुज ल  
 पाँचे हाथे संउपव मोर माथे के मउर  
 काजर अंजड़ ले सोने कजरउटी  
 संउपव दाई मोर माथे के मउर

बारात विदा के पश्चात् घर में महिलाएँ ही रह जाती हैं। तब स्वतंत्र रूप से नाचने गाने के लिए उनका उत्साहित होना स्वभाविक है। वे अपना मनोरंजन अपने ढंग से करती हैं। विभिन्न प्रकार के स्वांग करती हैं और पुरुषों का रूप बनाकर हास-परिहास और



मनोविनोद करती हैं। सारी मर्यादाएँ व शिष्टताएँ सिमट जाती हैं। वे उन्मुक्त रूप से परस्पर छेड़खानी कर आनंदित होती हैं। वहाँ पुरुषों का प्रवेश निषेध रहता है। यह नेग 'नकटा नाच' कहलाता है-

उतरो उतरो सुवना अरछिन परछिन  
फोलो चना कई दारे हो महरंगी सुवा  
जीव नैना लड़ाके उड़ि चले  
उड़ि चले नई तो भागी चले महरंगी सुवा  
नई उतरन हम अरछिन परछिन



नई फोलन चना कई दारे हो  
उतरो उतरो सुवना महल अटारी  
खावव लाली मिरचा हो महरंगी सुवा  
नई उतरन हम महल अटारी  
नई खावन लाली मिरचा हो  
हम तो उतरबो समधिन के अंगना  
समधिन के रस लेबो हो महरंगी सुवा ।।

वधू के गाँव में बारात आगमन के साथ ही चारों ओर आनन्द और उल्लास छा जाता है। चहल-पहल बढ़ जाती है। गंडवा बाजा और फौज फटाका का मोहक स्वर सुन पांव अनायास थिरकने लगते हैं, एक अद्भुत उमंग की बेला, जैसे श्रीराम जी सीता को ब्याहने आये हैं। साधारण गाँव जनकपुरी की शोभा पाता है। यह लोक की ही उदारता है कि सामान्य वर-वधू को भी

राम-सीता की संज्ञा दी जाती है। बारात परघाई जाती है। परघौनी पश्चात् दूल्हा द्वारा मड़वा छुआ जाता है। जेवनार में सुवासिने रंगोली रचती हैं। दूल्हा को भाजी खिलाने का नेग करते हैं। कुँवर कलेवा दिया जाता है। सब कुछ आनन्द से संपूरित और अलौकिक। बारातियों का स्वागत भड़ौनी गीतों से किया जाता है। भड़ौनी गीत और कुछ नहीं, प्रेम और स्नेह के सूत्र में गूँथे हुए हास-परिहास के मोती हैं। आत्मीय संबंधों का कलकल निनादित झरना है।

अइसन समधी ऊंचा ऊंचा दिखथे  
गाड़ी फांदे के मजा दिही रे दिही रे  
कुंजन गली, कुंजन गली बड़े भंवरा रे भंवरा रे  
अइसन समधी ऊंचा ऊंचा दिखथे  
घोड़ा चढ़हे के मजा दिही रे दिही रे कुंजन गली।

सुवासिने मंडप लीपकर चौक पूरतीं हैं, मंगल कलश सजाती हैं, दीप जलाती है। आगतों के स्वागत में नेह लुटाती हैं। पण्डित की उपस्थिति में झाँपी व वर बुलाव होता है। और फिर मंत्रोच्चार के साथ दो शरीर, दो अपरिचित मन-प्राण से, पाणिग्रहण के नेग से एक हो जाते हैं, जनम जुग के लिए। अग्नि के साथ फेरे लेकर जन्मों के लिए बंध जाते हैं- वर और वधू प्रेम के बंधन में। एक अतृप्त प्यास तैरती है होंठों पर, और आँखों में सजते हैं नये सपनें। जीवन पथ पर साथ-साथ बढ़ने के लिए, लिए जाते हैं संकल्प। सिंदूर की आभा से आलोकित होता है नवदंपति का जीवन और उदित होता है संकल्पों का सूरज।

कोन तोर टीके नोनी अचहर-पचहर  
कोन तोर टीके धेनु गाय  
कि अओ नोनी सीता ल बिहावे सिरि राम  
दाई तोर टीके नोनी अचहर पचहर  
ददा तोर टीके धेनु गाय  
कि अओ नोनी सीता ल बिहावे सिरि राम

जहाँ उल्लास है वहीं विषाद भी, जहाँ छाँव है वहीं धूप भी। जीवन में सुख-दुख दोनों का समन्वय है। माँ-बाप का हृदय पुलकित होता है अपनी बेटी के विवाह पर, किन्तु आँखें निर्झर की तरह झरती हैं अनवरत। भाई भी अपने आँसुओं को छुपा नहीं पाता। सगे-संबंधी सुसकते हैं। लोक में टिकावन के अंतर्गत

पहचर (पाँच बर्तन) देने की प्रथा आज भी निष्कलंक है। लोक में स्वार्थ और लालच की आँच अब तक नहीं पड़ी है। शिष्ट तो आज दहेज की आग में जल रहा है। ऐसे में लोक का आचरण अनुकरणीय और अभिनंदनीय है। 'यही है लोक संस्कार की गंगा'।

हलु-हलु पाँव धरौ हो दुल्हन नोनी  
तुंहर रजवा के अंग झन डोलय हो  
हलु-हलु पाँव धरौ हो दुल्हा बाबू  
तुंहर रनिया के अंग झन डोलय हो  
एक भांवर एक जुग भईगे हो दुल्हन नोनी  
तुंहर रजवा के अंग झन डोलय हो  
X X X  
नई उवय चंदा दाई नई उवय सुरुजवा  
कईसे के दाई मैं जाहूँ ओ ससुरारे  
उवव रे चंदा भई उवव रे सुरुजवा  
तुंहरे अंजोर म जाहूँ ओ ससुरारे

दाई मोर रोवथे रंगे ओ महल म  
ददा मोर रोवथे बिचे ओ दरबार  
सुनव अरोसिन सुनव परोसिन  
दाई के बहिनी मोर मन बोधी दे।

छत्तीसगढ़ में वैवाहिक परम्पराओं में विवाह गीतों की अनिवार्यता यहाँ के लोक जीवन के आनन्द और उमंग को व्याख्यायित करती है। ये विवाह गीत जनमानस को अपनी लोक संस्कृति और माटी की सोंधी-सोंधी गंध से जोड़े हुए हैं। आज भी ग्रामीण महिलाओं के कंठ से झरते ये विवाह गीत लोक जीवन में मनोविनोद, हास-परिहास, प्रेम और करुणा के भाव जगाते हैं, उनके मन को महकाते हैं, उनकी सद्भावनाओं को छलकाते हैं और अंतर्मन की प्यास को बुझाते हैं। यह लोक गंगा निरंतर प्रवहमान रहे, यही कामना है-

माटी की सोंधी गंध लिए, प्रेम अनुराग का छंद लिए।  
झरता रहे लोक का निर्झर, विश्वासों का अनुबंध लिए।।

## पूर्वांचल में झुलनी

डॉ. रामनारायण 'मधुर'

पूर्वांचल के ग्राम्य अंचल में झुलनी का विशेष महत्त्व है, या यों कहें कि झुलनी यहाँ की पहचान है। कहीं भी मेले-ठेले, हाट-बाजार, जहाँ भी जायें और कोई आभूषण हो न हो ग्राम्य ललनाएँ झुलनी पहने अवश्य नजर आयेंगी। झुलनी यहाँ की तहजीब, यहाँ की संस्कृति में रच-बस गई है।

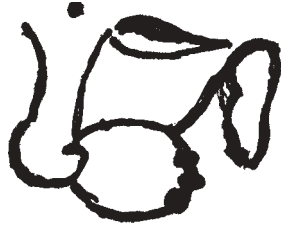
झुलनी के अतिरिक्त नथ का प्रचलन भी आरंभ से रहा है। नथ सर्वव्यापी है, कमोवेश पूरे देश में जिसका चलन अब भी है। विशेष अवसरों पर नथ आवश्यक मानी जाती है। विशेषकर विवाह-गौने के अवसर पर अन्य आभूषणों के अतिरिक्त नथ छोटी या बड़ी सुहाग के प्रतीक के रूप में अपनी पहचान बना चुकी है। तीज-त्योहारों पर भी नथ पहनना आम बात है।

परन्तु झुलनी की बात ही और है। इस क्षेत्र विशेष में अन्य कोई आभूषण हो न हो, झुलनी के बिना सब अधूरा है। पूर्वांचल में देवर-भाभी की नोक-झोंक, देवरानी-जेठानी के ताने, पड़ोसिनों की ईर्ष्या सब झुलनी को लेकर ही होते हैं।

नई-नवेली की पहली माँग झुलनी की ही होती है। मुश्किल बात यह है कि संयुक्त परिवार में सोने की झुलनी बनवाना टेढ़ीखीर होता है। कृषि प्रधान क्षेत्र में इतनी बचत कर पाना या अनाज बेचकर पत्नी के लिए झुलनी बनवा पाना एक प्रकार से असंभव है। जहाँ पूरे परिवार की आवश्यकताओं का ध्यान रखना होता है, वहीं परिवार के अन्य सदस्यों की मनः स्थिति का भी ध्यान रखना होता है कि कोई अन्यथा न ले। परन्तु पत्नी की जिद, उसकी मनुहार को क्या करें। वह जब-तब झुलनी को लेकर रूठी रहती है। यद्यपि भूसा बेचकर तो झुलनी बनने से रही, फिर भी एक बानगी देखिये-



नथ छोटी



नथ बड़ी



बुलाक



झुलनी



बेसर के साथ झुलनी

भूसा बिकाइ झुलनी लै दे बालम ।  
 भूसा बिकैहैं, बैल काउ खइहैं,  
 बैलउ बिकाइ, झुलनी लै दे बालम ।  
 बैला बिकैहैं, खेती कइसे होइहैं,  
 खेतउ बिकाइ, झुलनी लै दे बालम ।  
 खेती बिकइहैं, लरिका काउ खइहैं,  
 लरिकउ बिकाइ, झुलनी लै दे बालम ।  
 लरिका बिकैहैं, हमहु कइसे जीवै,  
 तुमहु बिकाउ, झुलनी लै दे बालम ।  
 भूसा बिकाई.....

अन्ततः पति को इस झुलनी की माँग पूरी करने के लिये परदेश की राह पकड़नी पड़ती है। परदेश यानी दिल्ली, बम्बई, अहमदाबाद, कानपुर या फिर कलकत्ता। पूर्वांचल के लिये तो कलकत्ता परदेश का पर्याय ही बन गया है।

लागा झुलनिया का धका,  
 बालम कलकत्ता निकरि गये।

बलम परदेश तो निकल गये, परन्तु पत्नी सदैव-संशय में पड़ी रही है।

पुरुब मत जइयो राजाजी,  
 सौतन के लम्बे-लम्बे बाल,  
 उलझि मत जइयो राजाजी

यहीं तक नहीं उसने बंगाल के जादू के बारे में भी सुन रखा है, कहीं ऐसा न हो, अतः वह पति को पूरब जाने से बरजना भी नहीं भूलती।

पुरबै पुरुबै जिन जाया हो बलमुआ,  
 कि पुरबै का पनिआ खराब रे बलमुआ,  
 वहि रे पुरबवा में रहे बंगलिया,  
 कि जदुआ से करली शिकार रे बलमुआ,  
 जदुवा हि डारि-तोहै सुगना बनइहै,  
 कि टंगिहैं लवंगिया की डार रे बलमुआ

परन्तु बलमुआ परदेश चले गये। आखिर झुलनी जो बनवाना

है। मरने पर पत्नी उनके नाम की माला जपती रहे।

आजु के गइल भौरा कहिया ले लौटब्या,  
कतिक दिनवा हम जोहब तोहर बटिया, कतिक दिनवा।

पति परदेश से वापस घर लौटता है, झुलनी भी ले आता है। पत्नी झुमकाकर जहाँ-तहाँ इठलाती फिरती है। परन्तु न जाने किसकी नजर लग गई कि झुलनी हेरा गई।

इही ठैयाँ झुलनी हेरा गई गुंइयाँ,  
कुंअना पे हेर्यो, जगतिया पे हेर्यो,  
महरा से पूछत लजाइ गयो गुंइयाँ,  
बाग में हेर्यो बगीचा में हेर्यो,  
मलिया से पूछत लजाइ गयो गुंइयाँ,  
महला में हेर्यो, दुमहला में हेर्यो,  
देवरा से पूछत लजाइ गयो गुंइयाँ,  
सेजा पे हेर्यो, सुवेती पे हेर्यो

कहीं ऐसा तो नहीं है, झूमा झटकी में झुलनी कहीं सेज पर ही तो नहीं गुम गई। पत्नी अनमनी होकर बैठी रहती है, वह कह उठती है।

बलम तोरी सेज आवत डर लागे,  
रतिया बलम तोरी सेज झुलनियां हेरानी।

पति बेचारा क्या करे, पत्नी की मनुहार कर-करके थक जाता है और अबकी बार हजारी (हजार मोहरों) झुलनी लाने का वादा करता है, वह मान लेता है कि 'रसरंगा में टूटल झुलनिया'।

रसरंग में टूटल झुलनिया,  
मोसे बोलो न प्यारे ओरी हाँ।  
मथवा बेनी टीका उतारी,  
कानन कर कुण्डल फोरि डारी।  
हंसुली हार हबेल उतारी,  
सोने का कड़ा उतारी पवारी।  
अनख है बैठी ओसारे,  
मोसे बोलो न प्यारे ओरी हाँ।  
नकबेसर, नथिया, लटकनिया  
चौकी बिजायठ, बाजूबंद जोसनिया  
मोती, बुलाक, रेसम की तनिया,  
नवगिरही, चूड़ी, चन्दा, कंगनिया  
आभूषण सब धरत उतारे,  
जहर खाई कूदौ इनारे  
मोसे बोलो न प्यारे ओरी हाँ।  
बिहाँसि पिया बोले सुनु प्यारी,  
झुलनी हेतु भई रिस भारी,  
होत भोर बनवउबै हजारी,  
कइके सिंगार चलि चला अटारी।  
रसिक दिन देखि बिचारी,  
मोसे बोलो ने थरे ओरी हाँ।

ऐसी तीव्र लालसा होती है झुलनी की। पति भारी झुलनी के लिये परदेश चला गया, इधर पत्नी को उसका प्रवास भारी पड़ रहा है। 'रेलिया हैगै मोरि सवतिया पिया के लादि लै गै ना कलकत्ता की नोकरिया, पिया के लादि लैगै ना'

## रामकथा : आर्य या आर्येतर

डॉ. प्रतापसिंह चन्देल

ऐड़ भारतेन महामानवेन सागरतीरे  
हेथाय आर्य हेथाय अनार्य  
हेथाय द्राविड़, चीन, शक, हूण दल, पठान, मुगल  
एक देहे होलोलोलीन

ये पंक्तियाँ कविश्रेष्ठ रवीन्द्रनाथ की हैं, जो कहती हैं कि इस भारत देश में आर्य, अनार्य, द्रविड़, किरात, मुण्डा आदि प्रजातियाँ ऐसी मिली हैं, जैसे महासागर का जल। उसमें से किसी नदी का पानी विलग करके पहिचानना मुश्किल है। 'भारत में जो आज साधारण मानव हैं, वे आर्य, द्रविड़, आस्ट्रिक एवं किरात के मिलन से उनके बीच अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न संतान हैं।' जो यहाँ के सभी मूल निवासी हैं। कुछ विद्वानों का कहना है कि भारत में मानव-जाति की उत्पत्ति ही नहीं हुई है। उनका मत है कि यहाँ सबसे पहले नीग्रो प्रजाति के लोग आकर बसे। उसके बाद पश्चिम एशिया से आस्ट्रिक जातियों के लोग (संथाल, मुण्डा, भील, शबर इत्यादि) तिब्बत के रास्ते से यहाँ आकर बसे। इनके बाद द्रविड़ जाति के लोग भू-मध्य सागरीय क्षेत्र एशिया माईनर से भारत में पश्चिम दिशा से आये। द्रविड़ों के बाद आर्य जातियाँ भू-मध्य एशिया/यूरोप/उत्तरी ध्रुव प्रदेश से आयीं। उत्तर-पूर्व दिशा से चीनी-तिब्बती लोग जो प्राचीन भारत में किरात कहलाते थे, आये। भारतीय भू-गर्भिक अनुसंधानों के सर्वेक्षण के आधार पर डॉ. सुनीति कुमार चटुर्ज्या ने लिखा है कि यह तो अब तक पता नहीं चला है कि भारत की भूमि पर किस प्रकार का मानव सर्वप्रथम उदय हुआ था या नहीं, यद्यपि अत्यन्त प्राचीन मानव-सदृश्य वानरों के अवशेष यहाँ प्राप्त हुये हैं। ऐसे विद्वानों की माने तो भारत के अन्दर मानव की उत्पत्ति हुई ही नहीं। दुर्भाग्य की बात है कि भारत देश के अन्दर आदि-मानव की उत्पत्ति के साक्ष्य ढूँढने में इतिहासकार एवं पुरातत्वविद् अभी तक असफल रहे हैं। 'अभाग्यवश अभी तक हमें आदिमानव का कोई अस्थिपंजर उपलब्ध नहीं हो सका, जिसके आधार पर हम उसकी जाति के विषय में अनुमान कर सकें।'

इसके विपरीत यह भी सत्य है कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों में आदि-मानव के आवास, हथियार, औजार एवं अन्य सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं। पंजाब, नर्मदा घाटी, सावरमती की घाटी, कुर्नूल, कड़प्पा, महाराष्ट्र में मुधा नदी, मध्यप्रदेश में भीमबैठका आदि ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ आदिमानवों के रहने के प्रमाण हैं। जब दुनिया के विषम जलवायु क्षेत्र में आदि मानवों की उत्पत्ति हो सकती है, तो भारत में क्यों नहीं? उपलब्ध प्रमाणों से साबित होता है कि भारत के अन्दर ही अलग-अलग जलवायु क्षेत्रों में अलग-अलग प्रजातियाँ उत्पन्न हुईं।

वैदिक वाङ्मय में वर्णित युद्ध की घटनाओं को पढ़कर कतिपय लोगों को भ्रम हो उठता है कि हो न हो, यहाँ आर्य-अनार्यों का ही युद्ध हुआ होगा। युद्ध की घटनाओं के आधार पर किसी को बाहर-भीतर का नहीं कहा जा सकता। कारण कि युद्ध तो मनुष्य की नियति है। मनुष्य जाति की उत्पत्ति से लेकर आज पर्यंत किन्हीं दो पक्षों में युद्ध होते आये हैं और होते रहेंगे, आपस में भी और दूसरों से भी। डॉ. अविनाश चन्द्रदास ने लिखा है कि 'आर्यों के दो वर्ग हो गये थे। एक देवों का उपासक था,



दूसरा असुरों का उपासक हो गया। दोनों में भयंकर युद्ध हुआ, जो देवासुर संग्राम के नाम से उल्लिखित है, इस संग्राम में असुर उपासक परास्त हुये और पश्चिम की ओर ईरान में जाकर बस गये। सिंधु घाटी की सभ्यता कोई विदेशी सभ्यता नहीं थी।' बुद्ध प्रकाश, रंगानाथराव और आल्विन जैसे शोध-कर्ताओं ने प्रमाणित किया है कि सिंधु सभ्यता भी आर्य सभ्यता ही थी। डॉ. अविनाश दास ने आर्यों के मूल स्थान के रूप में सप्तसैधव को, डॉ. राजबली पाण्डे ने मध्यदेश को, डॉ. एल.डी. कल्ल ने काश्मीर को तथा डॉ. त्रिदेव ने मुल्तान को आर्यों का आदि स्थान माना है। सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का अध्ययन करने के बाद विद्वान पावगी ने यह निष्कर्ष निकाला कि 'इनमें ऐसे कोई साक्ष्य नहीं है, जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि आर्य बाहर से आये हैं (दी

आर्यावर्तिक होम ऑफ दी आर्यस)। मात्र एकांगी पक्षों को सामने रखकर नीग्रो, आस्ट्रिक, द्रविड़ एवं आर्यों को बाहर से आना कहा गया। कभी यह नहीं सोचा गया कि भारत की भौगोलिक एवं जलवायुगत भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ हैं, जिनके कारण नानाविध रंग-रूप, संस्कृति एवं भाषागत भेद विकसित होना स्वाभाविक है और ये भारत में संभव है, जिनके प्रमाण उपलब्ध हैं।'

संसार के सबसे प्राचीनतम ग्रन्थों में वेदों का स्थान सर्वोपरि है। जब संसार में लिपि ही नहीं बनी थी, मात्र मौखिकी भाषा

चलती थी, तब भारत में भी 'परम्परागत ज्ञान' प्रदान करने की विधि प्रचलित थी। लोग अपने ज्ञान को वाणी के माध्यम से दूसरों के कानों तक पहुँचाते थे, यह विद्या कानों द्वारा ही सुनी जाती थी, इसलिये इन्हें 'श्रुति' कहा गया। धीरे-धीरे लिपि विकसित हुई। ताड़पत्रों आदि में लेखन शुरू हुआ, जब कभी ताड़पत्रादि सड़ जाते थे, तब स्मरण शक्ति के आधार पर कोई दूसरा, तीसरा या चौथा आदमी उसी विद्या को पुनः सृजित करता था। फलस्वरूप विषयवस्तु में परिवर्तन होता रहा। अब जो लोग इन ग्रन्थों के शब्दों को पकड़कर उनमें

आर्य-आर्येत्तर संघर्ष ढूँढते हैं, पहले मौखिक भाषा में होने वाले परिवर्तन की प्रकृति को जान लें, बाद में इतिहास ढूँढने की हिम्मत करें।

ज्ञात हो, लिपि के आविर्भाव के पूर्व भारत के मूल निवासियों में राम की मौखिकी कथा प्रचलित थी। जिन पाठकों को वेदों में राम की कथा न मिले, उन्हें परेशान होने की जरूरत नहीं। कारण कि 'लोक' और 'वेद' अलग-अलग हैं। 'वेद' अर्थात् नियम, सूक्त, मान्यताओं, आचार-संहिता तथा 'लोक' वह है, जो इससे हटकर स्वतन्त्र, निर्बाध, परिवर्तनशील एवं सामान्य जनता के बीच रची-बसी उनके दुख-सुख से जुड़ी अभिव्यक्तियाँ। 'वेद' शास्त्रीय परम्परा है, जबकि 'लोक' जमीनी हकीकत है। वेदों का

संबंध कुलीन और ज्ञानीजनों से है, तो लोक का सामान्य जनों से है। सम्भवतः इसी कारण लोक जीवन में प्रचलित राम की कथा को कथा मानकर वेदों में महत्त्व नहीं दिया गया। इसीलिये 'वेद' ज्ञानराशि के संचित कोश तो बने रहे, लेकिन लोक जीवन के रसों से अछूते रह गये। तमाम भारत की विविध जातियों के बीच जब लिपि ही नहीं बनी थी, तब लोक में प्रचलित राम की नानावर्णी कथा को सर्वप्रथम वाल्मीकि नामक लोक से जुड़े हुये यहीं के आदि-निवासी ने अपने ढंग से इस कथा को व्यवस्थित कर गायन योग्य बनाया और उसे कुशीलवों को सिखा दिया। ये कुशीलव गायक वर्ग थे, जो पीढ़ी दर पीढ़ी राम की कथा का गायन करते रहे। 'कई शताब्दियों तक मौखिक रूप से प्रचलित होने के कारण उसका पाठ स्थिर नहीं रह सका, काव्योपजीवी कुशीलव अपने श्रोताओं की रूचि का ध्यान रखकर लोकप्रिय अंश घटाते-बढ़ाते रहे। इससे वाल्मीकि विरचित रामकथा समय एवं लोकरूचि के कारण परिवर्तित होती गई। इसमें इतिहास ढूँढना नासमझी ही होगी। वाल्मीकि के लगभग 1000 साल बाद ईसाई धर्म एवं लगभग 1500 साल बाद इस्लाम धर्म का अस्तित्व सामने आता है। जो लोग इन हजारों साल बाद आये आयातित धर्मों के चश्मे चढ़ाकर स्वयं की आँखे विकृत कर भारतीय लोक मानसिकता में खोट देखते हैं, उन्हें पहले अपनी आँखों का जाला काटना होगा। विकृत-दृष्टियाँ वेद, रामायण एवं महाभारत की अटपटी व्याख्या कर आर्य-अनार्य का भेद पैदा करके समन्वयशील भारतीय वातावरण में द्वेष फैलाने का षडयंत्र रचती हैं। उन्हें सहिष्णुता का वह महासागर दिखाई नहीं देता, जिसे रवीन्द्रनाथ ने 'महामानव समुद्र' कहा है।

राम किनके आराध्य थे? आर्य, अनार्य, आस्ट्रिक, द्रविड़ मंगोल या किरात। यदि राम केवल आर्यों के देवता होते तो किरात-वर्गीय व्याध (बहेलिया, दस्यु, यायावर आदि) वाल्मीकि द्वारा रामायण न रची जाती। तब अवश्य ही कोई पुरोहित इसका रचनाकार होता और उनके राम भी राजमहल के ठाठबाट की जिन्दगी त्यागकर वनवासियों के बीच मारे-मारे न फिरे होते। एक आर्य देवता को आर्येतर लोग क्यों महत्त्व देते? और राम भी केवट को भाई, निषाद को मित्र, वानरों को दोस्त, विभीषण को सखा, शबरी को बहन और जटायु को पिता न बनाते। राम अवश्य ही भारत के आदि निवासियों के पूज्य थे। समझने की

बात है, जो लोग राम को किसी खेमे में बांधकर देखते हैं, वे मतिभ्रम के शिकार हैं। संत कबीर जैसा लोक से जुड़ा प्रवक्ता कौन होगा, जिसने जीवन भर चिकनी-चुपड़ी बातें करना नहीं जाना। वह आर-पार की बातें करता है। उन्होंने 'राम' को जो लोग दशरथ पुत्र कहते हैं, उन्हें निरा-अज्ञानी कहा है। 'दशरथ सुत तिहु लोक बखाना, राम नाम कर मरम है आना'। राम तो भारत की आत्मा में बसे है- 'घट के अंदर रम रहा उसको तू पहिचान रे।'

कुशंका न हो, ईसा से पहले ही बौद्ध एवं जैन धर्मों के प्रचार के दौरान राम की कथा भी लंका, तिब्बत, नेपाल, हिन्दचीन, कम्बोडिया, श्याम, वर्मा, जावा, मलय आदि देशों तक फैल चुकी थी। ईसा से पहले ही राम की कथा न केवल भारतीय वरन् एशियाई संस्कृति का अंग बन चुकी थी। सारे संसार में रामकथा की बराबरी का प्राचीन एवं व्यापक-चरित्र उपलब्ध नहीं है। उत्तर भारत की समस्त आर्य भाषाओं के अतिरिक्त द्रविड़ भाषा के तमिल में कंबन रामायण, तेलगू में द्विपद रामायण, मलयालम में रामचरित और कन्नड़ में तोखे रामायण हजारों साल पूर्व की रचनायें हैं। तमाम उपलब्ध साक्ष्यों से स्पष्ट है कि भारत के सभी मूल निवासियों में अपने-अपने राम के पसंदीदा आख्यान प्रचलित हैं, जो देश से लेकर विदेश तक जाते-जाते बहुरंगी हो गये। 'सिंहली रामकथा में राम अकेले बन जाते हैं, उनकी अनुपस्थिति में सीता का हरण होता है। लंकादहन हनुमान नहीं, अपितु बाली के द्वारा किया गया है। काश्मीरी रामायण में मन्दोदरी के गर्भ से सीता का जन्म होता है, तिब्बती रामायण में सीता को राम की पुत्री कहा गया है। राम स्वेच्छा से राज्य त्याग करते हैं तथा लक्ष्मण को राज्य सौंपा जाता है। खोतानी रामायण में वनवास के समय राम और लक्ष्मण सीता से विवाह करते हैं। मलाया की रामायण में लक्ष्मण, सूर्पनखा से विवाह करते हैं। हिकायत सेरीराम में रावण दुराचारी होने के कारण निष्काषित किया जाता है। दशरथ का मन्दोदरी के साथ विवाह तथा अंगद मन्दोदरी के पुत्र हैं। श्यामदेश की रामकथा के सभी पात्र श्याम देश के निवासी हैं तथा रामायण की सारी घटना उन्हीं की देश की घटना है।

इन तमाम विविधताओं के बीच राम की कथा का एक सूत्र में गुंफित होना, भारत की अनेकता में एकता की प्रकृति है। इसे न समझकर जो लोग मानस की दो चार चौपाई पढ़कर उसी



में इतिहास के बाल नोचने लगते हैं, आर्य-आर्येत्तर संघर्ष ढूँढने लगते हैं, उन्हें पहले यह तो जान लेना चाहिये कि गोस्वामी तुलसीदास ने रामचरित मानस की रचना मुगलकालीन परिवेश में लोकादर्श को ध्यान में रखते हुए की है। उन्हें इस बात की अशंका पहले से ही थी कि कतिपय लोग इसमें इतिहास को खोजने का यत्न करेंगे। ऐसे महानुभावों को कई बार (बहुरि बंदि खलजन सतभाये) स्पष्टीकरण दिया कि 'मैं तो सब कर हित होई'। ऐसी कथा लिख रहा हूँ और यह कथा भी मैंने नहीं बनाई। यह तो इस देश के जन-जन में पूर्व से प्रचलित है। 'मुनिन प्रथम हरि कीरति गाई, तेही मग चलत सुगम मोहि भाई।' इतनी स्पष्टता के बाद भी अन्य विचार उचित नहीं।

आखिर बुद्धिभ्रम होता क्यों है? जब हम परपोषित व्याख्या से पीड़ित हों अथवा पूर्वाग्रह ग्रसित हों। राम कथा के संबंध में की गई अजीबो-गरीब व्याख्याओं से हमारे बीच के कतिपय लोगों ने कुपोषण प्राप्त किया है। उन्हें निराधार नहीं मानना- 'डॉ. बेबर की व्याख्या है कि रामायण आर्यों की कृषि सभ्यता का प्रसार करने हेतु रूपक

काव्य है। बेबर की यह व्याख्या असंगत है, कारण कि भारत प्रारंभ से ही कृषि प्रधान देश था। जे.टी. व्हीलर का मत है राम कथा में ब्राह्मण और बौद्धों का संघर्ष है, राक्षसों से अभिप्राय बौद्धों से है। दिनेश चन्द्र सेन ने लिखा है बौद्ध गृहस्थ विरोधी थे। इसलिये वाल्मीकि ने बौद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप रामायण लिखा। ये दोनों मत अतार्किक हैं। यदा तोरे सुब्बाराव ने रामायण को दार्शनिक ग्रन्थ कहा है। ई. मूर ने इसे दार्शनिक ग्रन्थ कहा। राम लोक रूचि के देवता थे, इसके साथ ही आदिकवि कोई दर्शन देना नहीं चाहते थे। एस. वेंकटरत्नम् का मत है कि रामकथा का इतिहास मिश्रदेश के राजा रैमसेंस की कहानी की नकल है। यह मत भी असंगत है। डॉ. यकोबी ने माना है कि वैदिक काल में पशुपालन होता था। गायों का हरण ही सीताहरण है तथा हनुमान वर्षा के



देवता थे, वायु-पुत्र थे, इसलिये वे दक्षिण की ओर से सीता अर्थात् कृषि के संबंध में शुभ समाचार लेकर राम के पास पहुँचते हैं। ई. हापकिन्स ने भी यह माना है कि राम का चरित्र भारत का प्राचीनतम आख्यान है, बाद में इसे सीता (कृषि की अधिष्ठात्री) की कथा से जोड़ दिया गया और अंत में वाल्मीकि के द्वारा रावण, हनुमान, लंका आदि के वृत्तान्त लेकर उसे आगे बढ़ाया गया। ईसा पूर्व रचित बौद्ध ग्रन्थों में रावण को बौद्ध मतावलम्बी

तथा जैन ग्रन्थों में जैन धर्मावलम्बी चित्रित किया गया है। कुछ विद्वानों ने हनुमान को द्रविड़ शब्द मानकर 'वृषाकपि' शब्द से सम्बद्ध कर द्रविड़ देवता कहा है। यदि इसे मानें तो महाभारत में वृषाकपि अनेक आर्य देवता-विष्णु, शिव, इन्द्र के समतुल्य माने जाने वाले देव हैं। ऐसे ही व्याख्याकारों ने रामायण में आर्य और आर्येत्तर संघर्ष का कुपथ्य परोस दिया, जिसे कुछ लोग पचा नहीं पा रहे हैं।

ध्यान देने की बात है कि इस ग्रन्थ में वर्णित राक्षस, वानर, भालू, गीध कोई मानवेत्तर प्राणी नहीं है। रामकथा के सहभागी पात्र हैं। जो भारत वंश के थे, जिनके बीच राम की कथा पूर्व से चल रही थी और जो इस आख्यान से

जुड़े थे, जो यह नहीं समझते कि मौखिकी परम्परा में चलने वाली लोककथायें दीर्घावधि में प्रतीकात्मक हो जाती हैं, जैसा कि किस्से-कहानियों में हो जाया करता है। साहित्य में प्रतीकात्मक विधान होता है, अन्योक्ति, समासोक्तियाँ होती हैं, उनमें इतिहास नहीं ढूँढा जाता। दशग्रीव (दस सिर वाला) कुभकर्ण (घड़े जैसे कान वाला) मेघनाद (मेघ जैसा चिल्लाने वाला) प्रहस्त (लम्बे हाथ वाला) अहिरावण (सर्प जैसा खतरनाक) विभीषण (भयभीत होने वाला) के अतिरिक्त हनुमान का हजार कि.मी. उड़ान, पहाड़ उठाना, राम का बिना अस्त्र प्रयोग चौदह हजार सेनानियों का वध करने के प्रतीकात्मकताओं में कहाँ तक इतिहास खोजेंगे। पहले स्वयं का भ्रम दूर हो, तब दूसरों पर दोष मढ़ें- 'निज भ्रम नहिं समुझहिं, प्रभु पर दोष धरहिं जड़ प्राणी।'।

## धार्मिक बुंदेली गाथाएँ

डॉ. सीमा तिवारी

भारत के सर्वाधिक प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद में नाराशंसी गाथाओं के कुछ संवादों और सूक्तों में गाथाओं का प्राचीनतम रूप दिखाई देता है। ये गाथाएँ मौखिक रूप में होने के कारण कुछ विकृत होकर और कुछ परिवर्तित होकर आज भी प्रचलित हैं। इनमें गेय तत्त्व का प्राधान्य है। इसलिए इसमें लोकसंगीत और लोकनृत्य का भी समावेश हो गया है। धीरे-धीरे वही वैदिक और पौराणिक गाथाएँ लोकसंगीत और लोकभाषा का बाना पहिनकर आज हमारे समक्ष विद्यमान हैं। इनमें इतिहास और कल्पना का मिश्रण है, किंतु इनकी मूलाधारी भित्ति इतिहास, पुराण या वेद ही होती है। ये गाथाएँ प्रायः गेय और पद्य-बद्ध होती हैं। इनके रचनाकारों का पता नहीं होता है। ये प्रायः मौखिक रूप में एक कंठ से दूसरे कंठ पहुँचकर आज तक जीवित हैं।

गाथाओं की उत्पत्ति एवं नामकरण के संबंध में विचार व्यक्त करते हुए डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय ने अपने ग्रंथ में लिखा है— वैदिक साहित्य में गायन शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के लिये किया जाता है, जो किसी प्राचीन आख्यान या कथा कहने वाला हो। अतः गाथा शब्द का अर्थ हुआ – कोई आख्यान या कथा। ऐसे प्रबंधात्मक गीतों के लिये जिनमें कथानक की प्रधानता के साथ ही गेयता भी विद्यमान हो उसे लोकगाथा कहना उचित है।

भगवान कृष्ण की लीलाभूमि ब्रज एवं भगवान राम की कथा से जुड़े स्थल बुंदेलखण्ड का महत्त्व धर्म की दृष्टि से अग्रणी है। हमारा भारतीय प्राचीन लोकसाहित्य धर्म की दृढ़भित्त पर अवलम्बित है। यहाँ की भोली-भाली जनता धर्म से ओत-प्रोत है। जाति एवं समाज विशेष के धार्मिक आचार विचारों का अध्ययन लोकसाहित्य के द्वारा किया जा सकता है। बुंदेलखण्ड में प्रत्येक मास में किसी न किसी त्योहार और उत्सव का विधान है। पुरुषों की अपेक्षा नारियों में धार्मिक भावना अधिक देखने को मिलती है। इन अवसरों पर प्रायः नारियाँ व्रत या उपवास रखती हैं।

बुंदेलखण्ड का भाद्रपद माह व्रत और उपवास की दृष्टि से विशेष सम्पन्न है। लोग देवी-देवताओं की भक्तिपूर्वक पूजा किया करते हैं, यही कारण है कि लोकगीतों में देवी की अंचरिया और भजन गणेश और सरस्वती वंदना के गीत विशेष लोकप्रिय हैं। लोग बड़े आदर भाव के साथ इनका गायन करते हैं।

बुंदेलखण्ड में कारसदेव की गोटे, देवी के भजन, कार्तिक के गीत बहुत अधिक प्रचलित हैं। बुंदेलखण्ड में लाला हरदौल को देवतुल्य पूजा जाता है, जिनमें ग्राम के धार्मिक क्रियाकलापों और रीति-रिवाजों का वर्णन किया जाता है।

बुंदेलखण्ड की अधिकांश गाथाएँ आदर्श प्रधान हैं। इन गाथाओं में हमारी संस्कृति, आदर्श चरित्र तथा धर्म परायणता के दर्शन मिलते हैं, जैसे- कारसदेव की गाथा, जयदेव की गाथा, हरदौल की गाथा, राजा करन की गाथा, मधुकरशाह और रानी कुंवरि गणेश की गाथा, मथुरावली की गाथा, प्रवीणराय की गाथा, धांदू भगत की गाथा इत्यादि।

लोकगाथाएँ देश की संस्कृति एवं सभ्यता की अग्रदूत हैं। इनसे देश की ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, भौगोलिक एवं राजनीतिक अवस्था का परिचय प्राप्त होता है। कुछ गाथाओं में भक्ति भावना का ही आधिक्य है, जैसे कारसदेव की गाथा में ऐलादी की साधना, कारस का अवतरण और उनके चमत्कार धार्मिकता को व्यक्त करते हैं। ऐलादी बारह वर्ष तक कठोर तपस्या करती है, तब भगवान शिव की कृपा से उसे कारस जैसा भाई प्राप्त होता है। गाथाकार ने व्यक्त करते हुए कहा है-

बारह वर्ष तपिया तपी, करे न अन्न अहार।  
सरनी गई असनान खाँ अहेले तला के पार।  
एक समय ऐसे लगे दियला जले हजार।  
कमल पे पोढ़ो राजकुमार।

जगदेव की गाथा एक विस्तृत लोकगाथा है। राजा जगदेव देवी जी का परम भक्त थे। उन्होंने आराधना करते हुये अपना शीश काटकर माँ के चरणों में अर्पित कर दिया था। माँ की कृपा से उनके धड़ में नवीन सिर उत्पन्न हो गया। सारे बुंदेलखण्ड में यह लोक गाथा नवरात्रि के अवसर पर ढोलक-नगड़िया के स्वर के साथ गाई जाती है और अंत में कहा जाता है- राजा जगत के मामले हो माय।

गाथा में जगदेव के बलिदान का एक दृश्य प्रस्तुत है-

घरियक बिलम्ब करो मोरी मइया,  
मैं गंगा अस्नान कर आंव हो।  
सपरखोर ठांडी भई रनिया,  
पहरे लहर पटोर हो माय।  
सिर पर तिलक तिलक पर बेंदी,  
नैना करे रतनार हो माय।  
ऐच खड़ग रानी माथों उतारत,  
देवी ने गैलई बांह हो माय।

लाला हरदौल बुंदेलखण्ड की बहुत अधिक लोकप्रिय गाथा है। देवर-भाभी का आदर्श और निश्चल प्रेम आज के अमर्यादित समाज के लिये मार्गदर्शन एवं प्रेरणास्पद है। अपने पुत्रवत देवर को विषमिश्रित भोजन कराते समय भाभी को अपनी छाती पर पत्थर रखना पड़ा था। देवर हरदौल अपनी आन-बान और शान की रक्षा के लिये प्रसन्नता पूर्वक विषमिश्रित भोजन करके अपने प्राण त्याग देते हैं। गाथाकार ने व्यक्त करते हुये कहा है -

विष को कौर बिना कयें खा लयो, बात बड़े की मानी।  
अमर करो फिर भारत भर में, बुंदेलन को पानी।  
इतनी केकें उड़ गये सुनके, रो रये चिरई चरेरू।

मथुरावली की गाथा संपूर्ण भारतीय नारी समाज के लिये अनुकरणीय है। वह डोली में बैठकर ससुराल जा रही थी। मार्ग में मुगल आक्रामकों ने उसका अपहरण कर लिया, उसने अपने नारीत्व की रक्षा के लिये तम्बू में आग लगाकर अपने प्राण त्याग दिये। उसने बहाना करते हुये मुगल से कहा कि -

जा रे मुगला पानी भर ला, प्यासी मरे मथुरावली।  
जोलो मुगला पानी खों गओ, तम्बू में दे लई आग।  
ठांडी जरे मथुरावली।

उसके पति को अपार दुख हुआ, किंतु उसके भाई को प्रसन्नता हुई, उसने कहा कि बहिन तू धन्य है, तूने प्राण देकर नारीत्व की रक्षा की है। लोकगाथा में स्पष्ट संकेत है -

रोय चले बाँके बालम विहंस चले बाके वीर।  
राखी बहना पगड़ी की लाज, ठांडी जरे मथुरावली।

हमारे भारतीय समाज में अनेक बलिदानी नारियाँ हुई हैं, लेकिन इस प्रकार की नारियाँ बहुत ही कम दिखाई देती हैं, उन्होंने अपनी मर्यादा और नारीत्व की रक्षा के लिये अपने प्राणों का उत्सर्ग कर दिया। यह गाथा हमारी संस्कृति और सभ्यता की परिचायक है।

बुंदेलखण्ड में अनेक नारियाँ हुई, जिन्होंने पुरुषों के षौरुष को हतप्रभ कर दिया। रानी दुर्गावती, भगवती देवी, महारानी लक्ष्मीबाई, कुसमादेवी, चन्द्रावली, रानी दुर्गावती इत्यादि। जिन्होंने समय-समय पर शौर्य और साहस का परिचय दिया है।

एक गाथा राय प्रवीण से संबंधित है। राय प्रवीण ओरछेश इंद्रजीत के दरबार की नर्तकी थी। वैश्या होते हुए भी उसके अंदर सतियों जैसे गुण थे। वह राजा इंद्रजीत को अपना पति मान चुकी थी। उसे बुंदेली संस्कृति एवं मर्यादा का पूर्ण ज्ञान था। यदि वह चाहती तो शाही दरबार में रहकर धन और यश का पर्याप्त अर्जन कर लेती, किंतु उसे पतिव्रत धर्म का ज्ञान था। उसने बादशाह के प्रस्ताव को ठुकराकर ओरछा में रहना श्रेयस्कर समझा।

ओरछेश मधुकरशाह और रानी कुंवरि गणेश की भक्ति भावना की प्रसिद्धि तो संपूर्ण लोक में प्रसिद्ध है। मधुकरशाह कृष्णभक्त थे रानी रामभक्त। बातों ही बातों दोनों आराध्यों को लेकर विवाद छिड़ गया। राजा ने कहा है कि तुम्हें रामलला यदि इतने अधिक प्यारे हों तो उन्हें ओरछा क्यों नहीं ले आती। रानी को राजा की व्यंग वाणी चुभ गई। उन्होंने कहा कि मैं जब तक अपने रामलला को ओरछा नहीं ले आती, तब तक भोजन नहीं करूँगी। गाथाकार ने इसे स्पष्ट करते हुये कहा है-

*करकैं चली प्रतिज्ञा मन में, धरके ध्यान प्रभु चरनन में।  
जोलों करों नहीं भोजन में, जोलो मंजू मूरत श्रीराम जू की।  
नई पाई धन्न पूरब की कमाई ...।*

मधुकरशाह को बुंदेली संस्कृति पर पूर्ण गर्व था। बादशाह अकबर की आज्ञा का उल्लंघन करते हुये उन्होंने रामानंदी तिलक और गले में माला पहिनना नहीं छोड़ा। बादशाह उनकी धार्मिक कट्टरता पर मुग्ध हो गये। उनकी निर्भीकता और धार्मिकता को देखकर बादशाह ने उनकी प्रशंसा करते हुये कहा-

*आपके नाम से लगाया अब जावेगा।*

*मधुकरशाही यह टीका कहलायेगा।*

बुंदेलखण्ड की लोकगाथाओं की मूलाधार भित्ति धार्मिक ही है। ये गाथाएँ अधिक प्राचीन और धर्म प्रधान है। बुंदेलखण्ड की धर्म प्रधान लोकगाथाएँ भक्त प्रह्लाद, मधुकरशाह, रानी कुंवरि गणेश, कारसदेव की गाथा, जगदेव की गाथा, धाँदू भक्त की गाथा इत्यादि अधिक प्रचलित हैं।

गाथाओं में शैव एवं शाक्त धर्म की अभिव्यक्ति कुछ इस तरह से हुई है -

**शैव**

*शिव समान दाता नहीं, विपत बिड़ारन हार।*

*लज्जा मोरी राखिये, बरधा के असवार।*

*शाक्त पैलऊ सुमरों शारदा माता, दूजे गौर गनेश माँ।*

*तीजे सुमरों सरसुती माता, घर आँगन परदेश माँ।*

बुंदेली गाथाओं में शिव पूजन का उल्लेख मिलता है। इसमें सारंगा सदाव्रत और कारसदेव की गाथा आती है। सूरजगढ़ की गाथा में भी देवासुर संग्राम में शिवजी वृषभ पर आरूढ़ होकर युद्ध के लिये आते हैं।

बुंदेलखण्ड में हरदौल की भांति कारसदेव की पूजा की जाती है। विशेषकर गोपालक, अहीर और गड़रिया जाति के लोग इनकी पूजा हैं। कारसदेव की गाथा अहीर लोग गोट नामक लोकगीत में गाया करते हैं। इसकी लोकध्वनि बड़ी विचित्र होती है। ढाँक नामक लोकवाद्य के साथ इसका गायन किया जाता है। यह बुंदेलखण्ड की एक लोकप्रिय गाथा है। कारसदेव हैहयवंशी राजा अजयपाल के आश्रित और समकालीन थे। हैहयवंश राजपूत काल के अंतर्गत आता है। अतः कारसदेव का समय ग्यारवीं-बारहवीं सदी मध्य अनुमानित है। इसके साथ हीरामन का भी नाम आता है।

ऐसा कहा जाता है कि ये हीरामान के साथ गायें चराया करते थे। उनका जन्म गाथा के अनुसार झांझ नामक ग्राम में एक गूजर के घर हुआ था। उनकी माता का नाम सरनी और बहिन का

नाम ऐलादी था। ऐलादी ने भाई की इच्छा से भगवान शंकर की बारह वर्ष तपस्या की थी। शंकर जी की कृपा से सरोवर में स्नान करते समय कमल पर लेटे हुये एक राजकुमार को प्राप्त किया था। गाथाकार ने इस घटना का संकेत करते हुए कहा है-

बारह वर्ष तपिया तपी करे, न अन्न अहार।  
सरनी गई असनान खां, अहेले तला के पार।  
सौ-सौ दल कमला खिले, भ्रमर रये गुंजार।  
एक कमल पै ऐसे लगे, जैसे दियला जले हजार।  
कमल पै पोढ़ो राजकुमार।  
उठा सरनी ओली लये, कारस खों पुचकार।  
जप-तप सब पूरन भये, मोरी शिव ने सुनी पुकार।  
कमल पै पोढ़ों राजकुमार।  
सुरजा थके चंदा थके, मां की जोत निहार।  
जनम-जनम को सरनी घर को, मिट गओ सब अधिकार।  
झूलना झूलै राजकुमार, कमल पै पोढ़ों राजकुमार।

कुछ गोटों में कारस की बहिन ऐलादी की तपस्या का वर्णन किया गया है-

जनम से कारसदेव कनइया, पतो भेद काउए नइया।  
ऐलादी ने बारह बरस सेवा कर लई, भोला अडवंगेनाथ की।  
तारी खुली भोला अडवंगेनाथ की, आज को मांगो पाय।  
ऐलादी ऐसी बीर मांग रई, कुरियाल के चरइया।  
धोरी के रखबइया।  
सूरजपाल के भइया, जेठी बल पाय।

शंकर जी ने प्रसन्न होकर ऐलादी से कहा-

गूजर की बिटियाँ तैने मोसैं मांग लये अटपटे वरदान।  
जा आजई को मांगो पाय।  
इतने बचना सुन लये भोले अडवंगेनाथ के।  
बदलत आ रई ती अपने घरई द्वार।  
बिटिया घर-घर बुलैवा दै रई, माना सी झांझ।  
ओ बाई बैनी हो कातक अनालो सीते सी पार।

राजा गडुवाढार की बेटा जमदेव का सौन्दर्यवृत्त सुनकर कारस उसे प्राप्त करने के लिये लालायित हो गये। माता ने समझाया

कि बेटा बांगर जाने की बात छोड़ दो। अभी तुम वहाँ जाने योग्य नहीं हो, लेकिन कारस के हठ करने पर माता उन्हें बांगर जाने की आज्ञा दे देती हैं।

आज्ञा प्राप्त करते ही कारस घोड़े पर चढ़कर चल दिये। गाथाकार ने उनके उत्साह का वर्णन करते हुये कहा है-

पांच परिक्रमा बछेरा खों दै दये,  
उचट के हो गये बछेरा पे सवार।  
तोरे बल भरोसे जा रये बछेरा, बांगर सी बैर भूमि खों।  
बछेरा कारस वीरन खों समझा रये, के ऐसे झुला दओ  
जैसे सरनी झुलाये पलना मझार।

कारस जमदेव का अपहरण करके झांझ ग्राम में ले जाते हैं। राजा गडुवाढार इस समाचार को सुनकर बहुत क्रोधित हो जाते हैं और वे कारस को मारने का उपाय सोचने लगते हैं। इस संबंध में गाथाकार ने कहा है-

बामुन के बारे में चुरियां खरीद लई, धर लओ चुरेरे को भेष।  
चुरियन के पसारे धर लये मूट मझार।  
बदलत जा रये माना सी झांझ में माना सी झांझ में।  
की खोरन में लम्मी दे रये आवाज अरे बाई बेनियां।  
हो चुरियां तो पैर लौ बड़े भारी मोल की।  
सरनी माता भीतर से बाहर कड़ आई समजा रई चुरेरे को।  
बेन ऐलादी चुरेरे को समजा रई।  
मोरे कारस खों पैर में पद्म उर माथे पे चनुमा होय।  
जिनके बछेरा उड़ आसमान खों जाये जीको मरवइया।  
नइयां कोनऊ लोक में, इतने वचना चुरेरे ने सुन लये।

ऐसा प्रतीत होता है कि यह गाथा इतिहास की आधार भूमि पर ही निर्मित हुई है।

### शाक्त

बुंदेली गाथाओं में शक्ति उपासना की प्रधानता है। धांदू भगत की गाथा, सूरजगढ़ की गाथा, सुरहिन गाथा, जगदेव की गाथा, जगदेव परमार की देवी भक्ति की यशोगाथा है। कुछ विद्वान इसे पवाड़ा भी कहते हैं। जगदेव की गाथा वीररस परक तथा भक्ति परक दोनों तरह की है।

जगदेव की गाथा के अनुसार राजा उदयाजीत निःसंतान थे। उन्होंने देवी की तपस्या की और देवी ने वरदान स्वरूप उन्हें दो पुत्र दिये। एक जगदेव तथा दूसरा रंधौर। जगदेव बाल्यकाल से ही देवी का भक्त था। उनके वैराग्य भाव को देखकर राजा उदयाजीत ने रंधौर को राज्य सौंप दिया। राजा रंधौर के दुर्व्यवहार से असंतुष्ट होकर जगदेव भोज नगरी में राजा भोज के यहाँ नौकरी करने लगे। उन दिनों उनका छोटा भाई रंधौर धारा नगरी में राज्य कर रहा था। इसी बीच धारा नगरी में विदेशी शत्रुओं ने आक्रमण कर दिया। रंधौर अकेला था, वह घबड़ा गया और उसने अपने चचेरे भाई चनुभाट को जगदेव को खोजने के लिये भेजा। कुछ दिन बाद जगदेव चनुभाट को मिल गया और उन्हें अपने राज्य पर आने वाले संकट का हाल सुनाया। यह सुनते ही जगदेव धारा नगरी को चल दिये। वहाँ पहुँचते ही सबसे पहले दोनों भाई देवी के मंदिर में पहुँचे और देवी की पूजा-अर्चना करते हुए कहने लगे-

मैया अबकी लाज मोरी राखियो हो माँय ।  
 सुरहन गरु के मैया गोबर मंगाये ।  
 ढिगधर अंगन लिपाय हो माँय ।  
 मुतियन के मइया चौक पुरवाये ।  
 कंचन कलश धराये हो माँय ।  
 गोबर की धारा नगरी बनाई ।  
 जगदेव भये रखवार हो माँय ।

जगदेव देवी का परमभक्त तो था ही। वह देवीजी की आज्ञानुसार अपना शीश काटकर चढ़ा देता था। गाथाकार ने भक्तिभाव का वर्णन करते हुये कहा है-

मैं पूछो जगदेव की रनियों, जगदेव शीश मंगाये हो माँय ।  
 धरियक विलम करियो मोई माता,  
 गंगा के जल में करे अस्नान हो माँय ।  
 सपर-खोर ठाड़े भये जगदेव, पीताम्बर पहराय हो माँय ।  
 सिर पर तिलक-तिलक पर कलगी, नैना करे रतनार हो माँय ।  
 ऐंच खड्ग जगदेव माथो उतारो, धर दये थार मंझार हो माँय ।

देवीजी ने जब रानी को जगदेव का शीश लौटाना चाहा, तब रानी ने कहा- मैं दिया हुआ दान वापिस नहीं लेना चाहती।

तब देवी ने प्रसन्न होकर अपनी छिंगुरी चीरकर जगदेव के धड़ पर छिड़क दी, जगदेव जय काली-जय काली कहता हुआ उठ खड़ा हुआ और सीधा देवीजी के चरणों में जा गिरा। तब देवी जी ने उसे उठाते हुये वरदान दिया कि सदा विजयी रहो मेरे लाल।

यह पवारा बहुत ही विस्तृत है। यह नवरात्रि के अवसर पर गाया जाता है। यह बुन्देलखण्ड की संभवतः सबसे विस्तृत गाथा है।

धांदू भगत की गाथा देवी परक है। इसमें धांदू की माँ को देवी द्वारा पुत्र होने का वरदान दिया गया है। परिणामस्वरूप धांदू का जन्म हुआ, फिर शैशव और बाद में उसकी देवी भक्ति का वर्णन है। गायेँ चराना तथा देवी के गुणगान करना ही धांदू की दिनचर्या थी। जब गाँव के सब लोग देवी के दर्शनों के लिये जाते हैं और धांदू नहीं जाते, तो देवी ने लंगुरे को भेजा। धांदू देवी दर्शन हेतु जाते हैं। वे घर-गाँव वालों से मिल-भेंटकर जाते हैं। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि सभी भक्तगण देवी को कुछ न कुछ भेंट चढ़ा रहे हैं। इनके पास चढ़ाने को कुछ भी नहीं रहता, तो धांदू अपना शीश काटकर देवी को अर्पित कर देते हैं। गाथाकार ने धांदू की देवी भक्ति का वर्णन करते हुए कहा है-

कोऊ चढ़ावे ध्वजा नारियल, कोऊ सुपारी पान मां ।  
 धांदू भगतिया भोरे-भारे, धांदू कछु ने देय मां ।  
 हँस-हँस पूछे देवी जालपा, काहो भेंट ले आये मां ।  
 धांदू भगतिया शीश उतारे, लैलो हमारी भेंट मां ।  
 सबरे भगतिया घर खों लौटे, धांदू भगत ने आये मां ।  
 घर-घर पूछे धांदू की रनियां, मोरे पति ने आये मां ।  
 धांदू भगतिया सीदे-सादे, दे दय शीश चढ़ाये मां ।

जब गाँव के सब लोग घर पहुँचते हैं और धांदू नहीं पहुँचते तो उनकी दुल्हन बड़ी चिंतित हो जाती है और वह सबसे पूछने जाती है। उन्हें विदित होता है कि उनके पति ने देवी माता को अपना शीश चढ़ा दिया। तो वे भी देवी के पास जाती हैं। देवी उनसे पूछती हैं कि तुम मेरे लिये क्या भेंट लाई हो? वे देवी से कहती हैं कि पहली भेंट तो मेरे पति ने अपना सिर काटकर दे दी और दूसरी भेंट मैं अपना सिर काटकर आपको चढ़ा रही हूँ। इस पर देवी ने उसे समझाया और कहा कि अपने पति के सिर को

धड़ से मिला दो फिर देवी ने अमृत छिड़कर धांदू को जीवित कर दिया। सब भक्तगण देवी का जयकारा लगाते हैं।

देवी भागवत में देवासुर संग्राम का चित्रण है और उसी प्रसंग का एक अंश बुंदेलखण्ड की सूरजगढ़ की गाथा में देवी गीत या भगतों के रूप में गायी जाती है।

एक समय समुद्र के किनारे विशाल मंदिरनुमा मठ बना था। इसमें एक विकराल दानव था। वह मायावी अपनी माया से इतना विकराल रूप धारण कर लेता था कि समूची पृथ्वी तथा आकाश को ढंक लेता था। उस राक्षस की गतिविधियों से मानव की तो बात क्या, देवतागण भी भय मानते थे। उसकी आसुरी शक्ति के भय से भयभीत देवतागण प्रभु श्रीराम के समक्ष गये, उनसे कहा कि हमें राक्षस से निजात दिलवायें। श्रीराम ने आदिशक्ति माँ दुर्गा देवी को उस राक्षस को समाप्त करने के लिये आमंत्रित किया। एक साफ-सुथरे चबूतरे को लिपवाया-पुतवाया गया। चबूतरा कदंब के वृक्ष के नीचे बना। उस पर सात देवियाँ विराजमान थी। उसी समय श्रीराम का पत्र उनके समक्ष रखा गया। पत्र को पढ़ने के पश्चात् देवी मुस्कराने लगी, उसके रहस्य को जानने के लिये जालपा ने देवी से पूछा कि किसका पत्र है, क्या लिखा है। देवी ने कहा- मायावी उत्पात मचा रहा है, उसी से मुक्ति पाने के लिये देवताओं ने हमें बुलाया है, वह महिषासुर नाम का दानव इतना बलशाली है और वह राजाराम से युद्ध करने के लिये आतुर है। देवी दुर्गा ने कहा कि तुम कजलीवन से मेरे सिंह ले आओ।

लंगड़े कजलीवन सिंह लेने के लिये जाते हैं, लेकिन उस राक्षस की माया से कजलीवन में अंधेरा छा जाता है और वे डरकर देवी के समक्ष आ जाते हैं। उसके पश्चात् देवी कजलीवन सिंह लेने को जाती हैं और सात सिंह लेकर लौटती हैं। उन्होंने दो सिंह अपने भवन में रखे और बाकी को वापस भेज दिया। तत्पश्चात् देवी ने लंगड़े से कहा कि मेरे वाहन सिंह को तैयार कर दो उस पर पाखर आदि डाल दो। लंगड़े ने पूछा कि किस सिंह पर पाखर डालूँ तथा किस पर ध्वजा लगाऊँ। देवी ने कहा कि भूरे रंग के सिंह पर पाखर डाल दो तथा हंसा सिंह पर ध्वजा लगा दो। आपके सिंह की जीनें आदि कहाँ रखीं हैं तथा कहाँ पर कमर पट्टे हैं। आले में जीन तथा घुल्ले पर कमरपट्टा टंगे है। सिंह की पीठ पर डाले गये वस्त्र काहे के बने हैं तथा कमरपट्टा किसका

बना है? हरे रंग के कुसुम की जीन तथा कमरपट्टा स्वर्ण का बना है। कौन आपके सिंह को हाँकेगा तथा कौन उसकी लगाम थामकर चलेगा। वीर हनुमान तो सिंह को हांक रहे हैं तथा लंगड़े उसकी लगाम थामें हैं।

लेकिन यह क्या, सिंह के चलते ही छींक हुई, अर्थात् अपशुन हो गया। सबने उन्हें जाने से रोका, लेकिन वे तो सिंह पर आरूढ़ हो गईं। माँ सिंह पर सवार हैं तथा लंगड़े आगे-आगे लगाम थामें चल रहे हैं। दुर्गे अपने सिंह नचाते हुये चल रही हैं तथा श्रीराम के दरबार तक पहुँच गईं हैं। जैसे ही श्रीराम ने माँ दुर्गे को भरी सभा में वेग से आते हुए देखा तो वे उनके स्वागत के लिए खड़े हो गये। श्रीराम ने झुककर देवी के चरण स्पर्श किये। उनके चरण शीतल जल से धुलवाये तथा उनको बैठने के लिये चंदन की चौकी डाली गई। आदिशक्ति माँ दुर्गे ने बैठते ही श्रीराम से पूछा कि ऐसा कौन-सा संकट आ पड़ा है, जिससे मुझे बुलाया गया? श्रीराम ने कहा कि समुद्र के किनारे एक मंदिरनुमा सुरई है। उसमें एक दानव रहता है तथा वह इतना बड़ा मायावी है कि उसकी माया से उसके पैर धरती में हैं, तो सिर आकाश में है। इसी दानव से मुक्ति दिलाने हेतु आपको बुलवाया है। श्रीराम ने कहा कि वह दानव मुझसे ही रार बढ़ाने के लिये यहाँ आया है।

तत्पश्चात् श्रीराम ने अपने सभा भवन को विशेष रूप से सुसज्जित करके समस्त देवताओं की सभा बुलवाई, फिर सभा के बीचों बीच एक स्थान पर कलश स्थापित करवाकर उस पर पाँच पान का बीड़ा रखवाया, जिसे महिषासुर को मारने वाले को ही उठाना था। समस्त देवताओं की सभा में कोई भी देवता उस बीड़े को नहीं उठा पाया। सब एक दूसरे का मुँह ताक रहे थे, उस बीड़े को उठाने का साहस शायद किसी में नहीं था। सबको विदित था कि यह बीड़ा महिषासुर को मारने वाला ही उठायेगा। इस वजह से सब शांत बैठे थे।

अंत में दुर्गा देवी लंगड़े के साथ आई और बीड़ा उठा लिया। युद्ध के लिये समस्त देवता अपने-अपने वाहन पर आरूढ़ हो गये। श्रीराम अपने रथ पर सवार हुये। अनुज लक्ष्मण नीली घोड़ी पर सवार हुये। देवाधिदेव महादेव अपने नंदी पर बैठकर आये तथा क्षीरसागरवासी श्री विष्णु अपने वाहन गरूड़ पर बैठकर आये। ब्रह्मा हंस पर तथा सिद्धि विनायक गणेश चूहे पर बैठकर

शामिल हुये। इनके अलावा पाँचों पाण्डव अपनी धर्म रूपा ध्वजा लेकर आये। देवी की चौसठ योगिनियाँ भी अपने हाथों में खप्पर लेकर आयीं। ये समस्त देवी-देवता महिषासुर से संग्राम हेतु संध्या को ही एकत्रित हो गये। उस राक्षस के द्वार पर सायं से पूरी रात्रि व्यतीत हो गई। ब्रह्ममुहूर्त में ही देवताओं की सेना ने सूरजगढ़ को घेर लिया। वहाँ कुछ इस तरह की घेराबंदी हुई कि कोई भी बाहर नहीं जा सकता था। लेकिन राक्षस का गण स्वान देव सेना को देखकर अपने स्वामी महिषासुर के समक्ष उपस्थित हो गया। अपने स्वामी से बोला कि आप सोते हैं या जागते हैं? अरे! आपसे संग्राम हेतु देव सेना आतुर है। महिषासुर ने कहा कि सेना हमसे युद्ध हेतु आई है- तो भली आई, लेकिन तुम उन सबका यथोचित स्वागत-सम्मान करो। आदिशक्ति माँ दुर्गे का कैसा रंग है, वे किस वाहन पर आई? उनके शरीर का वर्ण सांवल्ला है, वे सिंह पर सवार हैं। उधर महिषासुर भी देवताओं से युद्ध के लिये सुसज्जित होकर आ गया। स्वान ने देवी के समक्ष जाकर कह सुनाया कि महिषासुर युद्ध हेतु आया है। देवी जी ने कहा कि उसका सम्मान करो। दानव किस वर्ण का है? वह किस वाहन पर आरूढ़ है? दानव का वर्ण रक्तवर्ण है, वह भैंसे पर बैठकर आया है।

महिषासुर ने रणक्षेत्र में आकर गर्जना की। उसकी गर्जना सुनकर समस्त देवता भयभीत हो गये। दानव की गर्जना से उसके मुँह से अग्नि की लपटें निकल रहीं थीं। उस मायावी की माया से समस्त देवतागण अपने-अपने वाहनों पर सवार होकर भागने लगे। राम-लक्ष्मण, शिव-गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, चौंसठ योगिनी, पाण्डव तथा लंगड़े समस्त देवताओं की सेना भाग गयी। सेना में मात्र आदिशक्ति माँ दुर्गा ही थीं, जो दानव से युद्ध लड़ने के लिये आतुर थी। देवी की गर्जना से मूसलाधार वर्षा होने लगी। देवी इतनी ज्यादा क्रोध में थीं कि उनका वर्ण श्याम हो गया। दानव ने देवी का भयंकर रूप देखा तो वह भयभीत होकर भाग गया। दानव जाकर समुद्र में छिप गया। दुर्गा देवी दानव के पीछे-पीछे गईं। उसको समुद्र में छिपते देखा तो उन्होंने समुद्र से पूछा कि मेरा दुश्मन कहाँ छुपा है। समुद्र ने कहा कि मुझे इसकी जानकारी नहीं है। गुस्से में आकर देवी ने समुद्र का समस्त जल दो अंजुली में पी लिया। समुद्र का समस्त जल सूख गया, वहाँ धूल उड़ने लगी। सारे जीव-जन्तु व्याकुल होने लगे। इधर महिषासुर दानव

बाहर निकल आया। देवी और दानव के बीच में भयानक युद्ध छिड़ गया। अंत में त्रिशूल से देवी ने दानव के शीश को काट दिया। दानव पछाड़ खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ा, दानव निष्प्राण हो गया। समस्त देवताओं ने देवी दुर्गा पर पुष्पवृष्टि की। देवी के ये चरित पंच भगत गाते हैं। माँ हिंगलाज की जय हो। हे माँ! हम देवतागण आपकी स्तुति करते हैं, आप सबकी रक्षा करें।

सिंह-सुरहिन चरित गाथा देवी गीतों के रूप में नवरात्रि के अवसर पर गायी जाती है। सिंह-सुरहिन लोकगाथा में बुंदेली संस्कृति का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। घनघोर जंगल के बीच में चरती हुई गाय को देखकर सिंह उस पर हमला करना ही चाहता है, उसे देखते ही गाय उससे निवेदन करती है कि मेरा छोटा सा बछड़ा घर पर भूखा बंधा है। आप मुझे छोड़ दीजिये, मैं उसे दूध पिलाकर शीघ्र ही लौट आऊँगी, तब आप मुझे खा लेना। सिंह उससे पूछता है कि यदि तू लौटकर नहीं आई तो क्या होगा? तेरा साक्षी कौन है? गाय कहती है कि चंदा-सूरज ही मेरे साक्षी हैं। तब सिंह गाय को छोड़ देता है। गाय बछड़े को सब हाल सुनाती है। बछड़ा फिर दूध नहीं पीता और अपनी माँ के आगे-आगे जंगल के लिये चल देता है। बछड़ा सिंह को मामा कहकर संबोधित करता है और सिंह से कहता है कि-

*आव मोरे मामा मोखों खालो, पाछे मां खों खाओ हो मां।  
माता बिन मैं जियत न रहों, मामा हमाई टेक हो माँय।  
इकके बदले दोई जान खालो, पूरो हुये अहार हो माँय।  
मामई के हांतन मौत लिखी जब, मोरो हुइये उद्धार हो माँय।*

यह सुनकर सिंह द्रवित हो गया और उसने उन दोनों को निर्भय होकर जंगल में चरने का वरदान दे दिया। वह अपनी बहन और भानजे को कैसे खा सकता है। वे दोनों तो उसके लिये अब पूज्य बन गये थे।

आल्हा-ऊदल माँ शक्ति के आराधक होने के साथ-साथ मनियादेव को भी अपना इष्ट मानते थे। उनकी भक्ति भावना तो प्रसिद्ध है। आज भी नगर महोबे में कीरत सागर के किनारे मनियादेव का जीर्ण-शीर्ण मंदिर उनकी आराधना का साक्ष्य प्रस्तुत कर रहा है। कहा जाता है कि मनियादेव उनके कुल देवता थे। आल्हा के विवाह की तैयारी हो रही है, गणेशजी का पूजन कर सिर पर मोर बांधा जा रहा है। वे दूल्हा बन रहे हैं-



श्री गणेश जी की पूजा करके आल्हा खों दयो मोर बंधाय ।  
बांदो मोर बनायो बन्ना, नारी मंगल गान सुनाय ।

नेपाली राजा की पुत्री राजकुमारी सुनमा विवाह के पूर्व देवी जी के मंदिर में जाकर पूजा करती है ओर निर्विघ्न विवाह सम्पन्न कराने हेतु प्रार्थना करके वरदान मांगती है -

सपनाक दयो रात देवी ने, मढ़ पर ढोल देव पहुँचाय ।  
जो न भेजो अमर ढोल को, सारो राज नष्ट हो जाय ।  
ऐसो सपनो सुनिकै भैया, राजा गयो सनाका खाय ।  
कहन लगो बेटी सुनमा से, उनखों अपने हिये लगाय ।  
अमर ढोल लै जात लाड़ली, आवो देवी खों दिखलाय ।  
पूजा कीन्ही जग जननी की, बेटी बोली वचन सुनाय ।  
जग जननी मैं सुता तुमारी, सेवा करो चरण सिर नाय ।  
देव वरदान हमें हे माता, मोय वर मिले बनाफर राय ।

उस समय के समस्त वीर शौर्य की साक्षात् मूर्ति होते हुए परम भक्त भी थे। भक्ति शौर्य का इतना सुंदर समन्वय अन्यत्र दुर्लभ है।

बुंदेलखण्ड धर्म प्रधान देश है। यहाँ के लोक साहित्य में राजनैतिक एवं आर्थिक समस्याओं से अधिक धर्म पर विचार किया जाता है। इसकी अभिव्यक्ति गाथाओं में हुई है। गाथाओं में अनेक देवी-देवताओं के नामों का उल्लेख मिलता है।

संत कबीर, भक्त रैदास की लोक गाथा मानव मन में आध्यात्मिकता उत्पन्न कर सकती है। प्रहलाद और ध्रुव चरित्र

आज के युवकों को प्रेरणा प्रदान कर सकते हैं। कारसदेव की गाथा, मधुकरशाह और रानी कुंवरि गणेश की गाथा में धार्मिक कट्टरता देखने को मिलती है। अगर मनुष्य चाहे तो क्या नहीं कर सकता? लगन और कठोर परिश्रम से मनुष्य जीवन में सुख और शांति प्राप्त कर सकता है। लाला हरदौल की गाथा आज के अमर्यादित समाज के लिये प्रेरणा प्रदान कर सकती है।

बुंदेलखण्ड की गाथाएँ हमारी सभ्यता एवं संस्कृति की अग्रदूत हैं। इसमें संस्कृति की स्पष्ट झलक देखने को मिलती है। कहीं-कहीं इनमें परोपकार की भावना भी देखने को मिलती है। कहीं-कहीं पर इन गाथाओं में शौर्य, साहस और त्याग का भी मूर्त रूप दिखाई देता है।

बुंदेलखण्ड में मनाये जाने वाले व्रत और त्योहार धार्मिक भावना से ओत-प्रोत हैं। धर्म और नीति की शिक्षा देने के लिये इन गाथाओं का बड़ा महत्त्व होता है।

मानव जीवन के हर क्षेत्र में धर्म के दर्शन होते हैं। भारतीय संस्कृति और समाज में धर्म का ही स्वर सुनायी देता है। बुंदेलखण्ड में देवी पूजन उनसे संबंधित अनेक गीत और भजन गाये जाते हैं। इस क्षेत्र के संस्कार, त्योहार और उत्सव धार्मिकता से जुड़े हुये हैं।

लोक गाथाएँ आज भी लोक में बड़े चाव से गायी और सुनायी जाती हैं। क्योंकि इनसे जन साधारण के सुख-दुख का, आशा-निराशा तथा हर्ष-विषाद का सम्यक चित्रण उपलब्ध होता है।

संदर्भ -

ग्राम साहित्य / डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय  
चौमासा अंक 36 / डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त  
चौमासा अंक 22 / श्री वीरेन्द्र द्विवेदी  
हरदौल की गाथा / डॉ. ओमप्रकाश चौबे  
मथुरावली / डॉ. बलभद्र तिवारी  
मधुकरशाह को साको / डॉ. बलभद्र तिवारी  
धांदू भगत की गाथा / डॉ. ओमप्रकाश चौबे  
सुरहिन गाथा / डॉ. बलभद्र तिवारी  
आल्हा का विवाह / श्री मटरूलाल अत्तार

## लोक में कबीर

डॉ. हरप्रसाद शर्मा

अजातशत्रु युधिष्ठिर ने अश्वमेघ यज्ञ पूर्ण होने पर व्यासजी को दक्षिणा देने के उद्देश्य से कहा कि -

देव दक्षिणा वेद विधाना । उर मम सकुच करहुँ का दाना ॥  
मही स्वर्ण पातालहु मांही । मुनिवर योग्य वस्तु कछु नाहीं ॥  
तदपि उदधि लागि भारत सारा । असुर ध्वंसि जेहि हरि उद्धारा ॥  
दीन्ह मोहिं पुनि जो भगवाना । करत प्रभुहिं मैं सोइ प्रदामा ॥  
यज्ञ दक्षिणा तेहिं निज मानी । स्वीकारहु मोहिं सेवक जानी ॥  
दास और का भेंट चढ़ावहिं । कृष्णदीन्ह सो कृष्णाहिं पावहिं ॥  
जदपि तुच्छ उपहार यह स्वीकारहु मुनिनाथ ।  
अस भाषत नरपति गहेउ, वारि पाय निज हाथ ॥

तब व्यासजी ने चकित होकर कहा कि -

त्यागमूर्ति तुम धर्म भुंआला । दानहु हृदय समान विशाला ॥  
तदपि गुनहु नृप निज मन माहीं । जन शासन हित मुनिजन नाहीं ॥  
जनमन पै स्वामित्व हमारा । जनतन पै अधिकार तुम्हारा ॥  
परूषवृत्ति आश्रित तन शासन । मृदुताते शासन हम जनमन ॥

सिरजे जनतन राज्यहित, विधि आयुध धनु बाण।  
मनोराज हित हमलहे, श्रुति साहित्य पुराज ॥ वही ॥

- कृष्णायन/आरोहरणकांड/115

उक्त प्रसंग से संतों का वैशिष्ट्य स्पष्टतः परिलक्षित होता है। चक्रवर्ती सम्राट भी संतों के सामने अपने को अकिंचन मानता है और संत संसार की समस्त भौतिक संपदा की ओर अभिमुख न होकर, त्यागमूर्ति होते हुए भी अपने ज्ञान, त्याग, आचरण, शिक्षा और परोपकार के बल पर जनता की श्रद्धा का भाजन बनता है और जनमन पर शासन करता है। जनता के हृदय में उसकी वह छवि अंकित हो जाती है कि पीढ़ी दर पीढ़ी शाश्वत बनी रहती है।

कबीर, सूर, तुलसी, नानक, मीरा आदि संत इसी कोटि के हैं, जिन्होंने राजनैतिक रूप से पराधीन भारत में रहते हुए भी जनमन पर शासन किया। अपने जीवन काल में तो शासन किया ही, ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है त्यों-त्यों उनके प्रभाव क्षेत्र में प्रगाढ़ता एवं लोकविस्तार में वृद्धि होती जाती है। वे अपने समय में जितने प्रासंगिक थे, उससे अधिक आज होते जा रहे हैं। यही कारण ही कि उनके उपदेश लोकजीवन में और अधिक प्रचार-प्रसार पाते जा रहे हैं। स्थानीय पुट पाकर उनके उपदेशों में, उनकी वाणियों में किंचित परिवर्तन भी हो जाता है, जो स्थानीयता की दृष्टि से अधिक हृदयग्राही हो जाता है।

महात्मा कबीर के ऐसे ही लोकव्यापी साहित्य को संकलित करने का प्रयास 'लोक में कबीर' नामक पुस्तक में किया गया है।

इस पुस्तक पर चर्चा करने के पहले ऊपर संतों के बारे में जो सामान्य में बात कही गई है, उसको कबीर के विशेष संदर्भ में देख लेना भी आवश्यक है, जिससे उनका आभा मंडल अधिक उद्दीप्त हो गया है। तत्कालीन पृष्ठभूमि की चर्चा करते हुए आचार्य पं. रामचंद्र शुक्ल लिखते हैं कि इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर ने ठीक मौके पर जनता के उस बड़े भाग को संभाला जो नाथपंथियों के प्रभाव से प्रेमभाव और रस से शून्य और सुस्त पड़ता जा रहा था। उनके द्वारा यह बहुत ही आवश्यक कार्य हुआ, इसके साथ ही मनुष्यत्व की सामान्य भावना को आगे करके निम्न श्रेणी की जनता में उन्होंने आत्मगौरव का भाव जगाया और भक्ति के ऊँचे से ऊँचे सोपन की ओर बढ़ने के लिए बढ़ावा दिया। उनका

निर्गुण पंथ चल निकला, जिसमें नानक, दादू, मलूकदास आदि अनेक संत हुए।

इस निर्गुण पंथ की ओर ले जाने वाली सबसे पहली प्रवृत्ति जो लक्षित हुई, वह ऊँच-नीच और जाति-पांति के भाव का त्याग और ईश्वर की भक्ति के लिए मनुष्य मात्र के समान अधिकार का स्वीकार था।

देश भर में पर्यटन करके प्रत्यक्ष देखने से उन्होंने हिन्दू-मुसलमान सबके बीच फैली हुई सामाजिक तथा धार्मिक बुराइयों को त्यागने की आवश्यकता समझी। इस प्रकार व्यवहार में धर्म के जिस रूप के कारण उन दिनों द्वेष-विरोध और संघर्ष चल रहा था, उसके बीच अपनी मति-गति के अनुसार उन्होंने आडम्बर विहीन सरल और सबके लिए सुगम मार्ग दिखलाया, धर्म के नाम पर हो रहे अनाचारों को रोका तथा अपने भीतर छिपे परमात्मा को पाने की चेष्टा करने की प्रेरणा दी। सभी धर्म सिद्धांतों को सार रूप में ग्रहण कर उसे देशकाल के अनुरूप रूप में उपस्थित करना, काशी जैसे धर्म के गढ़ में अपनी बात को बलपूर्वक कहने का साहस रखने वाले स्वतंत्रचेता कबीर से ही हो सकता था। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती समकालीन धार्मिक प्रभावों से प्रेरणा अवश्य ग्रहण की, किंतु किसी चले आ रहे धर्म को ज्यों का त्यों नहीं अपनाया। अपना मार्ग स्वयं निर्धारित किया। वे कहते हैं कि-

पंडित मुल्ला जो लिख दीया,  
छाड़ि चले हम कछू न बीया।  
पाछे लागा जादू था, लोक वेद के साथ।  
आगे थैं सतगुरू मिल्या दीपक दीया हाथ।  
दीपक दीया तेल भरि बाती दर्द अघट्ट।  
पूरा किया विसाहुणा बहुरि न आवउँ हट्ट।

अध्यात्म के साथ ही उनकी वाणी में लोक कल्याण के उद्गार भी यथेष्ट हैं। वे पहले कवि हैं जिन्होंने अध्यात्म की ऊँची उड़ान के साथ लोक व्यवहार की शुद्धता, आचरण की सरलता तथा निष्कपटता पर बल दिया और जीवन की सात्विकता की सार्वजनीन आवश्यकता बतलाई। कबीर के बहुत से दोहों में सामान्य जीवन के अनुभव ऐसे नपे-तुले शब्दों में कहे गये हैं कि वे अब तक सर्वसाधारण के द्वारा लोकोक्ति के रूप में व्यवहृत होते हैं-

निरबल को न सताइए जाकी मोटी हाय।  
मुई खाल की साँस सों लोक भसम है जाय।  
नैना अंतारि आव नू ज्यों हों नैन भुँपैउ।  
ना हों देखीं और को न तुझ देखन देऊँ।

कबीर स्वच्छंद प्रकृति के थे, सब प्रदेशों में घूमते रहते थे तथा सब क्षेत्रों के लोगों से मिलते रहते थे। अतः स्थानीय बोलियों के शब्दों का प्रयोग भी करते थे। इसीलिए उनकी भाषा को सधुक्कड़ी भाषा कहा गया है, क्योंकि उन्होंने सर्वसाधारण के उपयोग में चल रही भाषा को अंगीकार किया और उसके द्वारा अपने उपदेश दिये।

उन्होंने उस विशाल जन समुदाय को अपने ज्ञान का आलोक दिया जो वेद-उपनिषद्, शास्त्र-पुराण आदि से अपरिचित और उनके द्वारा उपलब्ध ज्ञान और उपासना से वंचित या समाज में छोटा समझा जाता था। उन्होंने मुसलमानों के भी उस वर्ग को प्रभावित किया, जो कट्टरता और धर्मांधता को पसंद नहीं करता था और जो संभवतः इस्लाम में दीक्षित होकर भी अपने परंपरागत धार्मिक आदर्शों और सिद्धांतों को छोड़ नहीं पाया था, परन्तु इस्लाम के समता सम्बन्धी नियमों को भी स्वीकार करता था। खानपान, पूजापाठ, रोजा, नमाज, जीव बलि, कुरबानी और बाह्य आचारों की असारता और अनावश्यकता का प्रदर्शन कर उन्होंने जनता को धर्म के आडंबरों से विलग किया। उन्होंने स्वयं ही कबीर पंथ का प्रवर्तन किया, जिसकी काशी, छत्तीसगढ़ आदि में प्रमुख शाखाएँ और अनेक उपशाखाएँ आज तक देश के विविध राज्यों में फैली हुई हैं। उनके सम-सामयिक और परवर्ती अनेक विचारकों ने उन्हीं के दिखलाए पथ का सहारा लेकर अपने-अपने पंथ चलाये। इस प्रकार कबीर के बाद आज तक देश का बहुत बड़ा जन समाज कबीर के बतलाये सिद्धांतों के अनुसार अध्यात्मिक चिन्तन करता आ रहा है, उन्हीं की शैली में रचा साहित्य भी प्रचुर है। वह संतों की विचार परम्परा का पोषण करने में समर्थ हुआ है।

इस पुस्तक में कबीर के या कबीर छापवाले अन्य रचनाकारों के विविध क्षेत्रों में गाये जाने वाले पदों का संकलन किया गया है। इस पुस्तक में 23 अध्याय हैं। विविध क्षेत्रीय विद्वानों, संकलनकर्त्ताओं ने क्षेत्र में गाये जाने वाले कबीर के या कबीर छापवाले अन्य रचनाकारों के पद संकलित किये हैं। सभी ने पदों

के अर्थ दिये हैं, जिससे पदों का अर्थ समझने में सुविधा होती है। कुछ विद्वानों ने संकलन के साथ ही साथ क्षेत्रीय पृष्ठभूमि का अच्छा विवरण दिया है, जो कबीर की लोकप्रियता का सही स्वरूप प्रस्तुत करता है। श्री नर्मदाप्रसाद गुप्त, श्री ओमप्रकाश चौबे, श्री सुरेश पटेल, डॉ. भगवतीलाल पुरोहित, श्री चन्द्रशेखर दुबे, डॉ. भगवती प्रसाद शुक्ल, श्री गोमती प्रसाद विकल, श्री निरंजन महावर, आचार्य आद्याचरण झा, डॉ. महेन्द्र भानावत और मालिनी काले ने संकलन के साथ ही विवेचनात्मक पृष्ठभूमि दी है। श्री नर्मदा प्रसाद गुप्त और श्री निरंजन महावर द्वारा दी गई पृष्ठभूमि बहुत व्यापक है। हर क्षेत्र की ऐसी ही पृष्ठभूमि से पुस्तक और अधिक उपयोगी होती।

पुस्तक में कहीं-कहीं मुद्रण संबंधी त्रुटियाँ खटकती हैं। जैसे- पृष्ठ 72 पर सुरत की जगह सुरवत, पृष्ठ 223 पर ऊखई की जगह अरवई, पृष्ठ 238 पर ग्राह की जगह आह छपा हुआ है। ऐसी त्रुटियाँ अनेकत्र हैं, जिन्हें अगले संस्करण में दूर किया जाना आवश्यक है।

इस उपयोगी पुस्तक के संकलन एवं प्रकाशन का विचार कैसे आया, इसका खुलासा संपादक ने प्रारंभ में ही किया है। समग्र संकलन के साररूप में यह भी बताया है कि जब कबीर को परिवारजनों से कुछ कहना होता है, तब 'संत', जब समाज से कुछ कहना होता है तब 'साधु' और जब एकांत साधक से कुछ कहना होता है तब 'अवधूत' संबोधन कर कहते हैं। आत्मानंद कबीर का एक और रूप भी है, जब वे स्वयं से बात करते हैं, कबीर का कबीर से संवाद होता है।

पुस्तक के संकलन एवं प्रकाशन की योजना बहुत ही सराहनीय है। संकलन तथा संपादन में जो दृष्टि अपनाई गई है तथा जो परिश्रम किया गया है, वह बहुत ही संयत एवं सराहनीय है।

पुस्तक साहित्य, समाज, धर्म-लोकगीत तथा लोक प्रवृत्ति की दृष्टि से पठनीय एवं संग्रहणीय है।

समीक्षित कृति -

**लोक में कबीर**

कबीर की छाप वाले निर्गुण भक्ति पद

सम्पादक - कपिल तिवारी

प्रकाशक- आदिवासी लोक कला एवं तुलसी साहित्य अकादमी, भोपाल

मूल्य - 300/- रूपये प्रकाशन वर्ष-2007 पृष्ठ 764

